आयुर्वेदसम्मत पित्तविकार का पर्यालोचनात्मक अध्ययन

Āyuvedasammata Pittavakāra Kā Paryālocanātmaka Adhyayana

(चरक-सुश्रुतसंहिता एवं अष्टाङ्गहृदय के विशेष आलोक में)

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की

पीएच. डी. (विद्यावारिधि) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोधप्रबन्ध

Thesis Submitted to the Jawaharlal Nehru University

In partial fulfillment of the Requirement for the Award of the Degree of

Doctor of Philosophy

2021

शोधनिर्देशक

प्रो० सुधीर कुमार

शोधकर्ता

सतीश कुमार

संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

RECOMMENDATION FORM FOR EVALUATION BY THE EXAMINER/S

CERTIFICATE

This is to certify that the dissertation/thesis titled आयुर्वेदसम्मत पित्तविकारका पर्यालोचनात्मक अध्ययन submitted by Mr/Ms. SATISH KUMAR in partial fulfillment of the requirements for award of degree of M.Phil/M.Tech/Ph.D of Jawaharlal Nehru University, New Delhi, has not been previously submitted in part or in full for any other degree of this university or any other university/institution.

We recommend this thesis/dissertation be placed before the examiners for evaluation for the award of the degree of M.Phil/M.Tech./Ph.D.

23/1/2024

Signature of Supervisor

Dr. Sudhir Kumar Arya
Professor
Special Cetre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

Date:

Signature of Dean/Chairperson

Date: 23/1/2024

Dean
School of Sanskrit And Indic Studi
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

School of Sanskrit and Indic Studies

Jawaharlal Nehru University

New Delhi - 110067

Date ……..

DECLARATION

I declare that the thesis entitled **"आयुर्वेदसम्मत पित्तविकार का पर्यालोचनात्मक अध्ययन"** submitted by me for the award of degree of **"DOCTOR OF PHILOSOPHY (Ph.D)** is an original research work and has not been submitted so far in part or in full, for any other degree or diploma in any other institute or university.

SATISH KUMAR

Research Scholor

School of Sanskrit and Indic Studies

Jawaharlal Nehru University

New Delhi-110067

मंगलाचरण

ॐ नमामि धन्वन्तरिमादिदेवम् ।

सुरासुरवन्दिते पदपद्मम् ॥

लोके जरा-रुक्-भय-मृत्युनाशनम् ।

धतर्मिशं विविधौषधिनाम् ॥

समर्पण

प्रस्तुत

शोधप्रबन्ध

पूजनीय स्वर्गीय दादा जी

के

चरणों में सादर समर्पित

कृतज्ञता ज्ञापन

सर्वप्रथम आयुर्वेद जगत् के ऋषिकल्प आयुर्वेदाचार्य श्री धन्वन्तरिदेव को हृदयस्थ ध्यान करते हुए मेरे प्राणों की आधारभूत, करूणामूर्ति, ममतामयी तथा वात्सल्यस्वरूपा मेरी दादी श्रीमती रामदेई एवं मेरे पूजनीय पिता श्री ईश्वरचन्द एवं माता श्रीमती बीना देवी के चरणों में कोटि-कोटि नमन करता हूँ। माता-पिता के आशीर्वाद, स्नेह, प्ररेणा एवं विश्वास के फलस्वरूप, आज मैं इस योग्य बन पाया हूँ कि उनके लिए दो शब्द लिखने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के प्रणयन में मैं सर्वाधिक ऋणी मेरे परम श्रद्धेय गुरुवर प्रोफेसर सुधीर कुमार आर्य जी का हूँ, जिनके विशिष्ट प्रोत्साहन, परामर्श और पितृतुल्य स्नेह के फलस्वरूप यह शोधकार्य सम्पन्न हो पाया। उन्होंने एक पथ प्रदर्शक की तरह हमेशा मेरा मार्गदर्शन किया तथा समय-समय पर महत्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि प्रदान की। उनकी भाषिक निपुणता, सत्य की पारदर्शिता तक पहुँचने की प्रेरणा, शोधपूर्ण दृष्टि एवं सकारात्मक विचार सदैव मेरे लिए अनुकरणीय हैं।

संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के संकायाध्यक्ष प्रो० संतोष कुमार शुक्ल का मैं कृतज्ञ हूँ तथा संस्थान के सभी सम्मानित गुरुजनों प्रो० गिरीश नाथ झा, प्रो० रामनाथ झा, प्रो० रजनीश कुमार मिश्र, प्रो० उपेन्द्र राव, डॉ० गोपाललाल मीणा, डॉ० बृजेश कुमार पाण्डेय, डॉ० सत्यमूर्ति, डॉ० टी. महेन्द्र, डॉ० हरिराम मिश्र, डॉ० विजेन्द्र एवं डॉ० ज्योति जी का मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने मुझे शोधरूपी दृष्टि प्रदान करके शोधकार्य में विशिष्ट मार्गदर्शन प्रदान किया।

भारतीय ज्ञान परम्परा के वटवृक्ष ज्ञानकल्प गुरुवर प्रो० कपिल कपूर एवं प्रो० शशि प्रभा कुमार का बारम्बार धन्यवाद। उनकी प्रेरणा सदैव मेरे लिए ज्ञानपिपासु के प्रवाह को गतिमान कर रही है। मेरे शोधप्रबन्ध में सर्वाधिक सहयोग विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC), नई दिल्ली का (विशेष आभार), जिस अनुदान (जे०आर०एफ०) से यह शोधकार्य सम्पूर्ण हो पाया।

शिक्षा का अक्षर ज्ञान करवाने वाले प्रारम्भिक गुरुजनों को मेरा सादर नमन एवं आभार समर्पित। श्री बिरला संस्कृत डिग्री महाविद्यालय, कुरुक्षेत्र के प्राचार्य राजकुमार एवं डॉ० सुरेशपाल अत्री, डॉ० सतबीर मौद्गिल एवं आचार्य संजीव कुमार शास्त्री का धन्यवाद। इनकी प्रेरणा से मैं शिक्षा के सर्वोत्कृष्ट शिखर तक पहुँचने में सफल रहा एवं गुरुकुल कुरुक्षेत्र के पूर्वसंचालक और गुजरात प्रान्त के वर्तमान राज्यपाल देवव्रत आचार्य जी को बारम्बार प्रणाम एवं आभार समर्पित। श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के पूर्व कुलपति स्वर्गीय प्रो० वाचस्पति उपाध्याय जी को चिदाकाश में मैं प्रणामाञ्जलि समर्पित करता हूँ तथा वर्तमान कुलपति प्रो० रमेश कुमार पाण्डेय एवं पूर्व कुलपति उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय प्रो० पीयूष कान्त दीक्षित जी को मेरा सादर प्रणाम। इनकी प्रेरणा मेरे स्वाध्याय में सदैव ऊर्जा का संचार करती रही है। विद्यापीठ के पुराणेतिहास विभाग के पूर्वाध्यक्ष स्वर्गीय प्रो० इच्छाराम द्विवेदी जी तथा साहित्यविभाग के पूर्वाध्यक्ष प्रो० सुखदेव भोई (राष्ट्रपति सम्मानित), प्रो० भागीरथी नन्द, डॉ० सुमन झा, डॉ० अरविन्द, डॉ० रश्मि भास्कर, प्रो० कमला भारद्वाज को मेरा आभार समर्पित है, इन्होंने मुझे सदैव प्रेरित करते हुए ज्ञानार्जन करने पर बल प्रदान किया। श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय के समस्त सहपाठी गण डॉ० मुकेश कुमार, सतपाल सिंह, रणवीर भुक्कल, अमित कुमार 'राजपुरोहित', विक्रम सिंह, राहुल कुमार द्विवेदी एवं सुनील काजल का मेरा हृदय से धन्यवाद।

इसी क्रम में महर्षि वाल्मीकि संस्कृत विश्वविद्यालय, कैथल, हरियाणा प्रदेश के कुलदीपक कुलगुरु प्रो० श्रेयांश द्विवेदी एवं कुलसचिव प्रो० यशवीर सिंह जी का भी सादर आभार समर्पित। इसी प्रकार संस्कृत एवं पालि प्राकृत विभाग के पूर्वाध्यक्ष प्रो० ललित कुमार गौड, प्रो० सुरेन्द्र मोहन मिश्र एवं भारत रत्न गुलजारी लाल नन्दा संस्थान, कुरुक्षेत्र के अध्यक्ष प्रो० रणवीर सिंह को मेरा हृदय सहित आभार एवं पुष्पाञ्जलि समर्पित। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० रूपकिशोर शास्त्री, डॉ० विनोद चौधरी (पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़), डॉ० विश्वबन्धु (साँची बौद्ध भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, मध्यप्रदेश), डॉ० मेघराज मीणा (शिवाजी महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय), डॉ० ममता त्रिपाठी (दिल्ली विश्वविद्यालय) को मेरा आभार समर्पित है। मेरे अग्रजों में डॉ० कपिल गौतम (कोटा विश्वविद्यालय), डॉ० शिवलोचन शाण्डिल्य (बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय), डॉ० सतीश कुमार (प्रवक्ता, हिसार), डॉ० शमशेर सिंह (प्रवक्ता,) हिसार, डॉ० गजेन्द्र कुमार, डॉ० सत्य नारायण, डॉ० भूपेन्द्र वानखेडे, अंकुश कुमार एवं अभिषेक उपाध्याय का बहुत-बहुत धन्यवाद। इन सभी से स्वाध्याय करने की मुझे प्रेरणा प्राप्त हुई। इसी क्रम में सभी सहपाठी गण विशेषतया डॉ० वेदांशु, अनिल कुमार आर्य, ललित कुमार पाण्डेय, अनिल कुमार, रविप्रकाश चौबे, दीपक साहु, दीपक मिश्रा, वन्दना सोनकर, सोनू कुमारी, गीता मीणा, रवि मीणा एवं मेरे मित्र कमल किशोर तथा शैलेन्द्र पाल (पर्यावरण संस्थान, जनेवि०) का बहुत-बहुत धन्यवाद, जिनका स्वाध्याय में महत सहयोग मिलता रहा। मैं अपने अनुज भ्राताओं में सत्येन्द्र राजपूत, श्याम कुमार, शैलेश कुमार, भरत कुमार, प्रतीक कुमार, महेद दत्त एवं कृष्णा राव का भी आभारी हूँ।

इसी क्रम में संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान के पुस्तकालय, भारतरत्न डॉ० भीमराव अम्बेडकर पुस्तकालय (जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय), महा महोपाध्याय पद्मश्री डॉ० मण्डन मिश्र पुस्तकालय (श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय), केन्द्रीय पुस्तकालय (केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय,नई दिल्ली), जवाहर लाल नेहरु पुस्तकालय (कुरुक्षेत्र

विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र), विवेकानन्द पुस्तकालय (महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक), केन्द्रीय पुस्तकालय (दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली), सयाजी राव गायकवाड़ पुस्तकालय (बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय) एवं ए०सी० जोशी पुस्तकालय (पंजाब विश्वविद्यालय,चण्डीगड़) के कर्मचारियों का भी आभार समर्पित। इनकी सहायता से मेरा शोधकार्य सुलभता से सम्पन्न हो पाया।

इस शोधकार्य को परिष्कृत बनाने में गुरुवर डॉ० प्रदीप शास्त्री, सहायक आचार्य (महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा) ने विचार-विमर्श के क्रम में अपने मूल्यवान सुझावों, अभिमतों और टिप्पणियों से निष्कर्ष तक पहुँचने में जो योगदान दिया उनके प्रति मैं अपना सादर आभार प्रकट करता हूँ। मैं अपनी प्रिय सखी खुशबू कुमारी, शोधच्छात्रा (जनेवि०) का भी आभारी हूँ, जिन्होंने प्रूफ रीडिंग में सहयोग किया एवं इनके भ्राता चुन्नू कुमार का भी बहुत-बहुत धन्यवाद। मेरे मित्र डॉ० अवधेश कुमार भट्ट, डॉ० प्रशान्त कुमार, डॉ० आशीष मौद्गिल एवं अभिषेक गौतम (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय) का आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे शोधकार्य में समय-समय पर सहयोग किया।

मेरे आदरणीय ज्येष्ठ भ्राता सुनील कुमार, प्रदीप कुमार, कुलदीप कुमार एवं अमरजीत सिंह पातलान से जो स्नेह और प्यार मुझे मिला, उसे मैं शब्दों में निबद्ध नहीं कर सकता तथा साथ ही मैं अपने अनुज भ्राता राजेश कुमार एवं संजय कुमार का आभारी रहूँगा, जिन्होंने मेरे ऊपर विश्वास किया एवं मुझे आर्थिक एवं मानसिक रूप से मजबूती प्रदान करवाई। मेरे ज्येष्ठ भ्राता एवं मित्र रवीन्द्र कुमार, कनिष्ठ भ्राता गुरमेल सिंह, पंकज कुमार एवं दीपक दहिया का भी बहुत-बहुत धन्यवाद। मैं अपनी भतीजी वंशिका एवं भतीजे वंश, खुशहाल सिंह (प्रिन्स), आयुष (आशु), लवकेश (लवली), ऊर्विश, वीरेन एवं मेरे छोटे भाई के पुत्र गुरुप्रीत सिंह (गोलू) एवं विवान (विशू) का स्नेह मिला है, जिनके साथ रहकर में अपने कार्य को सुलभता से सम्पूर्ण कर

सका। मैं परिवार के सभी आदरणीय सदस्यों में ताऊ-ताई जी, चाचा-चाची जी, भाई-भाभी, भतीजा-भतीजियों के स्नेहमुदित मुस्कान से अपने शोधकार्य को सुलभता से सम्पन्न कर पाया।

इसी क्रम में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान के सभी कर्मचारियों का विशेषरूप से शबनम, मञ्जु, विकास, अरुण आदि कर्मचारियों का धन्यवाद ज्ञापन करना चाहूँगा, जो इस शोधकार्य हेतु प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से सहायक सिद्ध हुए। विश्वविद्यालय मेरे भ्रातृकल्प श्री राजेन्द्र डिमोलिया, श्री गंभीर डिमोलिया एवं श्री सुभाष डिमोलिया का आभार प्रकट करता हूँ। इन्होंने मेरे स्वाध्यायकाल में पारिवारिक भूमिका का निर्वहन किया। अन्त में सभी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कारक जिनका नामोल्लेख नहीं हुआ, उनके प्रति कृतज्ञता निवेदन मेरा नैतिक दायित्व है। उनका भी सदैव आभारी रहूँगा।

मुझे इस बात का विश्वास है कि टंकण सम्बन्धी दोष कम से कम होगें, फिर भी त्रुटियों के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ अपनी पात्रता, त्रुटियों और सीमाओं का मुझे आभास है। यह शोधप्रबन्ध संस्कृत शोधार्थियों के लिए पथ प्रदर्शक के रूप में सहायक सिद्ध होगा, यह ईश्वर से कामना करता हूँ।

विनयावनत

सतीश कुमार

संकेताक्षर सूची

अ०को०	अमरकोश
अ०वे०	अथर्ववेद
अ०सं०सू०	अष्टांगसंग्रह, सूत्रस्थान
अ०सं०शा०	अष्टांगसंग्रह, शारीरस्थान
अ०सं०उ०	अष्टांगसंग्रह, उत्तरखण्ड
अ०हृ०नि०	अष्टांगहृदय, निदानस्थान
अ०हृ०उ०	अष्टांगहृदय, उत्तरखण्ड
अ०हृ०चि०	अष्टांगहृदय, चिकित्सास्थान
आ०प०	आयुर्वेद परिचय
आ०इ०	आयुर्वेद का इतिहास
ऋ०वे०	ऋग्वेद
ऋ०भा०	ऋग्वेदभाष्य
का०सं०उ०	काश्यपसंहिता, उपोद्घात
का०सं०सू०	काश्यपसंहिता, सूत्रस्थान
का०सं०वि०	काश्यपसंहिता, विमानस्थान
का०चि०	कायचिकित्सा

च०सं०सू०	चरकसंहिता, सूत्रस्थान
च०सं०शा०	चरकसंहिता, शारीरस्थान
च०सं०वि०	चरकसंहिता, विमानस्थान
च०सं०चि०	चरकसंहिता, चिकित्सास्थान
च०प०टी०	चरकपञ्जिकाटीका
वै०वा०इ०	वैदिक वाङ्गमय का इतिहास
तै०ब्रा०	तैत्तिरीयब्राह्मण
म०पु०	मत्स्यपुराण
म०स्मृ०	मनुस्मृति
म०को०टी०	मधुकोश टीका
म०भा०आ०	महाभारत, आदिपर्व
म०भा०अनु०	महाभारत, अनुशासनपर्व
म०भा०शा०	महाभारत, शान्तिपर्व
मा०नि०	माधवनिदान
मे०को०	मेदनीकोश
हरि०पु०	हरिवंशपुराण
बु०च०	बुद्धचरित

ब्र०वै०पु०	ब्रह्मवैवर्तपुराण
ब्र०वै०पु०ब्र०	ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्मखण्ड
भा०प्र०	भावप्रकाश
भे०सं०शा०	भेलसंहिता, शारीरस्थान
सु०सं०सू०	सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान
सु०सं०नि०	सुश्रुतसंहिता, निदानस्थान
सु०सं०उ०	सुश्रुतसंहिता, उत्तरखण्ड
सु०सं०चि०	सुश्रुतसंहिता, चिकित्सास्थान
सु०सं०शा०	सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान
शा०सं०पू०	शाङ्र्गधरसंहिता, पूर्वखण्ड

विषयानुक्रमणिका

क्रम **पृष्ठ संख्या**

भूमिका **22-33**

प्रथम अध्याय : आयुर्वेद की आचार्य परम्परा **34-71**

1.1 आयुर्वेद की दैवीय आचार्य परम्परा

1.2 *चरकसंहिता* की मानवीय आचार्य परम्परा

1.3 *चरकसंहिता* के टीकाकार

1.4 *चरकसंहिता* की ग्रन्थ-संरचना

1.5 *सुश्रुतसंहिता* की मानवीय आचार्य परम्परा

1.6 *सुश्रुतसंहिता* के टीकाकार

1.7 *सुश्रुतसंहिता* की ग्रन्थ-संरचना

1.8 *अष्टाङ्गहृदय* की मानवीय आचार्य परम्परा

1.9 *अष्टाङ्गहृदय* के टीकाकार

1.10 *अष्टाङ्गहृदय* की ग्रन्थ-संरचना

द्वितीय अध्याय : आयुर्वेदसम्मत देहधारक तत्त्वों का पर्यालोचन **72-123**

2.1.1 **दोष शब्द की निरुक्ति**

2.1.2 शारीरिक दोष

2.1.3 मानसिक दोष

2.1.4 दोषों के स्थानविशेष

2.1.5 दोषों के सञ्चय लक्षण

2.1.6 दोषों के प्रकोपक लक्षण

2.1.7 दोषों के प्रसर का स्वरूप एवं भेद

2.1.8 स्थानसंश्रय विवेचन

2.1.9 अभिव्यक्ति

2.1.10 भेद

2.1.11 दोष के भेद

2.2.1 **धातु निरुपण**

2.2.2 धातु शब्द की निरुक्ति

2.2.3 धातु के भेद

2.2.4 स्थायी धातु

2.2.5 अस्थायी धातु

2.2.6 धातुओं की उत्पत्ति

2.3.1 **मल परिचय**

2.3.2 मल के भेद

2.3.3 किट्ट का पोषण

2.4.1 **उपधातु वर्णन**

तृतीय अध्याय : आयुर्वेदसम्मत पित्तदोष का पर्यालोचन 124-153

3.1.1 **पित्त शब्द की व्युत्पत्ति**

3.1.2 पित्तदोष के गुण

3.1.3 पित्तदोष का स्थान

3.1.4 पित्तदोष के विशिष्ट स्थान

3.1.5 पित्तदोष के कार्य

3.1.6 पित्तदोष के गर्भ में कार्य

3.1.7 पित्तदोष एवं अग्नि

3.1.8 पित्तदोष के भेद

3.1.9 पित्तदोष के विकार

3.1.10 पित्तविकारों का स्वरूप

3.1.11 पित्तदोष के प्रकोप हेतु

3.1.12 पित्तदोष के विशिष्ट प्रकोपक कारण

3.1.13 पित्तप्रकोपक होने से शारीरिक परिवर्तन

3.1.14 शरीर में पित्तवृद्धि एवं पित्तक्षय के लक्षण

चतुर्थ अध्याय : आयुर्वेदसम्मत पित्तजविकारों का निदानात्मक पर्यालोचन 154--245

4.1.1 **निदान परिचय**

4.1.2 निदान के पर्याय

4.1.3 निदान के भेद

4.1.4 पूर्वरूप

4.1.5 रूप/लिङ्ग

4.1.6 उपशय

4.1.7 सम्प्राप्ति

4.2.1 **ज्वरविकार परिचय**

4.2.2 ज्वरविकार का उद्भव

4.2.3 ज्वरविकार के भेद

4.2.4 ज्वररोग के निदान

4.2.5 ज्वरविकार के पूर्वरूप

4.2.6 ज्वरविकार के लक्षण

4.2.7 ज्वररोग की सम्प्राप्ति

4.2.8 ज्वररोग का प्राकृतत्व-वैकृतत्व

4.2.9 ज्वरविकार का अधिष्ठान

4.2.10 पैत्तिक ज्वरविकार का निदान

4.2.11 पैत्तिक ज्वरविकार का पूर्वरूप

4.2.12 पैत्तिकज्वर के लक्षण

4.2.13 पैत्तिकज्वर की सम्प्राप्ति

4.2.14 पैत्तिक ज्वर में उपशय-अनुपशय

4.2.15 वातपित्तज्वर के लक्षण

4.2.16 कफपित्तज्वर के लक्षण

4.2.17 सन्निपात ज्वरविकार

4.2.18 सन्निपातजज्वर की साध्यासाध्यता

4.2.19 समत्रिदोषज सन्निपातज ज्वर के लक्षण

4.2.20 विषम त्रिदोष सन्निपातज ज्वरविकार

4.2.21 अभिन्यास सन्निपात ज्वरविकार

4.2.22 सन्निपात ज्वर की समय सीमा

4.3.1 **रक्तपित्तविकार परिचय**

4.3.2 रक्तपित्त की निरुक्ति

4.3.3 रक्तपित्तविकार का निदान

4.3.4 रक्तपित्तविकार के पूर्वरूप

4.3.5 रक्तपित्तविकार के उपद्रव

4.3.6 रक्तपित्तविकार की सम्प्राप्ति

4.3.7 रक्तपित्तविकार के भेद

4.3.8 रक्तपित्तविकार की गतियाँ

4.3.9 रक्तपित्तविकार की साध्यासाध्यता

4.3.10 रक्तपित्तविकार का विशेष हेतु

4.4.1 **पाण्डुविकार परिचय**

4.4.2 पाण्डुविकार का निदान

4.4.3 पाण्डुविकार के पूर्वरूप

4.4.4 पाण्डुविकार के रूप

4.4.5 पाण्डुविकार के भेद

4.4.6 पाण्डुविकार की सम्प्राप्ति

4.4.7 पित्तजपाण्डुविकार के लक्षण

4.4.8 मृत्तिकाभक्षणजन्य पाण्डुविकार

4.5.1 **कामलाविकार परिचय**

4.5.2 कामलाविकार के लक्षण

4.5.3 कामलाविकार के भेद

4.6.1 **तृष्णाविकार परिचय**

4.6.2 तृष्णाविकार का निदान

4.6.3 तृष्णाविकार का पूर्वरूप

4.6.4 तृष्णाविकार के रूप

4.6.5 तृष्णाविकार की सम्प्राप्ति

4.6.6 पैत्तिक तृष्णाविकार का लक्षण

4.6.7 आमजा तृष्णाविकार के लक्षण

4.7.1 **ग्रहणीविकार परिचय**

4.7.2 ग्रहणीविकार का निदान

4.7.3 ग्रहणीविकार का पूर्वरूप

4.7.4 ग्रहणीविकार के लक्षण

4.7.5 ग्रहणीविकार के भेद

4.7.6 ग्रहणीविकार के सम्प्राप्ति

4.7.7 पैत्तिज ग्रहणीविकार का निदान एवं लक्षण

4.8.1 **भस्मकविकार परिचय**

4.8.2 भस्मकविकार की सम्प्राप्ति एवं लक्षण

4.9.1 **शोथविकार परिचय**

4.9.2 शोथविकार का निदान

4.9.3 शोथविकार के पूर्वरूप

4.9.4 शोथविकार के लक्षण

4.9.5 शोथविकार के भेद

4.9.6 शोथविकार की सम्प्राप्ति

4.9.7 पैत्तिक शोथविकार का निदान एवं लक्षण

4.10.1 **मूर्च्छाविकार परिचय**

4.10.2 मूर्च्छाविकार का निदान

4.10.3 मूर्च्छाविकार के पूर्वरूप

4.10.4 मूर्च्छाविकार के लक्षण

4.10.5 मूर्च्छाविकार के भेद

4.10.6 पैत्तिक मूर्च्छाविकार के लक्षण

4.10.7 सान्निपातिक मूर्च्छाविकार के लक्षण

4.11.1 **उदरविकार परिचय**

4.11.2 उदरविकार का निदान

4.11.3 उदरविकार के पूर्वरूप

4.11.4 उदरविकार के लक्षण

4.11.5 उदरविकार के भेद

4.11.6 उदरविकार की सम्प्राप्ति

4.11.7 पैत्तिक उदरविकार के निदान एवं सम्प्राप्ति

4.11.8 पैत्तिक उदरविकार के लक्षण

पञ्चम अध्याय : आयुर्वेदसम्मत पित्तजविकारों का उपचारात्मक पर्यालोचन 246-336

5.1.1 **ज्वरविकार का उपचार**

5.1.2 ज्वरविकार में लंघन/उपवास

5.1.3 उपवास करने के लाभ

5.1.4 तरुण ज्वरविकार में पाचन

5.1.5 ज्वरविकार में वमन प्रयोग

5.1.6 ज्वरविकार में यवागू प्रयोग

5.1.7 ज्वरविकार में कषाय प्रयोग

5.1.8 ज्वरविकार में घृतपान

5.1.9 ज्वरविकार में दुग्धपान

5.1.10 ज्वरविकार में आहार

5.1.11 ज्वरविकार में विरेचन

5.1.12 ज्वरविकार में अभ्यंग का प्रयोग

5.1.13 ज्वरविकार में रक्तावसेक प्रयोग

5.1.14 पैत्तिक ज्वरविकार में उपचार

5.1.15 पैत्तिक ज्वर का संशमन

5.1.16 ज्वरविकार में त्याज्य आहार-विहार

5.2.1 **रक्तपित्तविकार का उपचार**

5.2.2 रक्तपित्तविकार में लंघन

5.2.3 रक्तपित्तविकार में तर्पण

5.2.4 रक्तपित्तविकार में आहार

5.2.5 रक्तपित्तविकार में यवागू प्रयोग

5.2.6 रक्तपित्तविकार में वमन-विरेचन

5.2.7 रक्तपित्तविकार में औषध

5.2.8 रक्तपित्तविकार में दुग्ध प्रयोग

5.2.9 रक्तपित्तविकार में घृत प्रयोग

5.2.10 नासाप्रवृत रक्तपित्त में उपचार

5.2.11 रक्तपित्तनाशक विहार

5.3.1 **पाण्डुविकार का उपचार**

5.3.2 पाण्डुव्याधि में स्नेहन

5.3.3 पाण्डुविकार में वमन-विरेचन

5.3.4 पाण्डुविकार में गोमूत्र प्रयोग

5.3.5 पाण्डुविकार में अवलेह प्रयोग

5.3.6 पाण्डुविकार में जल प्रयोग

5.3.7 पाण्डुविकार में विशिष्ट चिकित्सा

5.4.1 **कामलाविकार का उपचार**

5.4.2 कामलाविकार में घृत प्रयोग

5.4.3 कामलाविकार में चूर्ण प्रयोग

5.4.4 कामलाविकार में स्वरस प्रयोग

5.4.5 कामलाविकार में अञ्जन प्रयोग

5.4.6 कामलाविकार में आहार

5.4.7 कुम्भकामला विकार का उपचार

5.4.8 हलीमकविकार का उपचार

5.5.1 **तृष्णाविकार का उपचार**

5.5.2 तृष्णाविकार में वर्षाजल

5.5.3 तृष्णाविकार में सामान्य जल

5.5.4 तृष्णाविकार में पेया एवं भोजन प्रयोग

5.5.5 तृष्णाविकार में घृताभ्यंग

5.5.6 तृष्णाविकार में नस्य प्रयोग

5.5.7 तृष्णाविकार में प्रलेप

5.5.8 तृष्णाजन्य तालुशोष में उपचार

5.5.9 पैत्तिक तृष्णाविकार का उपचार

5.5.10 वात-पित्तज तृष्णाविकार मे उपचार

5.5.11 तृष्णा की भयानकता

5.6.1 **ग्रहणीविकार का उपचार**

5.6.2 ग्रहणीविकार में वमन

5.6.3 ग्रहणीविकार में विरेचन

5.6.4 ग्रहणीविकार में लंघन

5.6.5 पैत्तिक ग्रहणीविकार का उपचार

5.6.6 पैत्तिक ग्रहणीविकार में चन्दनाद्य घृत

5.6.7 पैत्तिक ग्रहणीविकार में चूर्ण

5.7.1 **भस्मकविकार का उपचार**

5.7.2 भस्मकविकार में आहार

5.7.3 भस्मकविकार में भेड़ के मांस का सेवन

5.7.4 भस्मकविकार में गोधूम पान

5.7.5 भस्मकविकार में स्नेह प्रयोग

5.7.6 भस्मकविकार में स्त्री दुग्ध एवं गुलर प्रयोग

5.8.1 **शोथविकार का उपचार**

5.8.2 शोथविकार का सामान्य उपचार

5.8.3 वातपित्तज शोथ का उपचार

5.8.4 पैत्तिक शोथविकार में तैल और प्रदेह

5.8.5 शोथविकार में पथ्यापथ्य

5.9.1 **मूर्च्छाविकार का उपचार**

5.9.2 मूर्च्छाविकार का सामान्य उपचार

5.9.3 मूर्च्छाविकार में पेय एवं घृत सेवन

5.9.4 मूर्च्छाविकार में औषधोपचार

5.10.1 **उदरविकार का उपचार**

5.10.2 उदरविकार में दुग्धपान

5.10.3 उदरविकार में घृतपान

5.10.4 पैत्तिक उदरविकार का उपचार

5.10.5 पैत्तिक उदरविकार में तक्रपान

5.10.6 उदरविकार में पथ्याहार।

उपसंहार 337-345

आयुर्वेदिक पारिभाषिक शब्दावली 346-348

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची। 349-354

परिशिष्ट

भूमिका

वेद विश्ववाङ्मय में प्राचीनतम ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत हैं। सायण ने वेदों पर भाष्य लिखते हुए कहा है कि **"इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के निवारण के लिए अलौकिक उपाय को वर्णित करने वाला ग्रन्थ वेद है"**।[1] ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से वैदिक साहित्य को चार भागों में विभक्त किया गया है, जिनमें *ऋग्वेद*, *यजुर्वेद*, *सामवेद* और *अथर्ववेद* का परिगणन किया गया है। सभी वेदों के उपवेद भी वैदिक साहित्य की वटवृक्षवत् निरन्तर शोभा बढ़ा रहे हैं। वेदों में इन्द्र, अग्नि, रुद्र, वरुण, मरुत् आदि देवताओं को 'दैव्य भिषक' की संज्ञा दी गई है, परन्तु इन देवताओं से भी अधिक प्रसिद्धि अश्विनी कुमारों को प्राप्त है जिन्हें **'देवानां भिषजौ'** के रूप में ख्याति प्राप्त है। इन दोनों देवताओं की चातुरी चिकित्सा का विवेचन *ऋग्वेद* में उपलब्ध होता है, जिससे इन देवताओं के विषय में ज्ञात होता है कि ये आरोग्य, प्रजा, बल, दीर्घायु, वनस्पति तथा समृद्धि के प्रदाता थे। वैदिक शान्तिपाठ में वनस्पति तथा औषधि के तादात्म्य द्वारा मनुष्य के शरीर तथा उसके चित्त की शान्ति का वर्णन हमें प्राप्त होता है। *ऋग्वेद* में औषधि के लिए माता शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि **"औषधियाँ हमारी माताएँ है"**।[2]

आयुर्वेद अनादि और अनन्त है। यह शाश्वत, पुण्यतम और अभ्युदय तथा निःश्रेयस् वेदांग है।[3] वेदों के उपवेदों के सन्दर्भ में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान् *ऋग्वेद* का उपवेद आयुर्वेद को स्वीकार करते हैं, परन्तु आयुर्वेद के आचार्यों ने जैसे महर्षि चरक, आचार्य सुश्रुत, वाग्भट, भावमिश्र ने अपने ग्रन्थों में आयुर्वेद को *अथर्ववेद* का उपवेद स्वीकार किया है, क्योंकि *अथर्ववेद* में आयुर्विज्ञान सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है।

---

[1] इष्टप्राप्त्यनिष्ट परिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति सः वेदः, *तै० सं०* भाष्यभूमिका, सायणमतानुसार

[2] औषधीति मातरस्तद्वो, *ऋ०वे०* 10/16/4

[3] सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च, *च०सं०सू०* 30/27

अतः *अथर्ववेद* का उपवेद मानने में विद्वानों ने मतैक्य की स्थापना की है, जिससे निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि *अथर्ववेद* के उपवेद के रूप में आयुर्वेद का विकास हुआ। महर्षि चरक ने आयुर्वेद को *अथर्ववेद* का उपवेद स्वीकार किया है तथा कहा है कि वेदों में *अथर्ववेद* में अपनी श्रद्धा प्रकट करनी चाहिए।[4] इसी प्रकार सुश्रुताचार्य, काश्यप, वाग्भट्ट भी *अथर्ववेद* का उपवेद आयुर्वेद को स्वीकार करते हैं। काश्यप ने युक्तियुक्त रीति से आयुर्वेद को पञ्चम वेद स्वीकार किया है।[5] *ब्रह्मवैवर्तपुराण* में भी आयुर्वेद को पञ्चम वेद स्वीकार किया गया है।[6] अतः आयुर्वेदीय संहिताओं का अध्ययन करने के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि आयुर्वेद *ऋग्वेद* का नहीं, अपितु *अथर्ववेद* का उपवेद है।

आयुर्वेद की परिभाषा :- जिस शास्त्र में हित, अहित, सुख और दुःख चतुर्विध आयु का वर्णन किया गया हो, आयु अर्थात् जीवन के लिए किस प्रकार का आहार या आचार हितकर अथवा अहितकर है, इसका वर्णन किया गया हो तथा आयु का मान बतलाया गया हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं।[7] *चरकसंहिता* में अन्यत्रस्थान पर आयुर्वेद की उत्पत्ति बताते हुए कहा गया है कि यह शास्त्र आयु का ज्ञान कराता है, अतः इसे आयुर्वेद कहते हैं।[8]

---

[4] आत्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या, *च०सं०सू०* 30/21, कं वेदं श्रयति, अथर्ववेदमित्याह, *का०सं०* 1/1
इह खल्वायुर्वेदमष्टाङ्गमुपाङ्गमथर्ववेदस्य, *सु०सं०सू०* 1/5, आयुषः पालनं वेदमुपवेदमथर्वणः, *अ०सं० सू०* 1/1/7

[5] *का०सं० वि०* 1/6

[6] ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः। विचिन्त्य तेषामर्थः च आयुर्वेदः चकार सः॥
कृत्वा तु पञ्चमं वेदं भास्कराय ददौ पुनः, *ब्र०वै०पु०* 1/16/9

[7] हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्। मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते, च०सं०सू० 1/41

[8] तत्रायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः, *च०सं० सू०* 30/23

सुश्रुत ने सूत्रस्थान में कहा है कि **"आयु से सम्बन्धित ज्ञान तथा दीर्घायु के उपायों की चर्चा जिस शास्त्र में हो, वह आयुर्वेद कहलाता है"**।[9] इसी प्रकार से *सुश्रुतसंहिता* के टीकाकार डल्हण ने आयुर्वेद की उत्पत्ति अनेक प्रकार से वर्णित की है-

- **"आयुः शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगः, तदस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते ज्ञायते अनेनेति आयुर्वेदः।**
- **आयुर्विद्यते विचार्यते अनेन इत्यायुर्वेदः।**
- **आयुरनेन विन्दति प्राप्नोति इति वा आयुर्वेदः"**।[10]

चरक ने आयुर्वेद का लक्षण देने के उपरान्त आयु का विवेचन करते हुए कहा है कि **"शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग को आयु कहते है"**[11] तथा इसके धारि, जीवित, नित्य और अनुबन्ध पर्याय शब्द हैं। अमरसिंह ने *अमरकोष* में वर्णित किया है कि **"जीवितकाल को आयु कहा जाता है"**।[12] महर्षि चरक ने अन्यत्रस्थान पर आयु के विषय में वर्णन करते हुए कहा है कि चैतन्याविष्ट शरीर में मन, आत्मा एवं शरीर तीन दण्ड के समान स्थित हैं। इसी शरीर में लोक स्थित रहता है और शरीर में ही सभी प्रतिष्ठित है। मन, आत्मा और शरीर के संयोग रूपी शरीर को पुमान् अथवा पुरुष कहते हैं।[13] यही चिकित्सा का विषय है और इस पुरुष के लिए ही आयुर्वेदशास्त्र के उपक्रमों को वर्णित किया गया है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस आयुर्वेद का प्रयोजन क्या है ? आयुर्वेदीय संहिताओं में आयुर्वेद के मुख्य दो प्रयोजन बताए गए हैं स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना, जिससे वह किसी भी प्रकार के विकारों से आक्रान्त नहीं हो और रोगी हो जाने पर उसके विकारों का शमन करना तथा दोष-धातु-मलों में साम्यता रखना।

---

[9] आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः, *सु०सं० सू०* 1/14

[10] *सु०सं० सू०,* 1/14 पर निबन्धसंग्रह टीका, पृ० 4

[11] *च०सं० सू०* 1/42

[12] आयुर्जीवितकालः, *अ०को०* 2/8/120

[13] सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्। लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।।

स पुमांश्चेतनं तच्च अधिकरणं स्मृतम्। वेदस्यायस्य, तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः, *च०सं० सू०* 1/46-47

चरकसंहिता में आयुर्वेद का प्रयोजन इस प्रकार व्यक्त किया गया है **"प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च"।**[14] इसी प्रकार सुश्रुत ने आयुर्वेद का प्रयोजन बतलाया है रोगों से ग्रसित प्राणियों के रोगों को दूर करना तथा स्वस्थ प्राणियों के स्वास्थ्य की रक्षा करना, यही आयुर्वेद का प्रयोजन है।[15] विश्व स्वास्थ्य संगठन ने कहा है कि केवल रोग से रहित होने को स्वस्थ व्यक्ति नहीं कहा जा सकता, अपितु इस संगठन का तो आदर्श वाक्य ही है शारीरिक, मानसिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सही होने की सन्तुलित स्थिति का नाम स्वास्थ्य है न कि किसी रोग के न होने का।[16] इसीलिए आयुर्वेद में शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों का निदान एवं उपचार आठ अंगों के माध्यम से किया गया है।

आयुर्वेद के अंग :- आयुर्वेदज्ञों ने आयुर्वेद के आठ अंग स्वीकार किए हैं। चरक सूत्रस्थान के तीसवें अध्याय में आयुर्वेद के आठ अंगों का वर्णन करते हैं "**कायचिकित्सा, शालाक्य, शल्यशास्त्र, अगदतन्त्र, भूतविद्या, कौमारभृत्य, रसायन एवं वाजीकरण"**।[17] सुश्रुत, वाग्भट एवं अन्य आयुर्वेदज्ञ आयुर्वेद के आठ अंग ही स्वीकार करते हैं। जिसे चित्र[18] द्वारा स्पष्टतया समझा जा सकता है, जिनका सारांशरूप में वर्णन इस प्रकार किया गया है-

---

[14] *च०सं० सू०* 30/27

[15] इह खलु आयुर्वेदप्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वास्थस्य रक्षणं च, *सु०सं० सू०* 1/12

[16] Health is defiend as a state of physical, mental and social well-bing, not merely absence of disease or infirmity, www.who

[17] तस्यायुर्वेदस्य अङ्गान्यष्टौ ; तद्यथा कायचिकित्सा, शालाक्यं, शल्यापहर्तृकं, विषगरवैरोधिकप्रशमनं, भूतविद्या, कौमारभृत्यकं, रसायनं, वाजीकरणमिति, *च०सं० सू०* 30/28, ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वं चालोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्। तद्यथा शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यकं, अगदतन्त्रं, रसायतन्त्रं, वाजीकरणतन्त्रमिति, *सु० सं० सू०* 1/5-6, अ०हृ०, सू० 1/5

[18] परिशिष्ट-1 देखें

कायचिकित्सा :- आयुर्वेद के अंगों में कायचिकित्सा एक प्रमुख अंग है। कायचिकित्सा दो शब्दों के योग से निर्मित है- काय और चिकित्सा। *अमरकोष* में कथित है कि 'काय के कलेवर, गात्र, वपु, संहनन, शरीर, वर्ष्म, देह, मूर्ति, तनु एवं तनू पर्याय हैं'।[19] *शब्दस्तोममहानिधि* ग्रन्थ में काय शब्द की निरुक्ति इस प्रकार बताई गई है-**'कायति शब्दायते इति कायः'** एवं **'चीयतेऽन्नादिभिरिति कायः'** तथा अमरसिंह ने चिकित्सा शब्द की निरुक्ति इस प्रकार अभिव्यक्त की है- **'चिकित्सा रुक्प्रतिक्रिया' रुजः प्रतिक्रिया निरसनम्।**[20] जिसमें शरीर के सम्पूर्ण अंगों में व्याप्त होने वाले ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतिसार आदि के उपचार का वर्णन हो, उसे कायचिकित्सा कहा गया है। मनुष्य का शरीर त्रिविध दोषों का आधार है। इन्हीं दोषों से शरीर की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश सम्भव होता है। शरीर की उत्पत्ति पञ्चमहाभूत के विकारों के समुदाय एवं चेतनाधिष्ठान भूत आत्मा के संयोग से होती है। आधुनिक परिभाषा के अनुसार **"स्त्री द्वारा तीन मास तक धारण की गई भ्रूण अवस्था को गर्भ तथा इसके बाद की अवस्था को शरीर कहते हैं"।**[21] चरक शारीरस्थान में कहते हैं कि चेतन आत्मा का आश्रय, पञ्चमहाभूतों के विकारों के समुदाय से निर्मित दोष, धातु एवं मलों के उचित प्रमाण में रहने से आरोग्यसम्पन्न जीवन धारण करने वाला 'शरीर' कहलाता है।[22]

शल्यतन्त्र :- आयुर्वेद के आठ अंगों में यह सबसे प्रधान अंग है। क्योंकि प्रथम देवों एवं असुरों के मध्य युद्ध में हुए घावों की सद्यःपूर्ति के लिए इसकी आवश्यकता पड़ी थी। उस समय देववैद्य अश्विनी कुमारों ने इसका समुचित प्रयोग कर दिखाया था। जिससे शरीर एवं मन को कष्ट होता है वह शल्य कहलाता है।

---

[19] अथ कलेवरम्। गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः।
कायो देहः क्लीबपुंसो स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनू, *अ०को०* 2/6/70-72

[20] *अ०को०* 2/6/50

[21] *आ०प०*, पृ० 116

[22] तत्र शरीर नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं समयोगवाहि।
यदा ह्यस्मिन् शरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते तदा क्लेशं विनाशं वा प्राप्नोति।
वैषम्यगमनं हि पुनर्धातूनां वृद्धिह्रासगमनकात्स्र्येन प्रकृत्या वा। *च०सं०,शा०* 6/4

अष्टांग आयुर्वेद के शल्य तन्त्र में नाना प्रकार के घास, लकड़ी के टुकड़े, पत्थर, धूल, लोह, मिट्टी, अस्थि के टुकड़े, बाल, नाखून, पूय और स्राव, दुष्टव्रण आदि शल्यरूप पदार्थों को निकालने की विधि का वर्णन, यन्त्र, शस्त्र, क्षार चिकित्सा, अग्नि के प्रयोग का रोग-निवारणार्थ ज्ञान और व्रणों का ज्ञान।[23] अर्थात् इस चिकित्सा में यन्त्र, क्षार, शस्त्र, औषध और पथ्य, इन सभी साधनों का प्रयोग किया जाता है।

शालाक्यतन्त्र :- जिसमें कान, आँख, मुख, नाक आदि जो जत्रु के ऊपर की रचनाएँ हैं उनका आश्रय लेकर उत्पन्न हुए रोगों को दूर करने के उपायों का जहाँ वर्णन हो, वह शालाक्य तन्त्र कहलाता है।[24] इसे पाश्चात्य वैद्यक **'Ophthalmology and Otorhinolaryngology'** कहते हैं। इसके नाम से वर्तमान समय में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता।

भूतविद्या :- देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग, ग्रह आदि के दुष्प्रभाव से जिनका चित्त ग्रस्त रहता है, उनके उपचार के लिए शान्तिपाठ, धर्म-कर्म, बलिदान आदि के ग्रहोपशमन का जिसमें वर्णन हो, वह भूतविद्या कहलाती है।[25] इसमें बालग्रह तथा स्कन्दग्रहों का भी समावेश होता है, साथ ही इनकी शान्ति के उपायों की चर्चा की गई है। भूतविद्या को **'Psychiatry'** कहा जा सकता है। भूतावेश में मनोविक्षिप्ति जैसे लक्षणों की अधिकता को देखी जाती है।

अगदतन्त्र :- सामान्य रूप से 'अगद' शब्द औषध का पर्यायवाची है। इसकी निरुक्ति इस प्रकार प्राप्त होती है- न गदः अस्मात् अथवा गदविरुद्धम्। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ 'अगद' शब्द का अर्थ रोग का निवारण करना रहा होगा।

---

[23] शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपांशुलोहलोष्टास्थिबालनखपूयास्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं। यन्त्र शस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिश्चयार्थं च"॥ *सु०सं०,सू०* 7/1

[24] शालाक्यं नामोर्ध्वजत्रुगतानां श्रवणनयनवदनघ्राणादिसंश्रितानां व्याधीनामुपशमनार्थम्। *सु०सं०,सू०* 7/2

[25] भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षः पितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादि ग्रहोपशमनार्थम्। *सु०सं०,सू०* 7/4

सुश्रुतसंहिता में अष्टांगों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जिसमें विषैले सांप, कीट, लूता, मूषक आदि के दंश से उत्पन्न विषैले लक्षणों तथा गरादि विष एवं विषसंयोग से उत्पन्न विकारों के निराकरण का वर्णन हो, वह अगदतन्त्र कहलाता है।[26] *सुश्रुतसंहिता* का सम्पूर्ण कल्पस्थान अगदतन्त्र है। इसे पाश्चात्य वैद्यक **'Toxicology'** कहते हैं।

रसायनतन्त्र :- *सुश्रुतसंहिता* में कहा गया है कि जिस तन्त्र में वयःस्थापन अर्थात् तरुणावस्था और आयु को लम्बे समय तक बनाए रखना, आयुष्कर, मेधा और शारीरिक शक्ति को बढ़ाना तथा रोगों का शमन बताया गया, उसे रसायनतन्त्र कहते हैं।[27] इसे जरा चिकित्सा भी शास्त्रों में कहते हैं। इस तन्त्र का भी कोई ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध नहीं होता।

वाजीकरणतन्त्र :- इसे वृषचिकित्सा भी कहा जाता है। 'अवाजी वाजीव अत्यर्थं मैथुने क्रियते येन् तद् वाजीकरणम्। वाजीकरण उसे कहते हैं जो अल्प मात्रा वाले शुक्र का सन्तर्पण करता है, दूषित हुए शुक्र को शुद्ध करता है, क्षीण शुक्र की वृद्धि करता है और सूखे हुए शुक्र के उत्पादन के उपायों का निर्देश करता है। *सुश्रुतसंहिता* में वर्णित है कि जो व्यक्ति अल्पवीर्य अर्थात् स्वभाव अथवा रोगों के कारण शुक्र की मात्रा अल्प होना, दुष्टवीर्य, क्षीणवीर्य अर्थात् अल्पशुक्राणुता, और शुष्कवीर्य से पीड़ित हैं, उनमें क्रमशः आप्यायन, प्रसाद, उपचय और जनन के उपायों तथा प्रहर्षजननार्थ विधियों का जिस तन्त्र में वर्णन हो, उसे वाजीकरण तन्त्र कहते हैं।[28]

कौमारभृत्यतन्त्र :- इसे बालतन्त्र भी कहते हैं। बच्चों के शरीर में परिपूर्ण बल तथा धातुओं आदि का अभाव होने के कारण, इस तन्त्र का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। क्योंकि इनकी सभी प्रकार की औषधियाँ भिन्न प्रकार की होती है। महर्षि चरक ने अष्टांग आयुर्वेद में कौमारभृत्य को छठा एवं सुश्रुत ने पाँचवां स्थान प्रदान किया है।

---

[26] अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतामूषकादि दष्टविषव्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च। *सु०सं०, सू०* 7/6

[27] रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च। *सु०सं०, सू०* 7/7

[28] वाजीकरणतन्त्रं नाम अल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसाम् आप्यायनप्रसादोपचयजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च। *सु०सं०, सू०* 7/8

परन्तु कौमारभृत्य के पितामह काश्यपाचार्य ने कौमारभृत्य को प्रथम स्थान देते हुए स्पष्टीकरण किया है कि- "**इति अष्टाङ्गः, तस्य कौमारभृत्यं कायचिकित्सा शल्यापहर्तृकं शालाक्यं विषतन्त्रं भूततन्त्रमगदतन्त्रं रसायनतन्त्रमिति"। "कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्यमुच्यते। आयुर्वेदस्य महतो देवानामिव हव्यपः॥ अनेन हि संवर्धितमितरे चिकित्सन्ति"।**[29] कौमारभृत्य को आठों तन्त्रों में आद्य रूप स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार'अग्निदेव' देवताओं में 'हवि' लेने के कारण प्रधान है, उसी प्रकार आयुर्वेद में कौमारभृत्य। क्योंकि इस तन्त्र द्वारा शिशु से सम्बन्धित चिकित्सा मुख्य है। इस विषय के अन्तर्गत वर्णित उपक्रमों द्वारा जिस बालक की सेवा कर उसे बड़ा किया जाता है। आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों द्वारा भी बालक की चिकित्सा से सम्बन्धित विवेचन समुपलब्ध होता है।

विषय चयन का औचित्य :- इस शोधप्रबन्ध के माध्यम से त्रिदोषों का मानव शरीर पर होने वाले प्रभाव तथा विशेषकर पित्तदोष के विकृत होने के बाद मानव शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों के संदर्भ में मौलिक चिन्तन के द्वारा ज्ञान प्रदान करना। पित्तदोष से होने वाले विकारों को एवं उन विकारों के उपचारों को समाज में परिलक्षित करते हुए प्रेरणा प्रदान करते हुए ज्ञान प्रदान करना है। आधुनिक समय में यह ज्ञात ही नहीं होता है कि मानव शरीर की प्रकृति किस प्रकार की है अर्थात् मानव शरीर में किस दोष की अधिकता है तथा ऋतु अनुसार किस दोष का संचय, प्रकोप एवं शमन होता है, उपरोक्त सभी विषयवार बिन्दुओं को केन्द्र में रखकर शोधप्रबन्ध का प्रस्तुतीकरण किया गया है। अत: शोधार्थी द्वारा आयुर्वेदसम्मत विषय चयनित है।

[29] *का०सं०, वि०* पृ.16

शोधक्षेत्र में विद्यमान पूर्ववर्ती शोधकार्य :- प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध शोधच्छात्र को विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों, आयुर्वेदीय विश्वद्यालयों के पुस्तकालयों एवं अन्तर्जाल के स्त्रोतों का अन्वेषण करने पर **'आयुर्वेदसम्मत पित्तविकार का पर्यालोचनात्मक अध्ययन'** विषय से सम्बन्धित कोई विशेष शोधकार्य प्राप्त नहीं हुआ है। शोधार्थी को केवल डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्ण आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान) से एक शोधप्रबन्ध प्राप्त हुआ है। जिसका शीर्षक **'Clinical study of Pitta pancha and Ghrita of their physiopathology'** है। इस शोधप्रबन्ध में पित्तपञ्चक और घी का चिकित्सीय अध्ययन किया गया है। यह शोधप्रबन्ध शोधार्थी द्वारा चयनित शोधविषय से सम्बन्धित नहीं है।

शोधकार्य की प्रासंगिकता :- शोधार्थी द्वारा चयनित विषय की आधुनिक समय में प्रासंगिकता यह है कि इस विषय से अवगत होकर मनुष्य अपने शरीर में किस दोष की अधिकता व किस दोष का कमी है इसका ज्ञान करना एवं जिस दोष की अधिकता है उसे साम्य करने के लिए क्या करना होगा ? इसका स्पष्ट ज्ञान हो सकेगा। इस शोधविषय के माध्यम से पित्तदोष से होने वाले रोगों का ज्ञान करते हुए, उन रोगों का निदान एवं उपचार कैसे होगा, इत्यादि विषयों का वर्णन किया जाएगा। अतः प्रस्तुत शोधप्रबन्ध को पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। जिनका सारांश रूप में वर्णन किस प्रकार है-

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के **प्रथम अध्याय** में आयुर्वेद की आचार्य परम्परा का बृहत्त्रयी के अनुसार विस्तारपूर्वक पर्यालोचन किया गया है। इस परम्परा को सर्वप्रथम दैवीय एवं मानुषी परम्परा में विभक्त किया गया है। दैवीय परम्परा में ब्रह्मा से लेकर इन्द्र तक की परम्परा का वर्णन है। तदुपरान्त मानुषी परम्परा में तीनों संहिताओं की आचार्य परम्परा से लेकर, भाष्यकार, संस्कर्ता एवं टीकाकारों का विस्तृत विवेचन किया गया है तथा साथ ही तीनों संहिताओं के स्थान, अध्यायों का वर्णन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में शरीर को धारण करने वाले दोष, धातु एवं मलों का विस्तारपूर्वक वर्णन तथा साथ ही उपधातुओं का भी विवेचना की गई है। दोष का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम दोष शब्द की व्युत्पत्ति, दोष के भेद, वात दोष की व्युत्पत्ति, वातदोष के भेद, वातदोष से होने वाले विकार, कफदोष की व्युत्पत्ति, कफदोष के भेद, कफ विकारों का विस्तृत वर्णन किया गया है। धातु शब्द की निष्पत्ति, धातु के भेद एवं भेदों का विस्तारपूर्वक पर्यालोचन किया गया है एवं अन्तिम में मल शब्द की निष्पत्ति व्यक्त करते हुए मल के प्रकार एवं मल विकारों का पर्यालोचन किया गया है।

तृतीय अध्याय में शोधप्रबन्ध के प्रमुख विषय पित्तदोष का पर्यालोचन किया गया है। सर्वप्रथम पित्तदोष की निष्पत्ति करते हुए पित्तदोष के गुण, विशिष्ट गुण, स्थान, भेद एवं पित्तदोष के विकृत हो जाने पर होने वाले विकारों का विवेचन विस्तृतरूप से किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में पित्तदोष के वैषम्य होने पर शरीर में प्रादुर्भूत विकारों का निदानात्मक पर्यालोचन किया गया है। जिसमें सर्वप्रथम पञ्चनिदानों का विवेचन करते हुए ज्वरविकार, रक्तपित्तविकार, पाण्डुविकार, कामलाविकार, कामलाविकार के भेद कुम्भकामला एवं हलीमक, तृष्णाविकार, मूर्च्छाविकार, उदरविकार आदि का निदानात्मक पर्यालोचन परिलक्षित हुआ है। सभी पैत्तिकविकारों में विकार के पूर्वरूप, रूप, लक्षण, भेद एवं उपशय-अनुपशय सहित विवेचना की गई है।

पञ्चम अध्याय में पित्तज विकारों का उपचारात्मक पर्योलचनात्मक अध्ययन किया है। इसमें सर्वप्रथम ज्वरविकार का उपचारात्मक पर्यालोचन किया गया है जिसमें सबसे पहले लंघन करने का निर्देश आयुर्वेद में वर्णित है। इसी प्रकार रक्तपित्त एवं पाण्डुविकार में भी लंघन करने का विधान आचार्य स्पष्ट करते हैं। पैत्तिक विकारों में वमन-विरेचन, यवागू, रक्तमोक्षण, नस्य, बाह्य अभ्यंग एवं औषधादि द्वारा उपचार किया जाता है, जिससे पैत्तिकविकारों का शीघ्र ही शमन हो जाता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण शोधप्रबन्ध में **"आयुर्वेदसम्मत पित्तविकार का पर्यालोचनात्मक अध्ययन"** विषय को केन्द्र में रखकर विश्लेषणात्मक, विवेचनात्म्क एवं व्याख्यात्मक शोधप्रविधियों का प्रयोग करते हुए शोधविषय को प्रबन्धित किया गया है।

प्रथम अध्याय

आयुर्वेद की ज्ञान परम्परा सामान्यतः परमपिता ब्रह्मा से प्रारम्भ होती है। ब्रह्मा का नाम 'स्वयंभू' है अर्थात् उसे किसी ने नहीं बनाया, अपितु सभी प्राणी ब्रह्मा से उत्पन्न हुए हैं। इसलिए यह आयुर्वेद शास्त्र शाश्वत होने के कारण ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ है। यहाँ पर उत्पन्न होने का तात्पर्य है आयुर्वेद का प्रकट होना। *चरकसंहिता* में इसका स्पष्ट विवेचन किया गया है कि **"ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः"** अर्थात् ब्रह्मा ने आयुर्वेद का उपदेश दिया।[30]

आयुर्वेदीय संहिताओं में आचार्य परम्परा का क्रम ब्रह्मा से इन्द्र तक समान्तर चलता है। ब्रह्मा ने आयुर्वेद का उपदेश दक्ष प्रजापति को दिया, दक्ष ने दो अश्विनी कुमारों को, अश्विनी कुमारों ने इन्द्र को आयुर्वेद का उपदेश दिया। तदुपरान्त प्रत्येक संहिता में अलग-अलग क्रम दिखाया गया है। *चरकसंहिता* के रसायन अध्याय में ब्रह्मा और इन्द्र के नाम से रसायनों का उल्लेख समुपलब्ध होता है, अश्विनी कुमारों के नाम पर च्यवनप्राश की प्रसिद्धि मिलती है। ऋषिगण इन्द्र के समीप अपने शरीर को स्वस्थ रखने एवं रोगों के प्रशमनार्थ गए, उन ऋषिगणों को इन्द्र ने दिव्य औषधियाँ सेवन करने के लिए कहा था। दक्ष प्रजापति के नाम पर कोई रसायन *चरकसंहिता* में प्राप्त नहीं होती है। *चरकसंहिता* में राजयक्ष्मा रोग के प्रसंग में दिखाई देता है कि दक्ष प्रजापति के दामाद चन्द्रमा को क्षय रोग होने का कारण, दक्ष का ही शाप है, जिसकी चिकित्सा प्रजापति ने स्वयं न करके अश्विनी कुमारों से करवाई थी।[31] *चरकसंहिता* में ब्रह्मा के लिए पितामह शब्द प्रयुक्त हुआ है।[32]

---

[30] *च०सं०, सू०* 1/4

[31] *च०सं०,चि०* 8/7-9

[32] त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः, *च०सं०,सू०* 1/24

पौराणिक ग्रन्थों में सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मा से, सृष्टि का पालन विष्णु से एवं संहार शिव से स्वीकृत है। पुराणपरम्परा में ब्रह्मा और दक्ष दो भिन्न देवता स्वीकार किए गए हैं। परन्तु *काश्यपसंहिता* में प्रजापति दक्ष का उल्लेख नहीं मिलता, इस संहिता के अनुसार ब्रह्मा से साक्षात् अश्विनी कुमारों ने आयुर्वेद का ज्ञान लिया, अश्विनौ से इन्द्र ने ज्ञान ग्रहण किया। ब्रह्मा और अश्विनौ के मध्य में दक्ष प्रजापति का नामोल्लेख सम्भवतः ज्ञान और प्रजा-उत्पत्ति दोनों की भिन्नता दिखाने के लिए किया गया है। ब्रह्मा का ज्ञानोत्पत्ति से एवं दक्ष प्रजापति का अपत्योत्पादन से सम्बन्ध रखना है। इस भेदकल्पना से आयुर्वेदिक ज्ञान का अवतरण किया गया। *चरकसंहिता* में प्रजा उत्पत्ति से पूर्व आयुर्वेद का ज्ञान उत्पन्न होने का उल्लेख प्राप्त होता है अर्थात् सर्वप्रथम ज्ञान उत्पन्न हुआ तदुपरान्त प्रजा की उत्पत्ति हुई। इसमें ज्ञान का सम्बन्ध ब्रह्मा से एवं प्रजा उत्पत्ति का सम्बन्ध दक्ष प्रजापति से है। अतएव ब्रह्मा ने दक्ष प्रजापति को ज्ञान का प्रथम उपदेश दिया।[33] दक्ष प्रजापति को ब्रह्मा का मानस पुत्र स्वीकार किया जाता है। पौराणिक ग्रन्थों में आयुर्वेदिक परम्परा से भिन्न परम्परा मिलती है। *ब्रह्मवैवर्तपुराण* में आयुर्वेद की उत्पत्ति प्रजापति से बताई है। प्रजापति ने चारों वेदों का विचार करके आयुर्वेद का निर्माण किया। इस पाँचवे वेद को उन्होंने भास्कर को दिया। भास्कराचार्य ने स्वतन्त्र संहिता बनाकर कर इसे अपने शिष्यों को पढ़ाया। भास्कर आचार्य के शिष्यों में धन्वन्तरि, दिवोदास, काशिराज, अश्विनौ, नकुल, सहदेव, अर्की, च्यवन, जनक, बुध, जाबाल, जाजलि, पैल, करथ तथा अगस्त्य थे। इसके शिष्यों ने अपने-अपने तन्त्र बनाए, धन्वन्तरि ने *चिकित्सातत्त्वविज्ञान*, दिवोदास ने *चिकित्सादर्शन*, काशिराज ने *चिकित्साकौमुदी*, अश्विनौ ने *चिकित्सासारतन्त्र* और *भ्रमघ्न*, नकुल ने *वैद्यकसर्वस्व*, सहदेव ने *व्याधिसिन्धुविमर्दन*, यम ने *ज्ञानार्णव*, च्यवन ने *जीवदान*, जनक ने *वैद्यसन्देहभंजन*, चन्द्रमा के पुत्र बुध ने *सर्वसार*, जाबाल ने *तंत्रसार*, जाजलि ने *वेदाङ्गसार*, पैल ने *निदान*, करथ ने *सर्वधर*, अगस्त्य ने *द्वैधनिर्णयतन्त्र* का निर्माण किया।

[33] ब्रह्मा प्रोवाच ततः प्रजापतिरधिजगे, *सु०सं०,सू०* 1/19

ये सोलह तंत्र ही चिकित्सा के बीज, रोगों का प्रशमन करने वाले और बलवर्धक थे।[34] इस प्रकार पुराणों में भी आयुर्वेद की सुदीर्घ परम्परा समुपलब्ध होती है। जो आयुर्वेदीय संहिताओं से पूर्णतया भिन्न है। अतः आयुर्वेद परम्परा के दो प्रकार हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं, जिसे चित्र के माध्यम से स्पष्टतया समझा जा सकता है-

आयुर्वेदावतरण[35]

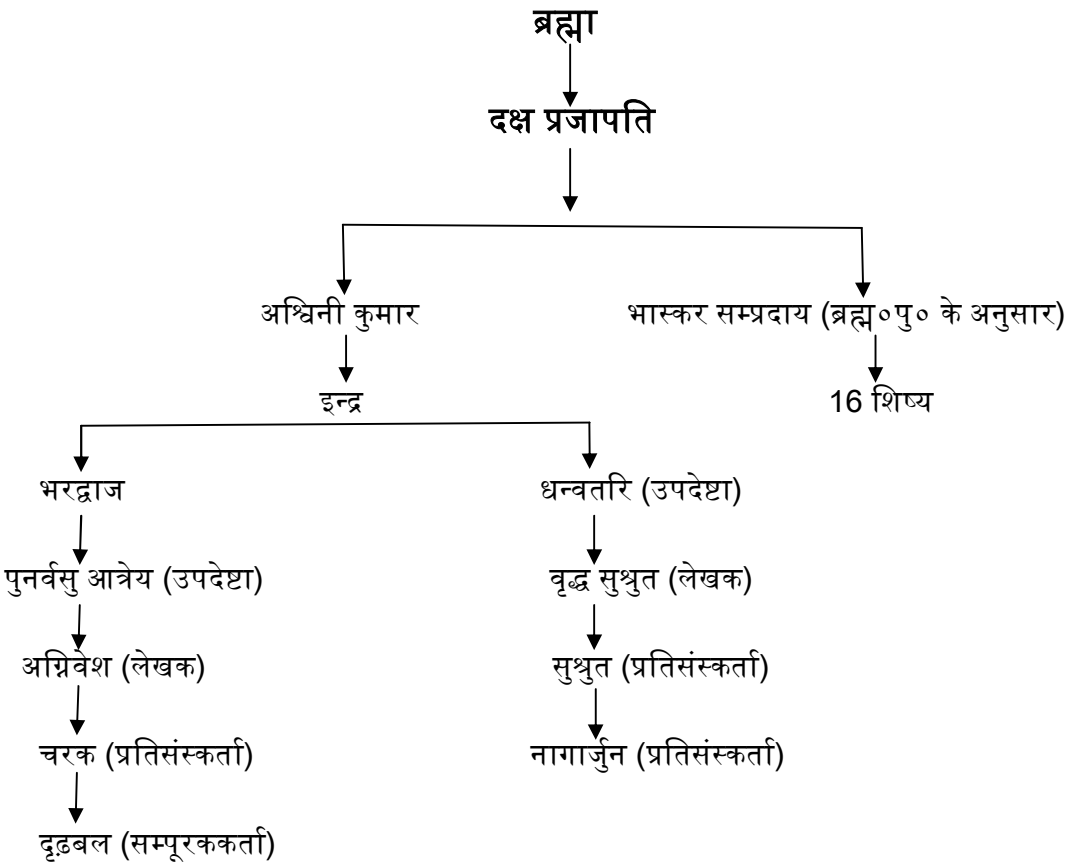

---

[34] ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापति। विचिन्त्य तेषामर्थञ्चैवायुर्वेदं चकार सः।।
कृत्वा तु पञ्चमं वेदं भास्कराय ददौ विभुः। स्वतन्त्रसंहितां तस्माद् भास्करश्च चकारः सः॥
भास्करश्च स्वशिष्येभ्य आयुर्वेदं स्वंहिताम्। प्रददौ पाठयामास ते चक्रुः संहितास्ततः॥ *ब्र०वै०पु०* ब्रह्मखण्ड अ०16

[35] *आ० इ०*, पृ० 117

1.1 आयुर्वेद की दैवीय परम्परा :- आयुर्वेदीय संहिताओं में सर्वप्रथम दैवीय परम्परा मिलती है, जिनमें ब्रह्मा, दक्ष प्रजापति, दो अश्विनी कुमार और इन्द्र देवताओं का उल्लेख समुलब्ध होता है। इनके विषय में वैदिक जानकारी इस प्रकार वर्णित है-

1.1.1 ब्रह्मा :- ब्रह्मा सृष्टि में ज्ञान का प्रसार करने वाले हैं, इन्हीं से चारों वेदों की उत्पत्ति हुई। भारतीय संस्कृति में ज्ञान की उत्पत्ति ब्रह्मा से स्वीकार की जाती है। वेदों के उपदेष्टा को कतिपय विद्वान् ऐतिहासिक स्वीकार करते हैं, वे इनको आयुर्वेद का प्रथम उपदेष्टा स्वीकार करते हैं।[36] *चरकसंहिता* में ब्रह्मा के लिए प्रजापति शब्द प्रयुक्त हुआ है- "**ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः"।**[37] इस प्रकार ब्रह्मा आयुर्वेद के प्रथम उपदेष्टा स्वीकार किए गए हैं।

1.1.2 दक्ष प्रजापति :- दक्ष प्रजापति परमपिता ब्रह्मा के मानस पुत्रों में से एक हैं। इनके लिए महाभारत के आदिपर्व में प्राचेतस शब्द प्रयुक्त हुआ है।[38] आयुर्वेद परम्परा में भी प्राचेतस दक्ष का उल्लेख प्राप्त होता है- **ज्वरस्तु स्थाणुशापात् प्राचेतसत्वमुगातस्य प्रजापतेः क्रतौ निश्चचार।** *चरकसंहिता*[39]में ज्वर प्रकरण के सम्बन्ध में दक्ष का उल्लेख समुपलब्ध होता है।

1.1.3 अश्विनौ :- इस देवता का चिकित्सा के सम्बन्ध में उल्लेख वेदों से प्राप्त होता है। *महाभारत* में वर्णित है कि जब उपमन्यु आक के पत्ते खाकर अन्धा हो गया, तब आचार्य ने उसे अश्विनौ की स्तुति करने के लिए कहा।[40] दो अश्विनी कुमारों के सम्बन्ध में जो उपासना उपमन्यु ने की, उसमें इनके नानारूप प्राप्त होते हैं। यथा- हे अश्विनी कुमारों ! आप दोनों सृष्टि से पूर्व विद्यमान थे, आप ही पूर्वज हैं, आप ही चित्रभानु हैं, दिव्य स्वरूप वाले हैं, सुन्दर पंखवाले दो पक्षियों की भाँति सर्वदा साथ रहते हैं, आप रजोगुण एवं अभिमान रहित हैं।

---

[36] *आ०इ०,अ०* 2, पृ०17,

[37] *च०सं०, सू०* 1/4

[38] *म०भा०,आ०प०* 70/4

[39] पश्यन् समर्थश्चोपेक्षां चक्रे दक्षः प्रजापतिः॥ पुनर्महेश्वरं भागं ध्रुवं दक्षः प्रजापतिः। *च०सं०, चि०* 3/16-17

[40] अश्विनौ स्तुहि। तौ देवभिषजौ त्वां चक्षुष्मन्तं कर्तारौविति। *म०भा०,आ०प०* 3/56

आप सूर्य देव के पुत्र हैं, दिन-रात एवं वर्ष के निर्माता हैं।[41] इस प्रकार अश्विनौ कुमार उपमन्यु की प्रार्थना से प्रसन्न हुए और उन्होंने उसकी आँखें ठीक कर दी। *महाभारत* के शान्तिपर्व में अश्विनी कुमारों को शूद्र कहा गया है।[42] ये उग्र तपस्या करने पर शूद्र ही रहे, इनको यज्ञ का भाग नहीं दिया गया, च्यवन ऋषि ने इनको यज्ञभाग दिलवाया। इस प्रकार अश्विनी कुमारों ने अपनी दिव्यशक्ति से पीड़ितों को ठीक किया।

1.1.4 इन्द्र :- यह राष्ट्रीय देवता हैं, इनके विषय में पौराणिक गाथाएँ बहुत मिलती है। इनको प्रारम्भ में विद्युत का देवता स्वीकार किया जाता था, जो वर्षा को रोकने वाले राक्षसों का संहार करता था। इसे युद्ध का देवता एवं आर्यों का रक्षक भी कहा जाता है। यह व्रज को धारण करते हैं जिसे त्वष्टा ऋषि ने अष्टावक्र की हड्डियों से बनाया था। इनके पिता द्यौ, अग्नि और पूषा भाई तथा इनकी इन्द्राणी पत्नी है। इसका रथ सुनहला है, इसके रथ के घोड़े हरे रंग के हैं। *चरकसंहिता* में इसके नाम से इन्द्रोक्त रसायन[43] एवं दूसरी इन्द्रोक्त रसायन[44] मिलती है, इसमें स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोह, प्रवाल, वैडूर्य, मुक्ता, शंख, स्फटिक का भी उपयोग होता है। जिस ऋषि ने इन्द्र से आयुर्वेद का जो ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा जागृत की, वही इन्द्र ने उसे सिखाई, धन्वन्तरि ने आयुर्वेद के आठ अंगों का ज्ञान प्राप्त किया था।[45] इन्द्र के पास भरद्वाज ऋषि दीर्घजीवन की इच्छा से गए थे, उसे इन्द्र ने इसी विद्या का ज्ञान दिया, जिसे प्राप्त करके भरद्वाज ने दीर्घायु प्राप्त की।[46]

---

[41] षष्टिश्च गावस्त्रिंशताश्च धेनव एकं वत्सं सुवते तं दुहन्ति। *म०भा०,आ०प०* 3/61-63

[42] *म०भा०,शा०प०* 20/1/33

[43] *च०सं०,चि०* 1/4-6

[44] *च०सं०,चि०* 1/4/13-26

[45] ब्रह्मा प्रोवाच ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्मादश्विनौ, अश्विभ्यामिन्द्रः, इन्द्रादहं, मया त्विह प्रदेयमर्थिभ्यः प्रजाहितहेतोः॥ *सु०सं०,सू०*1/21

[46] *च०सं०,सू०* 1/25-27

तैत्तिरीयब्राह्मण के अनुसार इन्द्र उपदेश देने के कारण सभी देवताओं में श्रेष्ठ हैं।[47] इस प्रकार ब्रह्मा से लेकर इन्द्र तक की दैवीय परम्परा सभी संहिताओं में समुपलब्ध होती है। तदनन्तर मानुषी परम्परा बृहत्त्रयी में अलग-अलग प्राप्त होती है।

1.2 *चरकसंहिता* की मानवीय आचार्य परम्परा :- आधुनिक समय में उपलब्ध *चरकसंहिता* को यह रूप अनेक परिवर्तनों के बाद प्राप्त हुआ है। इस संहिता के प्रारम्भ में आयुर्वेदावतरण का जो वर्णन समुपलब्ध होता है उसके अनुसार ब्रह्मा से प्रजापति, प्रजापति से अश्विनीकुमार, अश्विनी कुमार से इन्द्र तथा इन्द्र से भरद्वाज ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया।[48] जिसका ज्ञान उन्होंने ऋषियों को दिया। तत् पश्चात् पुनर्वसु आत्रेय ने पुनः यह ज्ञान अपने छः शिष्यों को हस्तान्तरित किया। इनमें सर्वप्रथम आत्रेय के उपदेशों को तन्त्ररूप में निबद्ध करने वाले अग्निवेश थे। उसके बाद भेल आदि ने अपने-अपने तन्त्र बनाए। सभी शिष्यों ने अपनी रचनाएँ ऋषि-परिषद् के समक्ष आत्रेय को सुनाई, जिनके द्वारा अनुमोदित होने पर जगत् में प्रतिष्ठा को प्राप्त हुई।[49] इस तरह स्पष्ट होता है कि आत्रेय के उपदेशों को सर्वप्रथम निबद्ध करने वाले अग्निवेश थे और उनकी रचना ***'अग्निवेश-तन्त्र'*** सर्वप्रथम रचना थी। संहिता में प्राप्त आख्यान से स्पष्ट होता है कि ये रचनाएँ मूलतः तन्त्ररूप में प्रसिद्ध थी और इनमें विषयों का प्रतिपादन सूत्ररूप में किया गया था।[50] अतः यह सूत्ररचना का काल था जिसमें संस्कृत वाङ्मय में वैदिक ज्ञान के आधार पर अनेक सूत्रों का निर्माण हो रहा था। सूत्ररूप *अग्निवेशतंत्र* पर चरक ने संग्रह तथा भाष्य लिखा जो *चरकसंहिता* के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस संहिता का कालान्तर में दृढ़बल ने पुनः प्रतिसंस्कार किया। इन तीनों स्थितियों का संकेत सूत्रभाष्यसंग्रहक्रम के द्वारा किया गया है।[51]

---

[47] इन्द्रः खलु वै श्रेष्ठो देवतानाम्। उपदेशनात्। *तै०ब्रा०* 2/3/1

[48] ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः। जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः।।
अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः प्रतिपेदे ह केवलम्। ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तमाच्छक्रमुपागमत्॥ *च०सं०,सू०* 1/4-5

[49] *च०सं०,सू०*1/30-40

[50] बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीन्नोपदेशान्तरं मुनेः। तन्त्रस्य कर्ता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत्॥ *च०सं०,सू०* 1/32

[51] *च०सं०,वि०* 8/3

अतः *अग्निवेशतन्त्र* सूत्र, संग्रह तथा भाष्य के क्रम से परिणत होकर वर्तमान समय में *चरकसंहिता* के रूप में विद्यमान है। वर्तमान *चरकसंहिता* में काल की दृष्ट्या तीन स्तर समाहित होते हैं-

क. **उपदेष्टा आत्रेय तथा तन्त्रकर्ता अग्निवेश**।

ख. **भाष्यकार चरक**।

ग. **प्रतिसंस्कर्ता दृढबल**।

सर्वप्रथम ऋषियों द्वारा आयुर्वेद का ज्ञान भरद्वाज से प्राप्त किया, ऐसा उल्लेख *चरकसंहिता* में प्राप्त होता है। अतः सर्वप्रथम मानुषी परम्परा में भरद्वाज का उल्लेख किया जा रहा है।

1.2.1 भरद्वाज :- भारतीय साहित्य में भरद्वाज नामक अनेक आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें से कुछ भरद्वाज नामक आचार्यों का सम्बन्ध आयुर्वेद शास्त्र से है। *तैत्तिरीयब्राह्मण* के अनुसार इन्द्र ने तृतीय पुरुषायुष की समाप्ति पर भरद्वाज को वेद की अनन्तता का उपदेश किया था।[52] *चरकसंहिता* में भरद्वाज[53], कुमारशिरा भरद्वाज[54] तथा वाष्कलि भरद्वाज[55] नाम समुपलब्ध होता है। भरद्वाज का नाम व्याकरण शास्त्र में भी मिलता है। ये आचार्य बृहस्पति के पुत्र हैं। सूरमचन्द्र का मत है कि दीर्घजीवन की इच्छा जिस विद्वान् ने की थी, वे यही हैं। यही भरद्वाज आयुर्वेद के उपदेष्टा स्वीकार किए गए हैं।[56] द्वितीय भरद्वाज कुमारशिरा है, इनका मुख्य नाम कुमारशिरा है ; सम्भवतः भरद्वाज उपनाम के रूप है।

---

[52] भरद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भिब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्णं स्थविरं शयानम्। इन्द्र उपव्रज्योवाच।
भरद्वाज यत्ते चतुर्थमायुर्दद्याम्। किमेनेन कुर्या इति। ब्रह्मचर्यमेवैनेन चरेयमिति होवाच। *तै०ब्रा०* 3/10/11/3

[53] दीर्घञ्जीवितमन्विच्छन्भरद्वाज उपागमत्। इन्द्रमुग्रतपा बुद्ध्वा शरण्यममरेश्वरम्॥ *च०सं०,सू०* 1/3

[54] यः कुमारशिरा नाम भरद्वाजः स चानघः। *च०सं०,सू०* 26/4

[55] *वै०वा०इ०*, भा०1, पृ०75

[56] *आ०इ०*, पृ०141

तृतीय भरद्वाज एक और हैं, सूरमचन्द्र इनको वाष्कलि भरद्वाज स्वीकार करते हैं। ये आत्रेय पुनर्वसु के गुरु भरद्वाज से अलग हैं, क्योंकि इनके मत की समीक्षा आत्रेय के साथ की गई है।

चरकसंहिता में कई स्थलों पर आत्रेय ने भरद्वाज के मत को स्वीकार न करके उसका खण्डन किया है। अतः ये भरद्वाज, आत्रेय के गुरु से अलग हैं। सूरमचन्द्र ने *हरिवंशपुराण* का यह वचन उद्धृत किया है **बृहस्पतेराङ्गिरसः पुत्रो राजन् महामुनिः। संक्रामितो भरद्वाजः मरुद्भिः क्रतुभिर्विभुः॥**[57] अर्थात् हे राजन् ! अंगिरस का पुत्र भरद्वाज मरुदगणों द्वारा सम्राट् भरत को दिया गया। इस कथा को आधार स्वीकार करके उन्होंने एक वंशावली दी है। उसमें भरद्वाज के नर, गर्ग, पायु और द्रोण पुत्र बताए गए हैं।[58] *मत्स्यपुराण* के एक श्लोक के अनुसार बार्हस्पत्य भरद्वाज को ही सम्राट् भरत द्वारा गोद लिया गया, ऐसा स्वीकार करते हैं। वे भरद्वाज का नाम **'द्वयामुष्यायण'** उपस्थित करते हैं। इसे द्वयामुष्यायण इसलिए कहते हैं क्योंकि इनके दो पिता थे ; एक बृहस्पति और दूसरे भरत। अतः इनकी सन्तान ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों हुई।[59]

काश्यपसंहिता में भी कृष्णभारद्वाज का उल्लेख प्राप्त होता है।[60] भरद्वाज के साथ कृष्ण विशेषण आत्रेय के कृष्ण विशेषण को स्मरण करवाता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि दोनों का कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध था। कृष्ण यजुर्वेद का सम्बन्ध वैशम्पायन से है, जो याज्ञवल्क्य के गुरु स्वीकृत हैं। *काश्यपसंहिता* में भरद्वाज के स्थान पर भारद्वाज पाठ है ; *चरक संहिता* में भरद्वाज ही प्राप्त होता है। भारद्वाज शब्द गोत्र में होने वाले व्यक्तियों के लिए स्वीकार करना ठीक है, न कि भरद्वाज के लिए। ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। *काश्यपसंहिता* के भरद्वाज आत्रेय की शाखा से सम्बन्ध अवश्यक रखते हैं, परन्तु *चरकसंहिता* में जो भरद्वाज का उल्लेख प्राप्त होता है, उनसे ये पृथक् हैं।

---

[57] बृहस्पतेराङ्गिरसः पुत्रो राजन्महामुनिः। संक्रामितो भरद्वाजो मरुद्भिः क्रतुभिर्विभुः॥ *हरि०पु०*1/32/14

[58] *आ०इ०,* दीपक यादव 'प्रेमचन्द', पृ० 143-144

[59] *म०पु०* 49/27-30

[60] काश्यपसंहितायां कृष्णभारद्वाजस्य निर्देशश्चास्ति। *का०सं०,सू०* 27/3, पृ० 26

भरद्वाज अनेक हैं, कुछ नामों के विशेषण हैं और कुछ के साथ नहीं, इसलिए भरद्वाज सबसे पृथक् हैं। ये न तो *काश्यपसंहिता* के भारद्वाज हैं न कुमारशिरा और न *चरकसंहिता* के शारीरस्थान के मन्त्र में आए भरद्वाज हैं। आत्रेयादि ऋषियों के गुरु के रूप में इनका वर्णन प्राप्त होने से इनका काल आत्रेय के समकाल, परन्तु किञ्चित् पूर्व का स्वीकार किया जा सकता है। अतः इनका काल ई० पू०1500 से ई०पू०1000 स्वीकार किया जा सकता है।

1.2.2 पुनर्वसु आत्रेय :- पुनर्वसु आत्रेय ने भरद्वाज से साक्षात् आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की या परम्परा से यह कहना कठिन है क्योंकि भरद्वाज से ऋषियों ने ज्ञान प्राप्त किया, इतना ही निर्देश समुपलब्ध होता है। परन्तु इस परम्परा का स्पष्टतया उल्लेख न होने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भरद्वाज से ज्ञान प्राप्त करने वाले ऋषियों में पुनर्वसु आत्रेय भी थे ; परन्तु *चरकसंहिता* के चिकित्सास्थान के रसायनपाद में जो आख्यान आया है उसके अनुसार भृगु, अंगिरस, अत्रि, वशिष्ट, कश्यप आदि महर्षि स्वयं इन्द्र के पास हिमालय प्रदेश में गए थे और उनसे आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी।[61]

चरकसंहिता में पुनर्वसु आत्रेय, कृष्णात्रेय तथा भिक्षु आत्रेय नामक ये तीनों नाम समुलपब्ध होते हैं। इन तीन नामों के अतिरिक्त अत्रि नाम भी उपलब्ध होता है। इन नामों में पुनर्वसु आत्रेय और कृष्णात्रेय एक ही व्यक्ति हैं और भिक्षु आत्रेय इनसे पृथक् हैं। आत्रेय के साथ पुनर्वसु विशेषण पुनर्वसु नक्षत्र में जन्म होना एवं कृष्ण विशेषण वैशम्पायन की शाखा कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्धित होना बतलाता है। *चरकसंहिता* के सूत्रस्थान में पुनर्वसु आत्रेय ने भिक्षु आत्रेय के मत का खण्डन किया है, इसी मत से यह इनसे पृथक् स्वीकार किए जाते हैं। विद्वान् पुनर्वसु आत्रेय को अत्रि का पुत्र स्वीकार करते हैं। यह मत अग्निवेश के गुरु के लिए *चरकसंहिता* में अनेक स्थानों पर आया है। यथा- अत्रिसुतः[62], अत्रिजम्[63], अत्र्यात्मजः[64] और अत्रिजः[65]।

---

[61] *च०सं०,चि०* 1/4/3

[62] अत्रिसुतो जगद्धितेऽभिरतः, *च०सं०,चि०* 22/3

अत्रि ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। *बुद्धचरित* के अनुसार इन्होंने चिकित्साशास्त्र का निर्माण नहीं किया, अपितु इसके पुत्र ने उपदेश किया।[66] *चरकसंहिता* में आत्रेय के लिए चान्द्रभागी शब्द एक स्थान पर प्रयुक्त हुआ है- **"यथा प्रश्नं भगवता व्याहृतं चान्द्रभागिना"**।[67] इसका अर्थ चक्रपाणि ने पुनर्वसु आत्रेय किया है। *भेलसंहिता* में दो स्थानों पर चान्द्रभागी शब्द आत्रेय के लिए प्रयुक्त हुआ है। पं. हेमराज *काश्यपसंहिता* के उपोद्घात में पुनर्वसु आत्रेय की माता का नाम चन्द्रभागा स्वीकार करते हैं।[68] भारतवर्ष में एक नदी का नाम चन्द्रभागा है, *मनुस्मृति* में नदी के नामवाली कन्या से विवाह करना निषिद्ध माना गया है।[69] इसलिए चान्द्रभागी का पुत्र मानने की अपेक्षा चन्द्रभागा प्रदेश में उत्पन्न होने के कारण चन्द्रभागा नाम होना, अधिक युक्तिसंगत लगता है।

आत्रेय के समय के विषय में कोई निश्चित सूत्र उपलब्ध नहीं होता। बौद्धकाल में तक्षशिला के शिक्षक आत्रेय का नाम मिलता है। इनका *चरकसंहिता* के आत्रेय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हैं, क्योंकि *चरकसंहिता* में **'तक्षशिला'** का उल्लेख नहीं है। इसलिए *चरकसंहिता* के उपदेष्टा इससे भिन्न हैं ; सम्भवतः गोत्रसाम्य से नामसाम्य होगा। अग्निवेश आदि शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश देने वाले आत्रेय का समय निश्चित करने का सबसे बड़ा साधन उनका उपदेश है। *चरकसंहिता* में काम्पिल्य नगर को **'द्विजातिवराध्युषित'** कहा गया है। चक्रपाणि ने द्विजातिवराध्युषित का अर्थ **'महाजन सेवित'** किया है।

---

[63] प्रपच्छ शिष्योऽत्रिजमग्निवेशः, *च०सं०,चि०* 20/3

[64] मुनीन्द्रमत्र्यात्मजमग्निवेशः, *च०सं०,चि०* 12/3

[65] इति शिष्येण पृष्टस्तु प्रोवाचर्षिवरोऽत्रिजः, *च०सं०,चि०* 30/7

[66] चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषर्जगाद। *बु०च०* 1/43

[67] *च०सं०,सू०* 13/100

[68] *का०सं०* उपोद्घात, पृ० 39

[69] नक्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्, *म०स्मृ०* 3/9

शतपथ ब्राह्मण में काम्पिल्य का उल्लेख करते हुए वर्णन किया गया है 'यहाँ पर वैदिक संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि, शिष्टाचार के आदर्श, संस्कृत भाषा के उत्तम वक्ता, यज्ञों में विधिपूर्वक यजन करने वाले थे।[70] इससे स्पष्ट होता है कि काम्पिल्य की प्रसिद्धि तथा तक्षशिला के अस्तित्व में आने से पूर्व का समय कृष्ण आत्रेय का है, जो कि बुद्ध से पूर्व एवं उपनिषदों का अन्तिम काल है। पुनर्वसु आत्रेय तथा अग्निवेश गुरु-शिष्य होने के कारण समकालीन है। वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि नाक्षत्रिक नाम उपनिषदों में नहीं मिलते, पाणिनिकाल में मिलते हैं। उपनिषदों में गोत्रवाचक नाम ही अधिकांश मिलते हैं।[71] इससे यही प्रतीत होता है कि उपनिषद् काल के अन्त में तथा पाणिनिकाल से कुछ पूर्व में इस आचार्य की जन्मस्थिति है।

1.2.3 अग्निवेश :- कृष्ण आत्रेय के छह शिष्यों में सर्वप्रथम अग्निवेश का नाम आता है, जिन्होंने आत्रेय के उपदेशों को तन्त्ररूप में संकलन किया।[72] *सुश्रुतसंहिता* में भी छः कायचिकित्सकों का उल्लेख मिलता है, जो सम्भवतः अग्निवेश आदि छः तन्त्रकारों के लिए अभिप्रेत है।[73] *अग्निवेशतन्त्र* का वर्तमान रूप ही *चरकसंहिता* मानी जाती है। परन्तु इससे पृथक् *अग्निवेशतन्त्र* समुपलब्ध होता था ; ऐसा कहा जाता है। *सुश्रुतसंहिता* के टीकाकार डल्हण ने चिकित्सास्थान के अड़तीसवें अध्याय में 'अग्निवेश' के मत का वर्णन किया है- **"त्रिंशन्मात्रा इति मात्रामानं हि अग्निवेशेन व्याख्यातम्- यावत्पर्येति हस्ताग्रं दक्षिणं जानुमण्डलम्। निमेषोन्मेषकालो वा सा मात्रा परिकीर्तिता"॥**[74] जैज्जट ने अपनी टीका में *अग्निवेशतन्त्र* के जो वचन उद्धृत किए हैं, वे वर्तमान कालीन *चरकसंहिता* में उपलब्ध नहीं होते है। यवागू-सिद्ध में प्रचलित परिभाषा का जो श्लोक टीका में *अग्निवेशतन्त्र* के नाम से दिया गया है वह पूर्णतः प्राचीन है। चक्रपाणि ने अपनी टीका में अग्निवेश का वचन परिभाषा रूप में उद्धृत किया है।

---

[70] *श०ब्रा०* 3/2/3/15

[71] *पा०भा०*, पृ० 181-185

[72] शिष्योभ्यो दत्तवान् षड्भ्यः सर्वभूतानुकम्पया।। अग्निवेशश्च भेलश्च जतूकर्णः पराशर। *च०सं०,सू०* 1/30-31

[73] षट्सु कायचिकित्सासु ये चोक्ता परमर्षिभिः। *सु०सं०,उ०* 1/6

[74] *सु०सं०,चि०* 38/4-6 पर निबन्धसंग्रहटीका पृ० 439

इससे स्पष्ट होता है कि चक्रपाणि के समय *अग्निवेशतन्त्र* था **द्रव्यमापोथितं क्वाथ्यं दत्त्वा षोडशिकं जलम्। पादशेषं च कर्त्तव्यमेष क्वाथविधि स्मृतः। चतुर्गुणेनाम्भसा वा द्वितीयः समुदाहृतः॥**[75] चक्रपाणि ने अपनी टीका में कृष्णात्रेय का वचन भी उद्धृत किया है- **पातव्यकषाये कृष्णात्रेयः- क्वाथद्रव्यपले वारि द्विरष्टगुणमिष्यते।** अतः *अग्निवेशतन्त्र* सूत्र रूप में अवश्य रहा होगा। जिसमें विषयों का वर्णन संक्षेप रूप में किया गया होगा।

चरक ने ***'अग्निवेशतन्त्र'*** पर भाष्य लिखते हुए इन विषयों का विस्तार किया होगा, साथ ही संवाद का रूप दिया होगा। शिवदास सेन ने *अग्निवेशतन्त्र* के पन्द्रहवीं शताब्दी तक उद्धरण दिये हैं। अतः चरक द्वारा प्रतिसंस्कार के बाद भी *अग्निवेशतन्त्र* संहितारूप में रही होगी। आधुनिक समय में अग्निवेश रचित *'अञ्जननिदान'* नामक ग्रन्थ समुलपब्ध होता है, जोकि मूल अग्निवेश द्वारा रचित न होकर वर्तमानकालीन रचना प्रतीत होती है। अग्निवेश का समय वही होगा जो इनके गुरु पुनर्वसु आत्रेय का होगा। क्योंकि गुरु-शिष्य में आयु की सीमा का थोड़ा अन्तर हो सकता है। गर्गादि गण में पाणिनि ने जतुकर्ण-पराशर-अग्निवेश का उल्लेख किया है। तक्षशिला आदि का वर्णन करने से पाणिनि का काल ई०पू०सातवीं शताब्दी स्वीकार करते हैं। परन्तु *चरकसंहिता* में तक्षशिला का उल्लेख नहीं होने के कारण अग्निवेश का काल पाणिनि से पूर्व ही होना चाहिए।

भारतीय इतिहास के प्रख्यात विद्वान् विण्टरनिट्ज का कथन है कि वेदों का समय 2000 या 2500 ई०पू० से प्रारम्भ कर 750-500 ई०पू० होना चाहिए।[76] इस दृष्टि से उपनिषद् काल 1000 ई०पू० होना चाहिए और यही समय अग्निवेश का भी होगा।

---

[75] *च०सं०,चि०* 3/197

[76] *A History of Indian Literature*, Vol. pt. I, Page no. 271, Winternitz.

1.2.4 चरक :- *अग्निवेशतन्त्र* पर चरक ने भाष्यात्मक प्रतिसंस्कार के परिणाम स्वरूप ***'चरकसंहिता'*** के रूप में परिणत होकर ख्याति प्राप्त की। *चरकसंहिता* में अग्निवेश के बाद का तथा प्रतिसंस्कर्ता दृढ़बल के बीच की जो भी देन है वह चरक की देन है।

चरक के अस्तित्व के सन्दर्भ में कई विद्वानों के अपने अलग-अलग मत-मतान्तर हैं। प्राचीनकालीन ऋषियों के दो भेद किए जाते हैं- शालीन और यायावरीय। इनमें शालीन प्रकार के ऋषि कुटिया बनाकर रहते हैं और यायावरीय घूमते रहते हैं। चरक 'यायावर' श्रेणी के ऋषि थे, जो एक स्थान पर स्थित न रहकर घूमते रहते थे। *कृष्णयजुर्वेद* की एक शाखा का नाम 'चरक' है और इस सम्प्रदाय के लोग भी चरक कहलाते थे। अतः वैदिक शाखा से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति का नाम चरक होगा।

"चरक इति वैशम्पायनस्याख्या, तत्सम्बन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनश्चरका इत्युच्यते"।[77]

कतिपय विद्वान् चरक का सम्बन्ध बौद्धों की चारिका से जोड़ते हैं तथा इसका अर्थ भ्रमणशील करते हैं। अथर्ववेद की एक शाखा 'वैद्यचारण' जो वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं होती, उससे आयुर्वेद का विशेष सम्बन्ध होने एवं चारण से चरक की निष्पत्ति होना भी कई विद्वानों को अभीष्ट है। वराहमिहिर के *बृहज्जातक* ग्रन्थ में संन्यासियों के परिप्रेक्ष्य में चरक शब्द प्रयुक्त होता है। उस समय चक्र धारण करने वाले अथवा योगाभ्यासी व्यक्तियों को भी चरक कहा जाता था। कतिपय विद्वान् इन्हें कनिष्क का राजवैद्य भी स्वीकार करते हैं। *काश्यपसंहिता* के उपोद्घात में वर्णित है कि सायण ने चरक का अर्थ बांस पर नृत्य करने वाले नट से लिया है।[78] *भावप्रकाश* में शेषनाग द्वारा लोकवृतान्त ज्ञात करने की इच्छा से चर रूप में पृथ्वी पर आने के कारण इनको चरक कहा गया है।[79]

---

[77] *काशिका* 4/3/104

[78] *का०सं०* उपोद्घात, पृ० 83

[79] अनन्तश्चिन्त्यामास रोगोपशमकारणम्। सञ्चितन्य स स्वयं तत्र मुनेः पुत्रो बभूव ह॥

इस प्रकार चरक शब्द के बहुत अर्थ ग्रन्थों में समुपलब्ध होते हैं। प्राचीन काल में भ्रमणशील 'चरक' मनुष्यों का हित सम्पादन करने वाले होते थे ; इस अर्थ में वे लोगों की आधि और व्याधि दोनों दुःखों को दूर करते थे। इसलिए वैद्यों के अर्थ में भी चरक शब्द व्यवहृत होने लगा। इनमें से कायचिकित्सा में निपुण किसी चरक ने अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कार किया होगा।

इस प्रकार *बृहज्जातक* की व्याख्या में वैद्यविद्या के विद्वान्, लोकहित की दृष्टि से प्रत्येक गाँव घूमकर वैद्यविद्या का उपदेश और चिकित्सा करने वालों को चरक कहा गया है। तदनन्तर आयुर्वेद विद्या में निपुण व्यक्तियों के लिए चरकाचार्य नाम प्रयुक्त होने लगा। कतिपय विद्वान् चरक का पतञ्जलि, अश्वघोष, याज्ञवल्क्य तथा सुश्रुत से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इन आचार्यों के साथ सम्बन्ध जोड़ने का भी विद्वानों के अनेक कारण हैं, जिन्हें अधोलिखित रूप में व्यक्त किया गया है-

अ.चरक और पतञ्जलि :- अनेक विद्वान् चरक को शेषनाग का अवतार स्वीकार करके इनका सम्बन्ध पतञ्जलि से करते हैं। इनकी एकता का भ्रम होने का कारण सम्भवतः उनका समकालीन होना, भाष्य की रचना करना तथा नाग से सम्बन्ध होना रहा है। भट्टार हरिचन्द के समय तक इनकी एकता के विषय में कोई भ्रम नहीं था। इनका सर्वप्रथम वर्णन स्वामिकुमार ने अपनी व्याख्या *'चरकञ्जिका'* में किया है- **"यश्चित्ते निभृतं निचाप्य बहिरप्यानन्दमुक्तोद्यतं भक्तानामपि दर्शयन्तमुरग्रप्राप्ताग्रहारं हरम्। वाचा व्याकरणेन शुद्धिमकरोद् योगेन चित्तस्य यस्तं वन्दे चरकं हिताय वपुषो व्याख्यावैद्यागमम्"।**[80] तत् पश्चात् इनका अनुसरण भर्तृहरि, चक्रपाणि, भावमिश्र आदि आचार्यों ने भी किया है।

प्रसिद्धस्य विशुद्धस्य। *भा०प्र०, पू०* 1/60

[80] *आ०इ०*, पृ०175

- ❖ *चरकसंहिता* में *महाभाष्य* की चतुष्पाद योजना नहीं है। चतुष्पाद की योजना केवल रसायन एवं वाजीकरण अध्यायों में ही दिखाई देती है। दोनों ग्रन्थों की विषय-वस्तु के विन्यास की शैली भी भिन्न-भिन्न है।
- ❖ *महाभाष्य* में मथुरा, पाटलिपुत्र का विशेष उल्लेख मिलता है इससे ज्ञात होता है कि उसके रचयिता उसी प्रदेश के निवासी थे। इसके विपरीत, *चरकसंहिता* में इन प्रदेशों के पश्चिम-उत्तरवर्ती प्रदेशों का उल्लेख किया गया है।
- ❖ पुष्यमित्र एवं चन्द्रगुप्त के नाम *चरकसंहिता* में समुपलब्ध नहीं होते।
- ❖ शक एवं यवनों का उल्लेख चरककृत अंश में नहीं मिलता, दृढ़बल अंश में प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि संभवतः शकों के आगमन के पूर्व या समकालीन चरक की स्थिति होगी। शकों का आगमन भारत में द्वितीय शताब्दी ई०पू० में हुआ था।

इसके अतिरिक्त, न तो *चरकसंहिता* में पतञ्जलि का और न ही *महाभाष्य* में चरक का कहीं भी नामोल्लेख होता है। यदि ये दोनों एक होते, तो कुछ संकेत होता या प्रतिसंस्कर्ताओं में से कोई तो उल्लेख करता।

ब.चरक और अश्वघोष :- कनिष्क के राजकवि अश्वघोष थे। इनकी दो प्रसिद्ध रचनाएँ वर्तमान समय में उपलब्ध होती है- *बुद्धचरित* एवं *सौन्दरानन्द*। दोनों ग्रन्थों में आयुर्वेद की सामग्री प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अश्वघोष स्वयं आयुर्वेद के प्रसिद्ध ज्ञाता थे। उस समय में आयुर्वेद का उपजीव्य ग्रन्थ *अग्निवेशतन्त्र* था या *चरकसंहिता* यह विचारणीय विषय है। इनके वर्णनों से ज्ञात होता है कि उसने *चरकसंहिता* का उपयोग किया है, किन्तु चरक का उल्लेख नहीं करके उसने मूल उपदेष्टा का उल्लेख किया है-

"वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः।

चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेयः ऋषिर्जगाद"।[81]

इस प्रकार प्रतीत होता है कि चरक अश्वघोष से पहले हुए थे।

स. चरक और याज्ञवल्क्य :- *चरकसंहिता* और *याज्ञवल्क्यस्मृति* में अनेक स्थानों पर आश्चर्यजनक साम्य दिखाई देता है। यथा- दैव और पुरुषकार के बलाबल का विवेचन, भूतों का अनुप्रवेश, गर्भ का मासिक विकास, त्वचा आदि की संख्या, परमात्मा के लिंग का निरुपण आदि। इन उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि याज्ञवल्क्य ने सभी विषय *चरकसंहिता* से उद्धृत किए हैं। पाणिनि, याज्ञवल्क्य, अश्वघोष, वाग्भट आदि के आधार पर चरक का समय द्वितीय शताब्दी ई०पू० रखने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार शल्यतन्त्र में धन्वन्तरि का एक सम्प्रदाय बन गया, उसी प्रकार इस चरक का एक सम्प्रदाय प्रचलित हुआ। जो चिकित्साशास्त्र में विशेष प्रकार से निपुण होते थे। अतः धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के जो संकेत *चरकसंहिता* में समुपलब्ध होते हैं उनके अनुसार चरक को द्वितीय या तृतीय शताब्दी ई०पू० के मध्य रखना चाहिए।

1.2.5 दृढ़बल :- आधुनिक *चरकसंहिता* के अन्त में यह उल्लेख मिलता है कि *चरकसंहिता* का एक तिहाई भाग उस समय प्राप्त नहीं था, जिसे दृढ़बल ने अन्य तन्त्रों के आधार पर सम्पूर्ण किया। इस संहिता में चिकित्सास्थान के 17 अध्याय तथा 12 अध्याय कल्पस्थान के तथा 12 अध्याय सिद्धस्थान के नहीं मिलते थे। इस प्रकार 120 अध्यायों में से 41 अध्याय दृढ़बल द्वारा रचित हैं। कतिपय विद्वानों का मत है कि चरक पूर्ण संहिता का प्रतिसंस्कार नहीं कर पाए थे, जो अधूरा रह गया था, उसे दृढ़बल ने सम्पूर्ण किया था।

---

[81] *बृ०च०* 1/43

लेकिन ऐसी सम्भावना अधिक है कि चरक ने पूर्ण संहिता का प्रतिसंस्कार किया था, जो कालचक्र से या अन्य कारणों से खण्डित हो गया, जिसे दृढ़बल ने सम्पूर्ण किया। क्योंकि दृढ़बल ने अपने द्वारा प्रतिसंस्कृत अंश के अन्त में **"अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बल संपूरिते"** दिया है। यदि यह अंश चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत नहीं होता तो वह चरक का नाम न देकर केवल अपना ही नाम देते।

दृढ़बल शिव के उपासक थे, अतः वे शैवधर्म मानने वाले थे। ये पञ्चनदपुर के रहने वाले थे। पञ्चनदपुर का अर्थ कविराज गंगाधर ने काशीपुरी किया है, किन्तु पञ्चनद शब्द पंजाब के लिए अधिक प्रसिद्ध है। उसके किसी महत्त्व के नगर का ही संकेत पञ्चनदपुर से होता है। *राजतंरगिणी* में पञ्चनदपुर का उल्लेख मिलता है। वाग्भट ने *अष्टाङ्गसंग्रह* में कपिलबल का निर्देश किया है कि **"कपिलबलस्तेषां स्वलक्षणानि रसतो निर्दिदेश"**।[82] जो इनके पिता थे। *चरकसंहिता* के चिकित्सास्थान के तीसवें अध्याय में कपिलबलि नाम समुपलब्ध होता है। *अष्टाङ्गसंग्रह* छठी शताब्दी की रचना स्वीकार की जाती है। अतः प्रसिद्धिकाल को देखते हुए दृढ़बल चौथी शताब्दी के स्वीकार किए जा सकते हैं। यह काल गुप्तसाम्राज्य का काल था। इसका विस्तार कश्मीर तथा काबुल तक था। यह काल भारतीय वाङ्मय के पुनरुत्थान का युग था। इस काल में प्राचीन संहिताओं को प्रतिसंस्कृत कर उन्हें युगानुरूप बनाया गया। सम्भावना है कि इस काल में आयुर्वेदीय संहिताओं को आधुनिक रूप मिला जो आद्यावधि चला आ रहा है। अतः *चरकसंहिता* में इस काल के जो तथ्य समुपलब्ध होते हैं वे दृढ़बल द्वारा ही नियोजित स्वीकार किए जाने चाहिए। प्रियव्रत शर्मा भी दृढ़बल का काल चतुर्थ शताब्दी स्वीकार करते हैं। अतः इस प्रकार भरद्वाज से लेकर दृढ़बल तक चरकसंहिता की परम्परा समुपलब्ध होती है। तत् पश्चात् चरकसंहिता पर अनेक टीकाएँ रची गई, जिनका वर्णन इस प्रकार है-

---

[82] *अ०सं०,सू०* 20/21

1.3 *चरकसंहिता* के टीकाकार :- प्राचीन काल में जो आर्ष ग्रन्थ लिखे गए थे, वें सूत्ररूप में संक्षिप्त स्वरूप वाले थे। इन ग्रन्थों का सरलीकरण परवर्ती प्रतिसंस्कर्ताओं ने किया। परन्तु फिर भी इन आर्ष संहिताओं के कई विषय विद्वानों के लिए दुष्कर ही बने रहे। कालान्तर में भट्टारहरिचन्द, चक्रपाणिदत्त आदि विद्वानों ने इन संदिग्ध एवं गूढार्थ विषयों का स्पष्टीकरण करने का संकल्प लेकर अपनी-अपनी रूचि एवं विद्वत्ता के अनुसार संहिताओं पर टीकाओं की रचना की। इसका सर्वप्रथम प्रारम्भ भट्टारहरिचन्द ने सातवीं शताब्दी में *चरकसंहिता* पर टीका लिखकर की। कालान्तर में बीसवीं शताब्दी तक ग्रन्थों पर अनेकानेक टीकाएँ लिखी गई। इन टीकाकारों को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है-

टीकाएँ[83]

प्राचीन काल (7वीं शती०- 8वीं शती०)

मध्यकाल (9वीं शती०-16 वीं शती०)

आधुनिक काल (17वीं शती०-20वीं शती०)

क्रम	काल	टीकाकार	रचनाएँ
1.	7वीं शती	भट्टारहरिचन्द	*चरकन्यास व्याख्या*
2.	7वीं शती	स्वामिकुमार	*चरकपञ्जिका व्याख्या*
3.	9वीं शती	जेज्जट	*निरन्तरपदव्याख्या*
4.	11वीं शती	चक्रपाणिदत्त	*आयुर्वेददीपिका*
5.	11वीं शती	गयदास	*चरक चन्द्रिका*
6.	15वीं शती	शिवदास सेन	*तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या*
7.	17वीं शती	नरसिंह कविराज	*चरकतत्त्वप्रकाश कौस्तुभ*

[83] *आ० इ०*, पृ० 220

8.	19वीं शती	गंगाधर राय	*जल्पकल्पतरु व्याख्या परिभाषा*
9.	20 वीं शती	योगीन्द्र नाथ सेन	*चरकोपस्कार टीका*
10.	20 वीं शती	ज्योतिषचन्द्र सरस्वती	*चरकप्रदीपिका व्याख्या*

इन *चरकसंहिता* के टीकाकारों का सामान्य परिचय देते हुए, उनकी रचनाओं का विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है-

1.3.1 भट्टारहरिचन्द :- विश्वकोष के प्रणेता महेश्वर ने इन्हें साहसांक राजा का राजवैद्य एवं अपना वंशज स्वीकार किया है। राजा साहसांक को यशोवर्धन स्वीकार करने पर भट्टारहरिचन्द का काल छठी शताब्दी स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है। यह वाग्भट के समकालीन थे। बाणभट्ट और वाक्पतिराज ने भट्टारहरिचन्द को गद्यकवि के रूप में स्वीकार किया है।

रचनाएँ – *चरकसंहिता* पर इनकी '***चरकन्यास***' नामक व्याख्या प्रसिद्ध है। इसके कुछ अंशों को मस्तराम शास्त्री ने लाहौर से प्रकाशित किया था। इसका महत्त्व तीसटाचार्य के पुत्र चन्द्रट द्वारा रचित व्याख्या के निम्न सूत्र से द्योतित होती है-

"व्याख्यातरि हरिचन्द्रे श्रीजेज्जटनाम्नि सति सुधीरे च।

अन्यस्यायुर्वेदे व्याख्या धाष्ट्र्यं समावहति"॥[84]

1.3.2 स्वामिकुमार :- इन्होंने अपनी रचना के प्रारम्भ में शिव की स्तुति की है। इससे यह प्रतीत होता है कि ये शिवभक्त थे। तदुपरान्त इन्होंने चरक की भी आराधना की है। इन्होंने ही चरक और पतञ्जलि को एक स्वीकार करने की परम्परा आरम्भ की। जेज्जट ने स्वामिकुमार की टीका के सूत्रों को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। इनका समय सातवीं शताब्दी स्वीकार किया जाता है।

[84] *आ० इ०*, पृ०223

रचनाएँ :- इनकी *चरकसंहिता* पर *चरकपञ्जिकाव्याख्या* का विवरण प्राप्त होता है।

1.3.3 जेज्जट :- इन्होंने आयुर्वेद के बृहत्त्रयी ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी, जिनका उपयोग बाद के टीकाकारों ने अपनी-अपनी रचनाओं के रचयन में किया। इनकी *सुश्रुतसंहिता* की टीका के आधार पर तीसटाचार्य के पुत्र चन्द्रट ने *सुश्रुतसंहिता* की पाठ शुद्धि की। इनका काल नौवीं शताब्दी स्वीकार किया जाता है।

रचनाएँ :- बृहत्त्रयी पर टीकाएँ लिखी, परन्तु *चरकसंहिता* की *निरन्तरपदव्याख्या* टीका के अतिरिक्त अन्य दोनों संहिताओं की टीकाओं के सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण समुपलब्ध नहीं होता।

1.3.4 चक्रपाणिदत्त :- इन्होंने अपना परिचय *आयुर्वेददीपिका* एवं *चक्रदत्त* टीका के पुष्पिका में दिया है। इसके अनुसार इनका जन्म बंगाल के लोध्रवली कुल में, नारायणदत्त के घर हुआ। इनके बड़े भाई का नाम भानुदत्त था, जो किसी राज्य के राजवैद्य थे। इनके गुरु का नाम नरदत्त था। इनका काल ग्यारहवीं शताब्दी स्वीकार किया जाता है।

रचनाएँ :- *चरकसंहिता* पर *आयुर्वेददीपिका* नामक व्याख्या।

- *सुश्रुतसंहिता* पर *'भानुमती'* व्याख्या (केवल सूत्रस्थान तक प्रकाशित)।
- *द्रव्यगुणसंग्रह*।
- *चक्रदत्त* (चिकित्सासंग्रह)।
- *शब्दचन्द्रिका* (वैद्यककोष)।
- *व्याकरणतत्त्वचन्द्रिका*।
- *व्यग्रदरिद्रशुभंकर*।
- *सर्वसारसंग्रह*।

1.3.5 शिवदाससेन :- इनका जन्म बंगाल प्रदेश के राजशाह मण्डल के अन्तर्गत **'मालपञ्चिका'** नामक गाँव में हुआ था ; इन्होंने स्वयं कहा है कि-

"मालपञ्चिकाग्रामनिवासभूमेर्गौडावनीपाल भिषग्वरस्य।

अनन्तसेनस्य सुतो व्यधत्त टीकामिमां श्रीशिवदास सेनः"॥[85]

इन्होंने अपने पिता को ही गुरु स्वीकार करके सभी शास्त्रों का विद्वतापूर्ण अध्ययन कर पाण्डित्य प्राप्त किया। इनके पिता अनन्तसेन थे, जो न्याय, वैशेषिक, सांख्य और आयुर्वेद के विद्वान् थे। इनकी माता का नाम भैरवी था। इन्होंने चक्रपाणि, अरुणदत्त, निश्चलकर की टीकाओं का अनुसरण करते हुए स्थान विशेष पर संक्षेप में अपना मत व्यक्त किया है।

रचनाएँ :- *चरकसंहिता* पर *'तत्त्वप्रदीपिका'* नामक व्याख्या (सूत्र 26 तक)।

- *चक्रदत्त* टीका पर *'तत्त्वचन्द्रिका'* नामक व्याख्या।
- *द्रव्यगुणसंग्रह* पर टीका।
- *अष्टाङ्गहृदय* पर *'तत्त्वबोध'* नामक टीका (केवल उत्तरस्थान ही उपलब्ध)।
- *योगरत्नाकर* पर टीका।

1.3.6 गंगाधर राय :- इनका जन्म 1799 ई० में भोगुरा गाँव, जिला जैसोर, बंगाल में हुआ था। इनके पिता का नाम भवानी प्रसाद राय था। इन्होंने अठारह वर्ष की आयु में वैद्य रामकान्त सेन से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया तथा साथ ही अन्य विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया।

[85] *आ० इ०*, पृ०230

रचनाएँ :- इन्होंने कुल 76 ग्रन्थों की रचना की है। इन्होंने संस्कृत साहित्य की प्रत्येक विधा पर लेखनी चलाई है। इसलिए इनके दर्शन पर 14 ग्रन्थ, साहित्य पर 12 ग्रन्थ, आयुर्वेद पर 11 ग्रन्थ, उपनिषद् पर 8 ग्रन्थ, व्याकरण पर 8 ग्रन्थ, धर्मशास्त्र पर 7 ग्रन्थ, तन्त्र पर 2 ग्रन्थ, ज्योतिष पर 1 ग्रन्थ एवं अन्य विषयों पर 13 ग्रन्थों का वर्णन मिलता है। इन्होंने चरकसंहिता पर जल्पकल्पतरु व्याख्या लिखी है।

1.3.7 योगीन्द्रनाथ सेन :- इनका जन्म 1871 ई० में कलकत्ता में हुआ। इनके पिता का नाम द्वारकानाथ सेन था। इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। अपने पिता से इन्होंने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया।

रचनाएँ :- *चरकसंहिता* पर *'चरकोपस्कार'* नामक अत्यन्त सरल टीका की रचना की।

1.3.8 ज्योतिषचन्द्र सरस्वती :- ये बंगाल प्रान्त के निवासी थे एवं प्रसिद्ध चिकित्सक थे। ये समन्वयवादी विचारक गणनाथ के कट्टर विरोधी थे।

रचनाएँ :- इन्होंने *चरकसंहिता* पर *'चरकप्रदीपिका'* नामक टीका की रचना की। लेकिन यह केवल सूत्रस्थान तक ही प्रकाशित हुई है। इनका अन्य ग्रन्थ *शारीरविनिश्चय* है।

1.4 *चरकसंहिता* की ग्रन्थ-संरचना :- आधुनिक समय में समुपलब्ध *चरकसंहिता* में कुल 8 स्थान, 120 अध्याय एवं 9295 सूत्र हैं। इन 120 अध्यायों में से 41 अध्यायों को विभिन्न आयुर्वेदीय संहिताओं द्वारा दृढ़बल ने सम्पूरित किए हैं। जिसका वर्णन यहाँ विभाजन सहित इस प्रकार विवेचित है[86]-

क्रम	स्थान	अध्याय	सूत्रसंख्या
1.	सूत्रस्थान	30	1952
2.	निदानस्थान	8	247

[86] *आ० इ०, पृ०* 126

3.	विमानस्थान	8	354
4.	शारीरस्थान	8	382
5.	इन्द्रियस्थान	12	378
6.	चिकित्सास्थान	30	4904
7.	कल्पस्थान	12	378
8.	सिद्धिस्थान	12	700
कुल योग	8 कुलस्थान	120 अध्याय	9295 सूत्र

इस प्रकार *चरकसंहिता* में दैवीय व मानुषी परम्परा प्राप्त होती है तथा इस संहिता पर अनेक टीकाएँ लिखी गई, जिनके माध्यम से इस संहिता के दुरुह विषयों को सरलतया से समझा जा सकता है। *सुश्रुतसंहिता* की आचार्य परम्परा भी *चरकसंहिता* के समान सुदीर्घ परम्परा रही है, जिसका वर्णन इस प्रकार है-

1.5 *सुश्रुतसंहिता* की मानवीय आचार्य परम्परा :- आयुर्वेद की बची हुई महिमा को स्थिर रखने के लिए प्राचीन काल से आत्रेय एवं धन्वन्तरि सम्प्रदाय के क्रमशः *चरकसंहिता* तथा *सुश्रुतसंहिता* नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, जो वर्तमान समय में सूर्य-चन्द्रमा सदृश आयुर्वेद जगत् को प्रकाशित कर रहे हैं।

1.5.1 धन्वन्तरि :- जिस प्रकार पुनर्वसु आत्रेय ने अपने शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश दिया, उसी प्रकार धन्वन्तरि ने आयुर्वेद का उपदेश सुश्रुतादि शिष्यों को दिया। अतः *सुश्रुतसंहिता* के धन्वन्तरि उपदेशक हैं। वेद के संहिता एवं ब्राह्मणभाग में धन्वन्तरि का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। लेकिन लौकिक साहित्य *महाभारत* एवं पुराणों में इनका उल्लेख समुपलब्ध होता है। यह भगवान् विष्णु के अंश स्वीकार किए जाते हैं, जो समुद्रमन्थन के समय कलश के साथ प्रादुर्भूत हुए थे।

हरिवंशपुराण में वर्णित आख्यान के अनुसार समुद्रमन्थन से निकलने के बाद, विष्णु से उन्होंने कहा कि लोक में मेरा स्थान एवं भाग निर्धारित कर दीजिए। भगवान् विष्णु ने उत्तर दिया कि देवताओं में यज्ञ का विभाग तो पहले ही निर्धारित हो चुका है ; इसलिए यह सम्भव नहीं है। देवों के अतिरिक्त तुम ईश्वर नहीं हो। अतः तुम्हे अपने दूसरे जन्म में सिद्धियाँ प्राप्त होगीं और तुम इस लोक में प्रसिद्ध हो जाओगे। उस शरीर में तुम्हे देवत्व की प्राप्ति होगी और तुम्हारी द्विजातिगण सभी प्रकार से आराधना करेगें और तुम आयुर्वेद का अष्टाङ्ग विभाजन भी करोगे। इस आशीर्वाद के अनुसार पुत्रकाम काशिराज धन्व की तपस्या से सन्तुष्ट होकर अब्ज भगवान् ने उसके पुत्र के रूप में इस धरा पर जन्म लिया तथा धन्वन्तरि नाम ग्रहण किया। इन्होंने भरद्वाज से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर उसे आठ अंगों में विभाजित कर अपने शिष्यों को दिया। इनके पुत्र केतुमान्, केतुमान् के पुत्र भीमरथ और भीमरथ के पुत्र दिवोदास हुए, जिन्होंने वाराणसी का आधिपत्य ग्रहण किया। इसी प्रकार का आख्यान *ब्रह्माण्डपुराण* एवं *विष्णुपुराण* में भी समुपलब्ध होता है। *विष्णुपुराण* में यह परम्परा किञ्चित् परिवर्तित रूप में मिलती है। सभी आख्यानों से स्पष्ट होता है कि धन्वन्तरि समस्त आयुर्वेद के विद्वान् थे। इन्हें गरुड का शिष्य भी कहा जाता है-

"सर्पवेदेषु निष्णातो मन्त्रतन्त्रविशारदः। शिष्यो हि वैनतेयस्य शंकरस्योपशिष्यकः"॥[87]

1.5.2 दिवोदास धन्वन्तरि :- *हरिवंशपुराण* एवं *महाभारत* के अनुसार धन्वन्तरि प्रपौत्र तथा भीमरथ के पुत्र दिवोदास धन्वन्तरि का उल्लेख समुपलब्ध होता है। इन्होंने इन्द्र की आज्ञा से ही वाराणसी नगर की स्थापना की थी- "**दिवोदासस्तु विज्ञाय वीर्यं तेषां यतात्मनाम्। वाराणसीं महातेजाः निर्ममे शक्रशासनात्"**॥[88]

[87] *स०वै०* 3/51

[88] *म०भा०, अनु०प०* 30/16

महाभारत में चार स्थानों पर दिवोदास का नाम आता है। दिवोदास का काशी का अधिपति होना, वाराणसी की स्थापना करना, हेहयों द्वारा पराजित होकर भरद्वाज की शरण में जाना, उसके द्वारा किए गए पुत्रेष्टि-यज्ञ से प्रतर्दन नामक पुत्र की प्राप्ति आदि विषय मिलते हैं। *अग्निपुराण* एवं *गरुडपुराण* में भी वैद्य धन्वन्तरि की चतुर्थ सन्तति में दिवोदास का नाम प्राप्त होता है। अपनी वंश-परम्परा अनुसार ही दिवोदास शल्यप्रधान गुरुकुल का संचालन करते थे। जहाँ दूर-दूर से छात्र शिक्षा ग्रहण करने आते थे। उसी आश्रम में दिवोदास धन्वन्तरि ने सुश्रुत, औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित आदि शिष्यों को आयुर्वेद के शल्यप्रधान ज्ञान की शिक्षा दी थी। इस प्रकार *सुश्रुतसंहिता* में दिवोदास के बारह शिष्यों का उल्लेख प्राप्त होता है।[89]

व्याकरणशास्त्र के वार्तिककार कात्यायन द्वारा **'दिवश्चदासे'** से दिवोदास की सिद्धि करने, महाभाष्यकार द्वारा **'दिवोदासाय गायते'** उद्धरण देने, *कौषीतकिब्राह्मण* तथा उसकी उपनिषद् तथा *ऋक्सर्वानुक्रमणीसूत्र* में भी दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का उल्लेख होने, *काठकसंहिता* के ब्राह्मण भाग में भीमसेन के पुत्र दिवोदास का उल्लेख, *महाभारत* और *हरिवंशपुराण* इसी के सदृश वैद्य विद्या के आचार्य धन्वन्तरि के प्रपौत्र, वाराणसी के संस्थापक तथा अलर्क के पितामह तथा कलियुग में होने वाले दिवोदास के वर्णन उपलब्ध होने से दिवोदास का समय कलियुग में *ऐतरेयब्राह्मण* के समय तथा *काठकब्राह्मण, कौषीतकीब्राह्मण* तथा उपनिषदों के समय या कुछ पूर्व सिद्ध होता है।

---

[89] औपधेनववैतरणौरभ्रपौष्कलावतकरवीर्यगोपुररक्षितसुश्रुतप्रभृतयः ऊचुः। *सु०सं०,सू०*1/2

प्रभृतिग्रहणान्निमिकांकायनगार्ग्यगालवाः, एवमेतान् द्वादश शिष्यानाहुः। *सु०सं०,सू०* 1/2 निबन्धसंग्रहटीका, पृ० 2

पाश्चात्य लेखक बेवर के अनुसार *कौषीतकि उपनिषद्* तथा *बृहदारण्यक* का समय समान है। विंटरनिट्ज का भी यही मत है। *चरकसंहिता* में अनेक स्थलों पर धन्वन्तरि का मत उद्धृत किया गया है तथा *सुश्रुतसंहिता* में आत्रेय का नाम नहीं मिलता है इसलिए आत्रेय, अग्निवेश के काल 1000 ई०पू० से पहले, दिवोदास का काल 1000-1500 ई०पू० के मध्य होना चाहिए।

1.5.3 सुश्रुत :- जिस प्रकार पुनर्वसु आत्रेय के शिष्यों में अग्निवेश हैं उसी प्रकार सुश्रुत दिवोदास धन्वन्तरि के शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ शिष्य हैं। सुश्रुत ने दिवोदास धन्वन्तरि के उपदेशों को निबद्ध कर ***'सुश्रुतसंहिता'*** की रचना की, जो शल्यतन्त्र का उपजीव्य ग्रन्थ बना। शल्य-सम्प्रदाय की यह रचना विश्व में आयुर्वेद-ज्ञानकोश की सर्वोत्तम रचना है।

आयुर्वेद से सम्बन्धित दो सुश्रुत नामक आचार्यों का उल्लेख समुपलब्ध होता है एक वृद्धसुश्रुत या प्रथम सुश्रुत एवं द्वितीय सुश्रुत। क्योंकि दोनों सुश्रुत के उद्धरण यत्र-तत्र एकत्र प्राप्त होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वृद्धसुश्रुत ने दिवोदास धन्वन्तरि के उपदेशों को निबद्ध करके ***'सुश्रुततन्त्र'*** ग्रन्थ का निर्माण किया होगा, जिसे चरक की तरह प्रतिसंस्कार करके सुश्रुत ने *सुश्रुतसंहिता* का रूप दिया होगा। तदनन्तर दृढ़बल की तरह नागार्जुन ने प्रतिसंस्कार किया होगा। *महाभारत* के अनुशासनपर्व के चौथे अध्याय तथा *गरुडपुराण* में सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र स्वीकार किया गया है। *सुश्रुतसंहिता* में भी इसी मत की पुष्टि होती है-

"विश्वामित्रसुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति"।[90]

महर्षि विश्वामित्र द्वारा अपने पुत्र सुश्रुत को काशीराज धन्वन्तरि के समीप अध्ययन करने के लिए भेजने का प्रसंग *भावप्रकाश* में उपलब्ध होता है। डल्हण ने *सुश्रुतसंहिता* की टीका में विश्वामित्र के वचनों को उद्धृत किया है।

[90] *सु०सं०, उ०* 66/4

परन्तु इस विश्वामित्र का विशेष परिचय ज्ञात नहीं होता। इसी प्रकार शालिहोत्र सुश्रुत, जिसका पशु चिकित्सक के रूप में वर्णन उपलब्ध होता है-

"शालिहोत्रियमृषिश्रेष्ठं सुश्रुतः परिपृच्छति। एवं पृष्टस्तु पुत्रेण शालिहोत्रोऽभाषत॥

शालिहोत्रमपृच्छन्त पुत्राः सुश्रुतसंगता"।[91]

उपर्युक्त प्रसंगों से केवल आयुर्वेद में वृद्धसुश्रुत एवं सुश्रुत से ही सम्बन्ध है। वृद्धसुश्रुत या आद्यसुश्रुत का काल तो वही होगा, जो दिवोदास धन्वन्तरि के काल का निर्णय किया गया है अर्थात् 1000 ई०पू० से 1500 ई०पू० तक का है।

द्वितीय सुश्रुत के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद है कि दूसरे सुश्रुत का कोई अस्तित्व नहीं है। लेकिन *सुश्रुतसंहिता* का गम्भीर मनन करने के उपरान्त उसके रचना के स्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि सुश्रुत द्वारा अपने गुरु दिवोदास धन्वन्तरि के वचनों का निबद्ध ग्रन्थरूप में नागार्जुन से पहले किसी के द्वारा प्रतिसंस्कार किया गया है, उस व्यक्ति को चरक परम्परा अनुसार सुश्रुत ही स्वीकार कर लिया गया है। सुश्रुत के काल निर्धारण हेतु प्रियव्रत शर्मा ने *सुश्रुतसंहिता* का गम्भीर मनन कर अधोलिखित तथ्यों को प्रस्तुत करते हैं जो उनके काल निर्धारण में सहायक होते हैं-

- ❖ 'होरा' शब्द का प्रयोग *सुश्रुतसंहिता* में हुआ है। यह शब्द ग्रीक भाषा के 'होरस' से व्युत्पन्न होकर भारतीय वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है। यूनानियों से विशेष सम्पर्क चौथी श०ई०पू० में हुआ था। अतः इनका काल उसके बाद का ही होगा।
- ❖ नागार्जुन ने *'उपायहृदय'* नामक ग्रन्थ में सुश्रुत का उल्लेख किया है। ये कनिष्क सम्राट् के समकालीन थे।

[91] *आ० इ०*, पृ० 165

❖ वर्णवेध-संस्कार बाद में प्रचलित हुआ। *चरकसंहिता* में इसका उल्लेख नहीं मिलता है। इस प्रकार सुश्रुत का समय द्वितीय शताब्दी माना जा सकता है।

सुश्रुतसंहिता के ऋतुचर्या अध्याय के सूत्र संख्या छः में दो प्रकार का ऋतुविभाग प्राप्त होता है। प्रारम्भ में छः ऋतु शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त को वर्णित किया गया और फिर '**इह तु**' ऐसा कहकर वर्षा, शरद, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म और प्रावृट् बताई गई। प्रथम में शीतकाल की दो और द्वितीय में ग्रीष्मकाल की दो ऋतुएँ हैं। कुछ लोग देशभेद के आधार पर इसकी व्याख्या करते हैं। उनका कथन है कि गंगा के उत्तरी प्रदेश में प्रथम और दक्षिण भाग में द्वितीय विभाग प्रयोग होता है। इस प्रकार यदि काशिराज दिवोदास के काल का प्रथम विभाग स्वीकार किया जाए तो द्वितीय विभाग प्रतिसंस्कर्ता सुश्रुत का होता है। इस आधार पर भी सुश्रुत का उपर्युक्त काल समर्थित होता है।

1.5.4 नागार्जुन :- जिस प्रकार कृष्ण आत्रेय द्वारा उपदिष्ट ज्ञान को अग्निवेश ने संकलित कर *अग्निवेशतन्त्र* की रचना की और चरक ने प्रतिसंस्कृत किया, जो कि '**अग्निवेशकृते तंत्रे चरक प्रतिसंस्कृते**'[92] इस चरक की उक्ति से द्योतित होता है ; उसी तरह *सुश्रुतसंहिता* में ऐसा कोई उल्लेख समुपलब्ध नहीं होता। फिर भी ऐसा स्वीकार किया जाता है कि *सुश्रुतसंहिता* का प्रतिसंस्कर्ता नागार्जुन ही है। यह हमें *सुश्रुतसंहिता* की *निबन्धसंग्रह* टीका से ज्ञात होता है-

"यत्र यत्र परोक्षे लिट्प्रयोगस्तत्र तत्रैव प्रतिसंस्कृतसूत्रं ज्ञातव्यम्,

प्रतिसंस्कर्ताऽपीह नागार्जुन एव"।[93]

---

[92] *च०सं०*,सू० 1 पुष्पिका

[93] *सु०सं०, सू०* 1/1 पर डल्हण टीका, पृ० 1

इनके विषय में विद्वानों में पृथक्-पृथक् मत-मतान्तर हैं। कालान्तर में विभिन्न व्यक्ति नागार्जुन नामधारी दृष्टिगोचर हुए हैं-

- उपायहृदय के प्रणेता दार्शनिक नागार्जुन। इसका समय कनिष्क का काल स्वीकार किया जाता है।
- गौतमी पुत्र शातकर्णी या यज्ञश्री जो सातवाहन सम्राट् हुए हैं उनके मित्र और गुरु नागार्जुन जिनका उल्लेख *हर्षचरित* आदि ग्रन्थ में समुलब्ध होता है। इसका समय द्वितीय और तृतीय शताब्दी है। इसके शिष्य आर्यदेव हुए हैं। बौद्धों के तेरहवें धर्माध्यक्ष नागार्जुन और चौदहवें आर्यदेव हुए।
- गुप्तकालीन नागार्जुन जिनका काल चौथी-पाँचवीं शताब्दी स्वीकार करते हैं।
- सरहपा के शिष्य सिद्ध नागार्जुन जो आठवीं शताब्दी के हैं।
- अलबरुनी ने भारत की यात्राविवरण लिखते समय नागार्जुन का नामोल्लेख किया है जो उससे सौ वर्ष पहले हुए थे। दसवीं शताब्दी में एक नागार्जुन का आख्यान प्राप्त होता है जिसने नारोपा नामक एक ग्वाल युवक को अपने आशीर्वाद से राजा बना दिया, जो अन्तिम में नालन्दा विश्वविद्यालय का अध्यक्ष भी बना। विक्रमशिला के अध्यक्ष मास्पा के गुरुओं में से एक नारोपा भी थे।

इसमें कौन सा नागार्जुन *सुश्रुतसंहिता* का प्रतिसंस्कर्ता हुआ यह निर्णय करना बहुत कठिन है। कौटिल्य से तन्त्रयुक्तियों का प्रकरण *सुश्रुतसंहिता* के उत्तरतन्त्र में ग्रहण किया गया है तथा वाग्भट ने उत्तरतंत्रसहित *सुश्रुतसंहिता* का उपयोग किया है। अतः अत्यधिक सम्भावना है कि पाँचवीं शताब्दी के नागार्जुन ने संहिता का प्रतिसंस्कार किया तथा उसमें उत्तरतन्त्र जोड़ा। संभवतः यही भदन्त नागार्जुन रसवैशेषिक का प्रणेता भी था, जो दृढ़बल के बाद हुआ। अतः दृढ़बलकृत प्रकरणों की चर्चा भी इसमें हुई है।

इस प्रकार *सुश्रुतसंहिता* की सुदीर्घ मानुषी परम्परा उपलब्ध होती है। इस संहिता के दुरुह विषयों को सरलतया समझाने के लिए अनेक टीकाएँ लिखी गई, जिनका वर्णन निम्नोक्त है-

1.6 *सुश्रुतसंहिता* के टीकाकार :- *चरकसंहिता* के सदृश ही इस संहिता पर भी अनेक टीकाकारों ने अपनी टीकाओं की रचना की है जिनसे *सुश्रुतसंहिता* को अधिक सरलतया समझा जा सकता है।[94]

क्रम	काल	टीकाकार	टीकाएँ
1.	9वीं शती	जेज्जट	वर्तमान समय अप्राप्त
2.	10 वीं शती	चन्द्रट	सुश्रुतसंहिता की पाठशुद्धि
3.	11 वीं शती	गयदास	*न्यायचन्द्रिका*
4.	11 वीं शती	चक्रपाणिदत्त	*भानुमती व्याख्या*
5.	12 वीं शती	डल्हण	*निबन्धसंग्रह*
6.	20 वीं शती	हाराणचन्द्र सरस्वती	*सुश्रुतार्थसन्दीपन*

इस प्रकार *सुश्रुतसंहिता* के टीकाकार को सामान्य परिचय देते हुए उनकी रचनाओं का वर्णन विवेचित है-

1.6.1 चन्द्रट :- इनका काल 10वीं शताब्दी स्वीकार किया जाता है। इनके पिता का नाम तीसटाचार्य था। इन्होंने सर्वप्रथम जेज्जट की टीका के आधार पर *सुश्रुतसंहिता* की पाठशुद्धि की है।

रचनाएँ :- *चिकित्साकलिका व्याख्या*।

- *योगरत्नसमुच्चय*।
- *योगमुष्टि*।

[94] *आ०इ०*, पृ० 220

- *वैद्यककोष*।

1.6.2 डल्हण :- इन्होंने अपनी व्याख्या में स्वयं परिचय दिया है। इनका जन्म भादानक देश के मथुरा जनपद के समीप अंकोला नामक स्थान पर हुआ। इनके पिता का नाम भरतपाल था। इनका काल 12वीं शताब्दी स्वीकार किया गया है।

रचनाएँ :- इन्होंने *सुश्रुतसंहिता* पर ***'निबन्धसंग्रह'*** नामक टीका लिखी।

1.6.3 हाराणचन्द्र सरस्वती :- इनका जन्म वकलिया गाँव, पवना जिला में हुआ था। इनके पिता का नाम आनन्दचन्द्र चक्रवर्ती था। इन्होंने शवच्छेदन द्वारा चिकित्सा का ज्ञान किया था। ये गंगाधर राय के प्रमुख शिष्यों में से एक थे।

रचनाएँ :- इन्होंने *सुश्रुतसंहिता* पर *सुश्रुतार्थसन्दीपन* नामक टीका लिखी, जिसका अध्ययन करके *सुश्रुतसंहिता* के दुष्कर विषयों को सरलता से समझा जा सकता है। अतः इस संहिता पर नवम शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक टीका लिखी गई हैं।

1.7 *सुश्रुतसंहिता* की ग्रन्थ-संरचना :- इस संहिता के मूल स्वरूप में 5 स्थान एवं 120 अध्याय ही थे। नागार्जुन नामक प्रतिसंस्कर्ता ने कालान्तर में उत्तरतन्त्र में 66 अध्यायों को जोड़कर वर्तमानकालीन उपलब्ध संहिता का स्वरूप प्रदान किया। कालान्तर में तीसटाचार्य के पुत्र चन्द्रट ने जेज्जट की टीका के आधार पर *सुश्रुतसंहिता* की पाठशुद्धि करके वर्तमानकालीन स्वरूप प्रदान किया।[95]

क्रम	स्थान	अध्याय	सूत्रसंख्या
1.	सूत्रस्थान	46	2094
2.	निदानस्थान	8	528
3.	शारीरस्थान	10	440

[95] *आ० इ०*, पृ० 118

4.	चिकित्सास्थान	40	2032
5.	कल्पस्थान	8	555
6.	उत्तरतन्त्र	66	2651
कुल योग	6 कुलस्थान	186 अध्याय	8300 सूत्र

1.8 *अष्टाङ्गहृदय* की मानवीय आचार्य परम्परा :- आयुर्वेद की आचार्य परम्परा के कालक्रम में वाग्भट नामक आचार्य का आगमन गुप्तकाल में हुआ। वाग्भट ने *चरकसंहिता* और *सुश्रुतसंहिता* के विषयों का सर्वप्रथम संकलन कर एक उपयोगी संग्रहग्रन्थ की रचना की, जिसका नाम *अष्टाङ्गसंग्रह* है। इन्होंने दोनों संहिताओं के व्यावहारिक विषयों का संकलन किया और विवादास्पद दार्शनिक विषयों का त्याग कर दिया। अतः वाग्भट प्राचीन काल के अन्तिम संहिताकार और नव्य युग के प्रथम संग्रहकार के रूप में प्रसिद्ध हुए। इस संग्रहात्मक एवं व्यावहारिक पद्धति का उपयोग कालान्तर में आने वाले सभी विद्वानों ने श्रद्धापूर्वक किया। अतः वाग्भट के काल से संग्रहकाल का प्रारम्भ हुआ, ऐसा मानना सर्वथा सही प्रतीत होता है।

1.8.1 वाग्भट :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में वाग्भट नाम के चार विद्वानों का वर्णन प्राप्त होता है।

- अष्टाङ्गसंग्रहकार के प्रणेता वृद्ध वाग्भट ।
- मध्य वाग्भट (चक्रदत्त के व्याख्याकार निश्चलकर की टीका रत्नप्रभा में इनके संदर्भ उपलब्ध होते हैं)।
- *अष्टाङ्गहृदय* के रचयिता लघु वाग्भट ।
- *रसरत्नसमुच्चय* के प्रणेता रस वाग्भट ।

अ.वृद्ध वाग्भट :- *अष्टाङ्गसंग्रह* के प्रणेता वृद्ध वाग्भट या प्रथम वाग्भट नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने तत्कालीन अनेक संहिताओं को आधार बनाकर एक युगानुरूप एवं प्रथम संग्रहग्रन्थ ***'अष्टाङ्गसंग्रह'*** का निर्माण किया।

वाग्भट से पहले आयुर्वेद के आठ अंगों पर अलग-अलग ग्रन्थ समुपलब्ध होते थे। अतः सभी रोगों की चिकित्सा के लिए एक संहिता का पढ़ना दुष्कर होता था। इन संहिताओं के विषय क्रम भी व्यवस्थित नहीं थे। परिणामस्वरूप एक ही विषय को पुनः-पुनः अध्ययन करना पड़ता था। अतः इन दोषों का परिहार करते हुए चिकित्सा उपयोगी तथा सभी अंगों के सारभूत ज्ञान से युक्त स्वतन्त्र संहिता के रूप में *'अष्टाङ्गसंग्रह'* की रचना की।[96] इन्होंने अपना परिचय ग्रन्थ की पुष्पिका में दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि उनका जन्म सिन्धु प्रदेश में हुआ था। उनके पितामह का नाम भी वाग्भट था तथा पिता का नाम सिंहगुप्त था। इनके गुरु का नाम अवलोकित था, परन्तु इन्होंने आयुर्वेद का ज्ञान अपने पिता से ग्रहण किया था।[97] इनके पितामह भी आयुर्वेद के चिकित्सक थे। अतः स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद इनकी परम्परागत विद्या थी।

टीकाकार डल्हण, अरुणदत्त, इन्दु, विजयरक्षित, हेमाद्रि, श्रीकण्ठदत्त और निश्चलकर ने अपने ग्रन्थों में वृद्ध वाग्भट और वाग्भट दोनों आचार्यों का उल्लेख किया है। जेज्जट तथा चक्रपाणि ने केवल द्वितीय वाग्भट का उल्लेख किया है। वृन्दमाधव ने वाग्भट का उल्लेख करते हुए अनेक औषधी प्रयोगों का उल्लेख किया है। संभवतः जेज्जट वाग्भट को उद्धृत करने वाला प्रथम टीकाकार है।

वराहमिहिर ने वाग्भट के रसायन-योगों के अतिरिक्त अन्य बहुत से विषयों का वर्णन किया है। इस प्रकार ज्योतिष सम्बन्धी विचारों के सम्बन्ध में वाग्भट वराहमिहिर से प्रभावित होते हैं।

---

[96] *अ०सं०,सू०* 1/15-22

[97] भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून से पितामहो नामधरोऽस्मि यस्य।
सुतोऽभवत्तस्य च सिंहगुप्तस्तस्याप्यहं सिन्धुषु लब्धजन्मा॥
समाधिगम्य गुरोरवलोकितात् गुरुतराच्च पितुः प्रतिभां मया।
सुबहुभेषजशास्त्रविलोचनात् सुविहितोऽङ्गविभागविनिर्णयः॥ *अ०सं०,उ०* 50/132-133

ऐसा प्रतीत होता है कि वराहमिहिर ने सबसे अन्त में *बृहत्संहिता* ग्रन्थ का निर्माण किया और वह तब तक सम्भवतः वाग्भट के सम्पर्क में आ गया था। इस प्रकार वराहमिहिर के समय (505-587वीं शताब्दी) को वाग्भट के काल की निम्नतम सीमा स्वीकार की जा सकती है।

ब.वाग्भट द्वितीय :- वाग्भट को लघु वाग्भट, स्वल्प वाग्भट, वाग्भट द्वितीय भी कहते हैं। इन शब्दों द्वारा वृद्ध वाग्भट से भिन्नता प्रदर्शित होती है। इनका *अष्टाङ्गहृदय* प्रमुख ग्रन्थ है, जिसे *अष्टाङ्गसंग्रह* का सारग्राही संक्षिप्त संस्करण कहा जाता है। वाग्भट द्वितीय ने अपने ग्रन्थ के अन्त में कहा है कि *अष्टाङ्गहृदय* समुद्ररूपी आयुर्वेद वाङ्मय के हृदय के सदृश है-

"हृदयमिव हृदयमेतत् सर्वायुर्वेदवाङ्मयपयोधेः"।[98]

उन्होंने यह भी कहा है कि इसके अध्ययन करने से संग्रह का बोध सरलता से हो सकता है।[99] इस ग्रन्थ में यह प्रयास किया गया है कि कायचिकित्सा तथा शल्य दोनों सम्प्रदायों के महत्त्वपूर्ण तथ्यों का सन्निवेश कर दिया जाए, क्योंकि किसी एक विषय का विद्वान् होने पर भी वह दूसरे विषय से शून्य होता है। अतः जगत् में सभी प्रकार के रोगों का प्रशमन करने में समर्थ नहीं हो पाता। *अष्टाङ्गहृदय* के रचयिता का नाम और परिचय ग्रन्थ में कहीं पर भी निर्दिष्ट नहीं है जैसे *अष्टाङ्गसंग्रह* में होता है। इस ग्रन्थ के केवल निदानस्थान और उत्तरस्थान में पुष्पिका प्राप्त होती है, जहाँ पर इनका परिचय प्राप्त होता है-

"इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायां तृतीयं निदानस्थानं समाप्तम्"।[100]

"इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितायामुत्तरस्थानं समाप्तम्"।[101]

---

[98] *अ०हृ०, उ०* 40/89

[99] *अ०हृ०, उ०* 40/80-83

[100] *अ०हृ०, नि०* 16

इन पुष्पिकाओं से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का प्रणेता वाग्भट है तथा इसके पिता का नाम सिंहगुप्त था। वाग्भट नाम से *अष्टाङ्गहृदय* के उद्धरण परवर्ती ग्रन्थों में समुपलब्ध होते हैं। उनसे भी इस ग्रन्थ का प्रणेता वाग्भट सिद्ध होता है। ऐसा अनुमान होता है कि यह वृद्ध वाग्भट के ही वंशज थे। गुप्तकाल में ऐसी परम्परा प्रचलित थी कि पितामह का नाम पौत्र को दिया जाता था।

वाग्भट द्वितीय के सम्बन्ध में भी यह विवाद है कि वह बौद्ध थे या वैदिक धर्मावलम्बी। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में जो मंगलाचरण है उसकी व्याख्या दोनों पक्षों द्वारा दो प्रकार से की जाती है। परन्तु *अष्टाङ्गहृदय* के चिकित्सास्थान में '**शिवविवसुततताराभास्करारा‌धनानि**' पद्य से अनुमान होता है कि वह ब्राह्मणधर्मावलम्बी शैव थे।

वाग्भट द्वितीय के काल-निर्धारण में वैसी कठिनाई नहीं है क्योंकि इन्होंने ***अष्टाङ्गसंग्रह*** को आधार बनाया है। अतः यह वाग्भट प्रथम का काल अवश्य होगा तथा माधवकर ने ***अष्टाङ्गहृदय*** के सूत्रों को उद्धृत किया है। अतः उसके पूर्व वाग्भट का काल होगा। अतः वृद्ध वाग्भट और माधवकर के बीच में 7वीं शताब्दी के प्रथम चरण में वाग्भट द्वितीय को रखना चाहिए।

1.9 *अष्टाङ्गहृदय* के टीकाकार :- बृहत्त्रयी के दोनों संहिताओं की तरह *अष्टाङ्गहृदय* पर भी अनेक टीकाएँ समय-समय पर रची गई हैं, जिनसे ग्रन्थ को समझने में आसानी हुई है। *अष्टाङ्गहृदय* पर सबसे प्राचीन टीका चन्द्रनन्दन की *पदार्थचन्द्रिका* समुपलब्ध होती है। इन टीकाकारों[102] का जीवनपरिचय इस प्रकार है-

क्रम	काल	टीकाकार	टीकाएँ
1.	10वीं शती	चन्द्रनन्दन	*पदार्थचन्द्रिका*
2.	13 वीं शती	अरुणदत्त	*सर्वांगसुन्दरा व्याख्या*

[101] *अ०हृ०, उ०* 40

[102] *आ० इ०*, पृ० 220

3.	13 वीं शती	इन्दु	*अष्टाङ्गहृदय* पर टीका (नाम अप्राप्त)
4.	13 वीं शती	हेमाद्रि	*आयुर्वेदरसायन*
5.	15 वीं शती	शिवदास सेन	*तत्त्वबोध व्याख्या*

1.9.1 चन्द्रनन्दन :- इनका जन्म कश्मीर में दसवीं शताब्दी में हुआ। इनके पिता का नाम रविनन्दन था।

रचनाएँ :- इन्होंने *अष्टाङ्गहृदय* पर *'पदार्थचन्द्रिका'* नामक व्याख्या लिखी। इसके अतिरिक्त इनकी *गणनिघण्टु* रचना है।

1.9.2 अरुणदत्त :- इन्होंने अपना परिचय टीका के प्रारम्भिक पद्य एवं पुष्पिका में दिया है। इनके पिता का नाम मृगांकदत्त था। हॉर्नले इनका काल तेरहवीं शताब्दी स्वीकार करते हैं।

"श्रीमन्मृगांकतनयष्टीकामष्टांगहृदयस्य। श्रीमानरुणः कुरुते सम्यग्द्रष्टुः पदार्थबोधाय"॥[103]

रचनाएँ :- इनकी *अष्टाङ्गहृदय* पर ***'सर्वांगसुन्दरा'*** नाम की टीका प्राप्त होती है। इन्होंने *सुश्रुतसंहिता* पर भी टीका लिखी थी, जो वर्तमान समय में अनुपलब्ध है।

1.9.3 इन्दु :- इनका जन्म स्थान कश्मीर में स्वीकार किया जाता है। इनका काल तेरहवीं शताब्दी है। केरल में प्रचलित दन्तकथाओं के अनुसार इनका गुरु वाग्भट था।

रचनाएँ :- इन्होंने *अष्टाङ्गसंग्रह* पर ***'शशिलेखा'*** नामक टीका की रचना की, जिसका प्रकाशन सन् 1913 ई० में त्रिचुर से टी. रुद्रपारशव द्वारा सम्पादित किया गया। इन्होंने *अष्टाङ्गहृदय* पर भी टीका लिखी, जो अभी प्रकाशित नहीं हुई है और अडियार पुस्तकालय में सुरक्षित रखी हुई है।

[103] *आ० इ०*, पृ०227

1.9.4 हेमाद्रि :- ये देवगिरि के राजा महादेव तथा रामचन्द्र के श्रीकरणाधिप और प्रधान आमात्य (मन्त्री) थे। इनका जन्म देवगिरि में तेरहवीं शताब्दी में हुआ। ये शुक्लयजुर्वेदीय वत्सगोत्र में उत्पन्न महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम कामदेव एवं मित्र का नाम वोपदेव था।

रचनाएँ :- इन्होंने *अष्टाङ्गहृदय* पर ***'आयुर्वेदरसायन'*** नामक टीका लिखी। वर्तमान समय में इस टीका में शारीरस्थान, चिकित्सास्थान और उत्तरस्थान का कुछ भाग प्राप्त नहीं होता।

- *चतुर्वर्गचिन्तामणि*।
- वोपदेव विरचित *मुक्ताफल* पर टीका।
- वोपदेव विरचित *हरिलीला* पर टीका।

1.10 *अष्टाङ्गहृदय* ग्रन्थ की संरचना :- इस ग्रन्थ में कुल 6 स्थान और 120 अध्याय हैं। वाग्भट द्वितीय ने नूतन पद्धति का अनुसरण किया है, जिसमें केवल पद्यात्मक शैली में संपूर्ण ग्रन्थ की रचना की गई है।[104]

क्रम	स्थान	अध्याय	सूत्रसंख्या
1.	सूत्रस्थान	30	1603
2.	शारीरस्थान	6	457
3.	निदानस्थान	16	785
4.	चिकित्सास्थान	22	1975
5.	कल्पसिद्धिस्थान	6	285
6.	उत्तरस्थान	40	2234
कुल योग	6 स्थान	120 अध्याय	7312 सूत्र

[104] *आ० इ०*, पृ० 186

बृहत्त्रयी में जहाँ *चरकसंहिता* कायचिकित्सा का प्रमुख ग्रन्थ है वही *सुश्रुतसंहिता* शल्यप्रधान ग्रन्थ है। जबकि *अष्टाङ्गहृदय* में *अष्टाङ्गसंग्रह* के प्रमुख बिन्दुओं का संकलन किया गया है। वस्तुतः बृहत्त्रयी में आयुर्वेद के आठों अंगों का निदर्शन होता है। इन आठ अंगों का उद्देश्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा एवं रोगाक्रान्त व्यक्ति को स्वस्थ करना है जो आयुर्वेद का प्रयोजन भी है। अग्रिम अध्याय में सर्वप्रथम शरीर को धारण करने वाले तत्त्वों का पर्यालोचन किया जाएगा। शरीर को धारण करने वाले तत्त्व दोष, धातु एवं मल हैं। इन तत्त्वों के साम्यावस्था में होने से शरीर स्वस्थ एवं वैषम्यभाव से विकारग्रस्त हो जाता है। अतः अग्रिम अध्याय में शरीरधारक तत्त्वों का बृहत्त्रयी के अनुसार पर्यालोचन किया जाएगा।

द्वितीय अध्याय

संसार के प्रत्येक पदार्थ त्रिगुण तथा उससे उद्भूत पञ्चमहाभूतों के संयोग से निर्मित हैं। पञ्चमहाभूतों में आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी की गणना की जाती है। इन महाभूतों की उत्पत्ति सूक्ष्म परमाणुओं से होती है। ये पञ्चमहाभूत परस्पर संयोग करके सृष्टि का निर्माण करते हैं। किसी एक भूत या महाभूत से भौतिक द्रव्यों की सृष्टि या पदार्थों की उत्पत्ति संभव नहीं होती। यह न्यूनाधिक्य भाव के विशिष्ट संयोग से जगत् का निर्माण करते हैं। न्यायदर्शन के अनुसार **'व्यपदेशस्तु भूयसा'** अर्थात् जिन द्रव्यों में आकाश के गुण अधिक होते हैं वह नाभस, जिसमें वायु के गुण अधिक होते हैं वे वायव्य, जिसमें तेज के गुण अधिक होते हैं वे तैजस, जिसमें जल के गुण अधिक होते हैं वह आप्य और जिसमें पृथ्वी के गुण अधिक होते हैं वह पार्थिव द्रव्य कहलाते हैं। अतः जगत् के प्रत्येक पदार्थ पाँच वर्गों में विभक्त हैं।

वेदान्तसार[105] में भी सृष्टि उत्पत्ति के लिए पञ्चीकरण प्रक्रिया में एक तत्त्व में अन्य चार तत्त्वों का संयोग बताया गया है। जिस प्रकार सृष्टि के समस्त पदार्थ द्राक्षा, इक्षु आदि मधुर, सुण्ठी मरिच आदि कटु, स्वर्ण, रजत आदि पाञ्चभौतिक हैं। उस प्रकार मनुष्यादि सभी प्राणियों के शरीर भी पञ्चमहाभूतों से निर्मित है। आयुर्वेदशास्त्र में **'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्'**[106] सूत्र द्वारा प्रदर्शित होता है कि मनुष्य का शरीर दोष, धातु, मल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। आयुर्वेद के अन्य आचार्यों ने इस शरीरोत्पत्ति सिद्धान्त[107] को स्वीकार किया है।

---

[105] द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः। स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजानात्पञ्चपञ्चते॥ *वे०सा०* 15

[106] *सु०सं०,सू०* 15/3

[107] दोषधातुमला मूल सदा देहस्य। *अ०हृ०,सू०* 11/1,
शरीर हि नाम चेतनाधिष्ठानं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं समयोगवाहि। *च०सं०, शा०* 6/3

शरीरोत्पत्ति के सन्दर्भ में *सुश्रुतसंहिता* के टीकाकार डल्हण ने कहा है कि **'यथा वृक्षादीनां संभवस्थितिप्रलयेषु मूलं प्रधानं तथा शरीरस्य वातादय इत्यर्थः'**[108] अर्थात् जिस प्रकार प्रलय अर्थात् भयंकर आँधी आने पर वृक्षों की जड़ आधार होती हैं उसी प्रकार शरीर में भी वातादि दोष आधार है। इस विषय में एक ओर सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है- जैसे वस्त्र का धागों से अथवा घड़े का निर्माण मिट्टी से होता है वैसे ही शरीर दोष, धातु तथा मल के संयोग से निर्मित है। अतः शरीर के धारक तत्त्वों में सर्वप्रथम दोष का विवेचन किया गया है-

2.1.1 दोष शब्द की निरुक्ति :- आयुर्वेदशास्त्र में दोष शब्द पारिभाषिक है। *माधवनिदान* की मधुकोष टीका में विजयरक्षित ने दोष का निर्दुष्ट लक्षण प्रस्तुत किया है-**'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति स्वातन्त्र्येण दुष्टिकर्त्तत्वं दोषत्वम्'** अर्थात् प्रकृति को उत्पन्न करने के साथ-साथ, जिनमें स्वतन्त्र रूप से दूष्यों को अर्थात् रसरक्तादि धातुओं को दूषित करने की क्षमता हो, उन्हें दोष कहते हैं।[109] **'दूषयन्तीति दोषः'** अर्थात् जो दूषित करे वे दोष हैं अर्थात् जो अन्य धातुओं को दूषित करे उन्हें दोष कहते हैं। शरीर में दोषों के अतिरिक्त क्रिया की दृष्टि से धातु एवं मल भी होते हैं। धातु एवं मलों को दूष्य संज्ञा दी गई है, क्योंकि दोषों द्वारा इन्हें दूषित किया जाता है। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि शरीर में दो प्रकार के दोष होते हैं- शारीरिकदोष जो वात-पित्त एवं कफ दोष हैं एवं द्वितीय मानसिक दोष जो कि रजस् एवं तमस् दोष हैं।

"वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः। मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च"।।[110]

सर्वप्रथम शारीरिक दोषों का वर्णन किया जा रहा है, तदनन्तर मानसिक दोषों का सामान्य वर्णन किया जाएगा।

---

[108] *सु०सं०,* सू० 21/8 पर निबन्धसंग्रहटीका, पृ० 86

[109] *मा०नि०*, 1/14 पर मधुकोषटीका, पृ०- 22

[110] *च०सं०,सू०* 1/57

2.1.2 शारीरिक दोष :- शरीर को दूषित करने वाले दोष शारीरिक दोष कहलाते हैं। शारीरिक दोषों में विकार ऋतु परिवर्तन, आहार-विहार के वैषम्य के कारण आता है। आहार एवं विहार के विषम होने पर शारीरिक दोष एवं रक्त विकृत होकर शारीरिक विकारों- ज्वरातिसार, शोक, शोष, प्रमेह, श्वास एवं कुष्ठ आदि विकारों को उत्पन्न करता है। आयुर्वेदज्ञों ने शारीरिक दोष तीन स्वीकार किए हैं- वात, पित्त एवं कफ। शरीर में इनकी उत्पत्ति पाञ्चभौतिक द्रव्यों से होती है। *सुश्रुतसंहिता* में त्रिविध दोषों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा एवं वायु विसर्ग, आदान एवं विक्षेप क्रिया द्वारा संसार को धारण करते हैं, उसी प्रकार सूर्य का प्रतिनिधि पित्त आदान कार्य द्वारा, चन्द्र का प्रतिनिधि कफ विसर्ग कार्य द्वारा एवं वायु का प्रतिनिधि विक्षेप कार्य द्वारा शरीर को धारण करते हैं।[111] परन्तु जब सूर्य, चन्द्रमा और वायु कुपित होते हैं तो सृष्टि में प्रलय की स्थिति बन जाती है, उसी प्रकार त्रिविध दोष जब शरीर में कुपित अवस्था में होते हैं तो अनेक विकारों को उत्पन्न करते हैं।

चरकसंहिता में एक उत्तम उदाहरण के माध्यम से त्रिविधदोषों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "**सर्व एव निज विकारा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निर्वर्तन्ते, यथा हि शकुनिः सर्वं दिवसमपि परिपतन् स्वां छायां नातिवर्त्तते, तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्तः सर्वे विकारा वातपित्तकफान्नातिवर्त्तन्ते**"॥[112] अर्थात् जिस प्रकार पक्षी दिन भर परिभ्रमण करने पर भी अपनी छाया से अलग नहीं हो सकता, उसी प्रकार कफ, पित्त एवं वात दोष की विषमता से उत्पन्न सभी शारीर दोषजन्य रोग वात-पित्त-कफ का अतिक्रमण नहीं करते और रोगों का नामकरण उनके लक्षण एवं प्रकृति विशेष को देखकर किया जाता है।

---

[111] विसर्गादानविक्षपैः सोमसूर्यानिला यथा। धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तनिलास्तथा॥ *सु०सं०,सू०* 21/8

[112] *च०सं०,सू०* 19/5

चरकसंहिता में अन्यत्रस्थान पर कहा गया है कि जिस प्रकार धर्म, अर्थ एवं काम परस्पर विरुद्ध होते हुए एक-दूसरे के सहायक बनकर मोक्ष का साधन बनते हैं, वैसे ही त्रिविध दोष साम्यावस्था में रहकर शरीर को बल, वर्ण, ओज समृद्धि एवं दीर्घायु प्रदान करते हैं। इन दोषों के वैषम्यावस्था में होने पर ये शरीर में विभिन्न विकार उत्पन्न करते हैं।[113] सुश्रुत के अनुसार सम्पूर्ण व्याधियाँ दोषों के कारण ही उत्पन्न होती है। जिस प्रकार जगत् की प्रत्येक वस्तु सत्त्व, रज एवं तम की विविधता के कारण उत्पन्न होती है और विविध गुण एवं विशेषताओं को प्राप्त करती है, उसी प्रकार शरीर के समस्त विकार दोषों के बिना उत्पन्न नहीं हो सकते- **दोषाणां विकारजनकत्वं व्याधिजनकत्वञ्च।** दोष, धातु एवं मल के संसर्ग, आयतन एवं निमित्त वैशिष्ट्य से ही विविध विकारों का नामकरण किया गया है। अतः किसी भी प्रकार की व्याधि दोषों के बिना उत्पन्न नहीं होती है।

2.1.3 मानसिक दोष :- मन तथा इन्द्रिय को दूषित करने वाले भावों को मानसिक दोष कहते हैं। इनकी उत्पत्ति इच्छा, द्वेष, रूप क्रिया-विघात से होती है। आचार्यों ने इनकी संख्या दो बताई है- रज एवं तम।[114] सत्त्व गुण ज्ञान एवं प्रकाश का स्वरूप है, जिसकी प्रकर्षावस्था से आत्मा के ज्ञान-गुण का प्रकाशन होता है। ज्ञान चित् स्वरूप है, अतः उसे दोष संज्ञा नहीं दी गई है। शरीर में रज एवं तम गुण के कारण ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, चिन्ता, उद्वेग, भय, विषाद, अभ्यसूया, मात्सर्य आदि विकार प्रादुर्भूत होते हैं। शारीरिक एवं मानसिक दोष प्राथमिक रूप से शरीर एवं मन को विकृत करने पर इनका अनुबन्ध एक दूसरे में हो जाता है।

2.1.4 दोषों के स्थानविशेष :- शरीर के प्रत्येक सूक्ष्म एवं स्थूल अवयव में त्रिविध दोष विद्यमान हैं। शरीर के प्रत्येक स्रोतस् में ये दोष संचरित होते हैं। इसलिए साम्यावस्था में शरीर के प्रत्येक अवयव में इन त्रिविध दोषों की प्राकृत क्रियाएँ होती हैं।

---

[113] *च०सं०,सू०* 12/13

[114] रजस्तमश्च मानसौ दोषौ। *च०सं०,वि०* 6/5

नियतस्त्वनु बन्धो रजस्तमसोः परस्परं न हि अरजस्कं तमः प्रवर्त्तते। *च०सं०,वि०* 6/9

वैषम्यावस्था में शरीर के किसी भी अवयव में विकार होने की सम्भावना बढ़ जाती है, तथापि इन त्रिविध दोषों का शरीर में अपना-अपना विशिष्ट स्थान है। शरीर के ऊर्ध्वभाग में अर्थात् हृदय से ऊपर कफ का, शरीर के मध्यभाग में अर्थात् हृदय और नाभि के बीच पित्त का तथा शरीर के अधोभाग अर्थात् नाभि से नीचे वायु का स्थान है। ऋतु-परिवर्तन[115] के कारण त्रिविध दोष स्वाभाविक रूप से प्रकुपित व शान्त होते रहते हैं।

विश्व के सभी स्थानों अथवा देशों में ऋतुएँ एक समान नहीं पाई जाती। इस भिन्नता के कारण अलग-अलग स्थानों, देशों, कालों, दोषों के संचय, प्रकोप तथा शमन के समय व प्र ि या में भी भिन्नता मिलती है। यदि दोषों का यह असन्तुलन एक सीमित मात्रा में होता है, तो शरीर अपनी रोगक्षमता के कारण असन्तुलन को सहन कर लेता है तथा कोई विकार नहीं होता। परन्तु यदि दोषों का संचय, प्रकोप आदि सीमा का अतिक्रमण कर दें अर्थात् बहुत अधिक मात्रा में हों, तो शरीर की प्रतिरोधक शक्ति भी उनका प्रतिरोध नहीं कर सकती और मनुष्य रोगाक्रान्त हो जाता है। ऋतुपरिवर्तनों के अतिरिक्त अनेक कारण हैं जिसमें दोष प्रकुपित होते हैं, यथा अनुचित आहार-विहार आदि। इन कारणों से मनुष्य रोगग्रस्त हो जाता है। रोग की अभिव्यक्ति के लिए त्रिविध दोषों को विभिन्न अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। इन अवस्थाओं को आयुर्वेद में क्रियाकाल के नाम से जाना जाता है। क्रियाकाल की यें छः अवस्थाएँ हैं-

"सञ्चयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्। व्यक्तिं भेदञ्च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद् भिषक्"॥[116]

---

[115] परिशिष्ट-2 देखें

[116] *सु०सं०,सू०* 21/36

यदि प्रारम्भिक अवस्था में ही दोषों को शान्त कर दिया जाए, तब उत्तर अवस्थाएँ प्राप्त ही नहीं होती। अतः स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य पहले तो विकारग्रस्त ही न हो, यदि विकारग्रस्त हो भी जाए, तब रोग के प्रारम्भ में ही उसे पहचानकर प्राथमिक अवस्था में आयुर्वेद द्वारा निदान एवं उपचार करना ही उचित है। इसलिए सभी व्यक्तियों को रोगमुक्त करने के लिए आयुर्वेद का सामान्य ज्ञान होना परमावश्यक है जिसके परिणामस्वरूप अनेक रोगों को उत्पन्न होने से पहले ही रोका जा सकता है। किसी भी रोग की प्राथमिक अवस्थाएँ/क्रियाकाल इस प्रकार हैं- संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्तावस्था, भेदावस्था। शरीर में इन छह अवस्थाओं का क्रमानुसार परिवर्तन होता है जिनका निम्नोक्त विवेचन किया गया है-

2.1.5 दोषों के सञ्चय लक्षण :- आयुर्वेदीय आचार्यों का मत है कि त्रिविध दोषों का किसी एक ऋतु में संचय होता है एवं दूसरी ऋतु में प्रकोप एवं अन्य ऋतु में शमन होता है। जब शरीर में तीनों दोषों में से किसी एक दोष का संचय होता है, तब संचय होने पर शरीर में लक्षण दिखाई देते हैं। *सुश्रुतसंहिता* में कहा गया है कि त्रिविध दोषों में वात दोष का संचय ग्रीष्म ऋतु में, पित्त का संचय वर्षा ऋतु में एवं शिशिर ऋतु में कफ का संचय होता है। दोषों के संचित होने का अन्यतम लक्षण संचय के कारणभूत आहार-विहार के प्रति द्वेष और विपरीत गुण की इच्छाओं का होना है। वायु के संचय से कोष्ठ का भारी और जकड़ा हुआ सा होना, पित्त के संचय से त्वचा, नाखून, नेत्रादि का पीला दिखाई देना तथा कफ के संचय से मन्दाग्नि, अङ्गों का भारीपन और आलस्य आना आदि लक्षण दोष के संचय होने पर दिखाई देते हैं।[117] यदि इन लक्षणों को देखकर दोष का शमन नहीं किया गया, तब वह अग्रिम अवस्था में पहुँच जाता है और यदि शान्त कर दिया जाए, तब वह रोगी होने से बच जाता है।

---

[117] संचितानां खलु दोषाणां स्तब्धपूर्णकोष्ठता पीतावभासता चाङ्गानां गौरवमालस्यं चयकारणविद्वेषश्चेति लिङ्गानि भवन्ति॥ *सु० सं०, सू०* 21/18

2.1.6 दोषों के प्रकोपक लक्षण :- यदि दोषों का संचय की अवस्था में प्रशमन नहीं किया गया, तो अगली अवस्था प्रकोप की होती है। *सुश्रुतसंहिता* में क्रियाकाल का विवेचन करते हुए कहा गया है कि वात दोष के प्रकोप के कारण पेट में चुभने जैसी पीड़ा तथा वायु का संचार होना, पित्त दोष के प्रकोप के कारण अम्लोद्गार अर्थात् खट्टी डकार, अधिक प्यास लगना। शरीर में जलन होना तथा कफ दोष के प्रकोप के कारण भूख कम लगना, अरुचि एवं जी मचलाना अर्थात् उल्टी का आभास होना आदि लक्षण शरीर में दिखाई देते हैं।[118] इन लक्षणों को देखकर वैद्य मनुष्य को रोगी होने से बचा सकता है, नहीं तो दोष अग्रिम अवस्था में पहुँच जाता है।

2.1.7 दोषों के प्रसर का स्वरूप एवं भेद :- प्रकोपावस्था में दोषों का उपचार यदि नहीं किया जाए, तो प्रसर अवस्था उपस्थित होती है। जिस प्रकार मद्य के संधान में सुराबीज, चावलों का कल्क और जल इनका मिश्रण रखा रहने पर उसमें उबाल आ जाता है और उनका मिश्रण पात्र से बाहर आ जाता है, उसी प्रकार अपने-अपने कारणों से प्रकुपित हुए दोषों का यदि शमन नहीं किया गया, तो वे अपने मूलस्थान से निकलकर अन्य स्थानों में गमन करते हैं। दोष अचेतन होने से स्वयं पंगु हैं, परन्तु वायु की प्ररेणा से उनमें गति आती है, क्योंकि वायु रजोगुण प्रधान है। इसलिए रजोगुण का कार्य सभी वस्तुओं को प्रेरणा देना है। प्रसरावस्था के सन्दर्भ में एक सुन्दर उदाहरण दिया जा सकता है जिस प्रकार महान् जलराशि अत्यधिक बढने पर बाँध तोड़कर चारों ओर फैलने लगती है अथवा यदि समीप में कोई अन्य जलाशय हो, तब उस जल में मिलकर फैलता है। इसी प्रकार कुपित हुए दोष अपनी सीमा छोड़कर कभी अकेले, कभी दो-दो मिलकर, कभी तीनों तथा कभी रक्त के साथ ऊपर, नीचे अथवा तिर्यक् दिशा में अथवा कोष्ठ, शाखा, मर्म, अस्थि और सन्धि इनकी ओर फैलते हैं।

---

[118] तेषां प्रकोपात् कोष्ठतोदसंचरणाम्लीकापिपासापरिदाहान्नद्वेषहृदयोत्क्लेदाश्च जायन्ते। *सु० सं०, सू०* 21/27

अतः दोषों के पृथकत्व, संसर्ग के अनुसार प्रसर पन्द्रह प्रकार का होता है- वात, पित्त, कफ, रक्त, वात-पित्त, वात-कफ, वात-रक्त, पित्त-कफ, वात-रक्त, पित्त-रक्त, कफ-रक्त, वात-पित्त-रक्त, वात-कफ-रक्त, पित्त-कफ-रक्त, वात-पित्त-कफ तथा वात-पित्त-कफ-रक्त।[119]

सुश्रुतसंहिता में कथित है कि जिस प्रकार आकाश में वायु से आहत होकर बादल जहाँ पहुँचते हैं वहीं वर्षा करते हैं, उसी प्रकार कुपित दोष शरीरान्तर्गत वायु से प्रेरित होकर, जिस स्थान में फैलते हैं, उसी स्थान में व्याधि की उत्पत्ति करते हैं।[120] इस प्रकार दोषों के प्रसर की व्यापकता के अनुसार विकार समस्त शरीर में, शरीर के किसी एक अङ्ग में अथवा उसके किसी एक अंश में उत्पन्न हो सकता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दोष के अधिक कुपित न होने के कारण उसके लक्षण तत्काल दिखाई नहीं देते। अतः लक्षण प्रतीत न होने के कारण उपाय नहीं किया जाता। परन्तु इससे दोष स्वयं शान्त नहीं हो जाता, बल्कि अपने प्रकोपक कारणों की प्रतीक्षा में शान्त होकर बैठा रहता है। दोष के कारण उपस्थित होने से प्रकुपित और प्रसृत होकर रोग उत्पन्न होते हैं। *चरकसंहिता* में दोषों के प्रसर का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'व्यायाम, बाह्य या आभ्यन्तर ऊष्मा, तीक्ष्ण आहार या औषधि, अहित आहार-विहार का सेवन तथा स्वयं वायु का चाञ्चल्य, इन कारणों से दोष कोष्ठ से शाखाओं अर्थात् रसरक्तादि धातुओं में विस्तार करते हैं। परिस्थिति अनुकूल होने पर तत्काल या पश्चात् रसज, रक्तज आदि विकार उत्पन्न करते हैं।[121] शरीर में दोषों के फैलने पर अनेक लक्षण प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

---

[119] *सु०सं०,सू०* 21/28

[120] कृत्स्नेऽर्धेऽवयवे वापि यत्राङ्गे कुपितो भृशम्। दोषो विकारं नभसि मेघवत् तत्र वर्षति।। *सु०सं०,सू०* 21/29

[121] व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्याद्धितस्यानवचारणात्। कोष्ठाच्छाखा मला यान्ति द्रुतत्वान्मारुतस्य च॥
तत्रस्थाश्च विलम्बन्ते कदाचिन्ना समीरिताः। नादेशकाले कुप्यन्ति भूयो हेतुप्रतीक्षिणः॥ *च०सं०,सू०* 28/31-32

शरीर में प्रसृत वायु के लक्षण विरुद्ध मार्ग में गमन अर्थात् ऊर्ध्व या तिर्यक् गति और गुड़गुड़ी सहित आध्मान होना, पित्त के प्रसृत लक्षण उष्णता, सूई चुभने जैसी शरीर में वेदना, दाह और धूम के समान डकार एवं कफ के प्रसृत लक्षण अरुचि, अजीर्ण, बिना किसी कारण के थकावट तथा छर्दि ये लक्षण दिखाई देते हैं। यदि इस अवस्था में दोष को शान्त कर दिया गया हो, तो मनुष्य रोगी होने से बच सकता है, क्योंकि अग्रिम अवस्था में दोष अपने स्थान से बाहर निकलकर अन्य स्थानों में फैलने लगते हैं।

2.1.8 स्थानसंश्रय :- शरीर में प्रसर अवस्था के स्पष्ट कारणों को देखकर यदि दोषों का उपचार नहीं किया गया, तब स्थानसंश्रय नामक चतुर्थ अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। शरीर में कुपित दोषों का प्रसार रसवाहिनियों द्वारा होता है। *सुश्रुतसंहिता* में वर्णित है कि स्थानविशेष रस-रक्तवाहिनियों के किसी विकार के कारण प्रसृत होते हुए दोष यदि उसी स्थान पर अवरूद्ध हो जाए, तो वहीं रोगों की उत्पत्ति प्रारम्भ करते हैं। उस स्थान के रस, रक्त आदि धातुओं के साथ दोषों के समागम का नाम ही स्थानसंश्रय है।[122] इस प्रकार दोषों का स्थानसंश्रय यदि उदर में हो तो गुल्म, विद्रधि, उदर, मन्दाग्नि, आध्मान, विसूचिका, प्रवाहिका, विलम्बिका आदि विकार होते हैं। यदि बस्ति में हो तो प्रमेह, अश्मरी, मूत्र में रूकावट, मूत्रदोष आदि रोग उत्पन्न होते हैं। यदि वृषण में हो तो वृद्धियाँ हो जाती है। यदि शिश्न में हो तो निरुद्धप्रकर्ष, उपदंश, शुक्र से सम्बन्धित दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यदि गुदा में हो तो भगंदर, अर्श आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ग्रीवामूल के ऊर्ध्वभाग में होने पर ऊर्ध्वजत्रुगत विकार हो जाते हैं। त्वचा, मांस और रक्त में होने पर क्षुद्ररोग, कुष्ठ और विसर्प रोग हो जाते हैं, मेद धातु में होने पर ग्रन्थि, गण्डमाला, अर्बुद, गलण्ड, अलजी आदि विकार हो जाते हैं।

---

[122] कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र संगःस्व वैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते॥ *सू०सं०,सू०* 24/10

अस्थि में होने पर विद्रधि अनुशयी आदि विकार, चरण में होने पर श्लीपद, वातरक्त, वातकण्टक आदि तथा सर्वाङ्ग में होने पर सर्वाङ्गीण वातव्याधि, मेह रोग, पाण्डुरोग, शोष आदि सर्वाङ्गत रोग उत्पन्न होते हैं।[123] इसलिए स्थानसंश्रय में दोषों के ज्ञान होने पर उपचारक द्वारा शान्त कर दिया जाना चाहिए, नहीं तो वे अग्रिम अवस्था में पहुँच जाते हैं एवं शरीर में अधिक विकृति लाते हैं।

2.1.9 अभिव्यक्ति :- स्थानसंश्रय के उद्भवकाल में भी यदि दोषों का प्रतिकार नहीं किया गया तो पञ्चम अवस्था आती है। सुश्रुत ने क्रियाकाल को परिलक्षित करते हुए कहा है कि इस अवस्था में ज्वर, अतिसार, उदर आदि तथा शोफ, अर्बुद, ग्रन्थि, विद्रधि, विसर्प आदि व्याधियों के चिकित्सा के प्रकरणोक्त लक्षण दिखाई देते हैं। शरीर में ऊष्मा की वृद्धि, अतिसार में सरण (द्रव मल प्रवृति), उदर का उत्सेध, कामला में पीतवर्णता, विसूचिका में उदर में पीड़ा आदि लक्षण व्यक्त होते हैं। इसलिए इस अवस्था का नाम व्यक्ति है।[124] इस अवस्था में विकारों के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं, जिनको चिकित्सक द्वारा देखकर शमन कर देना चाहिए। यदि इस अवस्था में भी दोषों का शमन नहीं किया गया, तब वह अग्रिम अवस्था में पहुँचकर असाध्य हो जाते हैं, तत् पश्चात् दोषों को शान्त करना सम्भव नहीं हो सकता।

2.1.10 भेद :- पूर्व अवस्था में यदि दोषों का प्रत्युपाय न करें, तब उनके लक्षण और अधिक व्यक्त होकर भेद नामक अवस्था को प्राप्त करते हैं। *सुश्रुतसंहिता* में कथित है कि इसमें शोथादि तो विदीर्ण होकर व्रणरूप (फटना) हो जाते हैं तथा ज्वर, अतिसार आदि जीर्ण हो जाते हैं। शोथादि के पक्ष में भेद शब्द का अर्थ उनका व्रणभाव है। ज्वरादि विकारों के पक्ष में इसका अर्थ विशेषता है। अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा इस अवस्था की यह विशेषता होती है कि इसमें पहुँचने पर रोग जीर्ण हो जाते हैं।

---

[123] *सु॰सं॰, सू॰* 21/33

[124] शोफार्बुदग्रन्थिविद्रधिविसर्पप्रभृतीनां प्रव्यक्तलक्षणता ज्वरातीसारप्रभृतीनां च॥ *सु॰सं॰, सू॰* 21/34

यदि इस अवस्था में विकारों का प्रशमन नहीं किया गया, तो विकार असाध्य कोटि में पहुँच जाते हैं तब उसकी चिकित्सा संभव नहीं है।[125] इसलिए *चरकसंहिता* में कहा गया है कि-

"अणुर्हि प्रथम भूत्वा रोगः पश्चाद् विवर्धते। स जातमूलो मुष्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः॥

तस्मात् प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा। भेषजैः प्रतिकुर्वीत य इच्छेत् सुखमात्मनः॥[126]

दोषों का प्रत्युपाय न करने से सञ्चित दोष सर्वप्रथम अणु होता हुआ क्रमानुसार धातुओं में गहरा प्रवेश करता है, स्थिर और अधिक विस्तृत हो जाते हैं। उस समय दृढ़मूल वृक्ष के समान उसके शरीर से उच्छेद करना दुष्कर होता है। जिस प्रकार दुष्ट ग्रह के आगे सभी मन्त्र निष्फल हो जाते हैं, उसी प्रकार उस रोग के लिए प्रयुक्त समस्त औषधियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। अतः इस अवस्था में पहुँचने से पहले ही दोषों का शमन करके रोगी को स्वस्थ बनाना चाहिए।

2.1.11 दोष के भेद :- आयुर्वेदज्ञों ने शारीर दोष के तीन भेद स्वीकार किए हैं- वात, पित्त एवं कफ। इन्हें त्रिदोष शब्द से परिभाषित किया जाता है। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि **"वायुः पितः कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः"**[127] अर्थात् वात, पित्त एवं कफ ये शारीर दोष हैं। इनकी उत्पत्ति पञ्चमहाभूतों[128] के संयोग से होती है। ये त्रिविध दोष सर्वशरीरव्यापक हैं। त्रिविध दोष जब अपनी स्वाभाविक अवस्था में रहते हैं तब सुखजनक अर्थात् शरीर की वृद्धि, बल, वर्ण और प्रसन्नता को उत्पन्न करते हैं।

---

[125] अत ऊर्ध्वमेतेषामादीर्णानां व्रणभाव षष्ठः क्रियाकालः ; ज्वारातिसारप्रभृतीनां च दीर्घकालानुबन्धः। तत्राप्रतिक्रियमाणेऽसाध्यतामुपयान्ति॥ *सु०सं०,सू०* 21/35

[126] *च०सं०,सू०* 11/58-63

[127] *च०सं०,सू०* 1/57 ; दोषाः पुनस्त्रयोः वातपित्तश्लेष्माणः, *च०सं०,वि०* 1/5 ; वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः। *सु०सं०,सू०* 21/3 ; वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः। *अ०हृ०,सू०* 1/6

[128] परिशिष्ट-3 देखें

विकृत अवस्था में अनेक प्रकार के विकाररूपी अशुभ कार्यों के करने वाले होते हैं। *सुश्रुतसंहिता* में त्रिविधदोष के साथ रक्त को दोष की संज्ञा दी गई है **"नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न न मारूतात्। शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते"॥**[129] अर्थात् यह शरीर न तो कफ के बिना सम्भव है न पित्त के बिना और न ही वात के बिना तथा रक्त के बिना भी नहीं। इन सबके द्वारा शरीर धारण होता है। शरीर में वात, पित्त एवं कफ विभिन्न स्थानों में पाए जाने वाले द्रव्य हैं। इनका शरीर में परिसंचरण रस-रक्त के माध्यम से होता है। अतः रक्त को भी वात, पित्त एवं कफ के समान शरीर दूषित करने में उसकी प्रमुखता होने से दोष कहा जाना चाहिए। वातज, पित्तज एवं श्लेष्मज विकारों के समान रक्तज विकारों का वर्गीकरण आचार्यों ने किया है। इससे दोषों के समान रक्त भी रोगोत्पत्ति में सामर्थ्यवान् है। उपरोक्त वक्तव्यों के आधार पर रक्त को प्रधानता देने पर भी आयुर्वेदज्ञों ने उसे दोष रूप में स्वीकार नहीं किया है। निम्नोक्त युक्तियाँ त्रिविध दोषों को सिद्ध करती हैं-

- सुश्रुत ने व्रणप्रश्नाध्याय में त्रिविध दोष को शरीरोत्पत्ति में कारण स्वीकार किया है। ये त्रिविध दोष शरीर के ऊर्ध्व, मध्य एवं अधोभाग में व्याप्त होकर तिपाई के तीन खम्भों के समान शरीर को धारण करते हैं। इससे दोषों को त्रिस्थूण भी कहा जाता है।[130] जिस प्रकार चन्द्रमा, सूर्य और वायु अपने विसर्ग, आदान और विक्षेप इन कार्यों द्वारा सम्पूर्ण जगत् को धारण करते हैं उसी प्रकार त्रिविध दोष भी सम्पूर्ण शरीर को धारण करते हैं।
- सुश्रुत ने त्रिविध दोषों के साथ रक्त का वर्णन न करके अपितु उसका विवेचन धातुओं के साथ ही किया है। इसलिए रक्त को आचार्यों ने दोष न स्वीकार करके धातु ही स्वीकार किया है। उन्होंने शोणितवर्णनीयाध्याय में भी दूषित रक्त का वात एवं पित्त दोष से दुष्ट होने के रूप में विवेचन किया है।

---

[129] *सु० सं०, सू०* 21/4

[130] शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिरतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके। *सु० सं०, सू०* 21/3

- इसी प्रकार त्रिविध दोष के प्रकोपक कारणों का उल्लेख तो किया गया है परन्तु रक्त के प्रकोपक कारणों का स्वतंत्र रूप से वर्णन नहीं किया गया है। रक्त के प्रकोपक कारणों में त्रिविध दोषों को स्वीकार किया है।
- दोषों की उत्पत्ति पाञ्चभौतिक आहार-द्रव्यों के पाक से उत्पन्न द्रव्यों द्वारा होती है। पाक के लिए मधुर, अम्ल एवं कटु अवस्था तथा पाक के उपरान्त उत्पन्न विपाक रस भी मधुर, अम्ल एवं कटु रस तीन ही होते हैं। अतः दोषों की संख्या भी तीन ही है।
- प्रकृति में सत्त्व, रज एवं तम तीन गुण विद्यमान रहते हैं। उनकी विविधता से उत्पन्न सत्त्वगुणाधिक्य पित्त, रज गुणात्मक वात एवं तमोगुणात्मक कफ दोष तीन ही होते हैं।

अतः उपरोक्त आधार पर आचार्यों ने रक्त को दोष नहीं मानकर उसे सप्तधातुओं में ही स्वीकार किया है। अब त्रिविधदोषों में से केवल वात एवं कफ दोष की व्युत्पत्ति, गुण एवं भेदों का विवेचन किया जाएगा। पित्तदोष की निरुक्ति, गुण, भेद आदि का पर्यालोचन अग्रिम अध्याय में किया जाएगा।

क. वातदोष परिचय :- वात एवं वायु समानार्थक शब्दों के रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं। शरीरोत्पादक तत्त्वों दोष-धातु-मलों में शरीर की विभिन्न क्रियाओं का संचालन एवं नियन्त्रण दोषों द्वारा ही होता है। त्रिविध दोषों में वात रजोगुण से युक्त होने से क्रियाशील है और वह अन्य दोषों को भी क्रियाशील बनाता है, जिससे वह शरीर की क्रियाओं का संचालक एवं नियन्त्रक होता है।

ख. वात शब्द की निरुक्ति :- वात शब्द की व्युत्पत्ति **'वा गतिगन्धनयोः'**[131] धातु से हुई है। 'वा' धातु में क्त प्रत्यय लगने से 'वात' शब्द का निर्माण हुआ है अथवा वा धातु में 'तन्' प्रत्यय लगकर 'न्' का लोप होने पर वात शब्द बनता है। वायु शब्द भी **'वा गतिगन्धनयोः'** धातु से निर्मित है। गति शब्द से ज्ञान एवं प्राप्ति अर्थ प्राप्त होते हैं।

---

[131] *सु०सं०,सू०* 21/5

सुश्रुतसंहिता में वात की आत्मा वायु को स्वीकार किया गया है अर्थात् वात की उत्पत्ति वायु से होती है।[132] शरीर में वातदोष के अनेक गुण होते हैं, इनका वर्णन अधोलिखित है-

ग. वात दोष के गुण :- किसी भी द्रव्य का स्वरूप उसके गुण-कर्मों के आधार पर निर्धारित किया जाता है। वात दोष का स्वरूप उसके गुण-कर्मों पर आश्रित है। *चरकसंहिता* में वात के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि **"रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः"।**[133] अर्थात् वायु के रूक्ष, शीत, हल्का, सूक्ष्म, गतिशील, विशद और खुदरा ये गुण हैं। वाग्भट्ट भी वातदोष[134] के यही गुण स्वीकार करते हैं। *सुश्रुतसंहिता* में इसके गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसके कर्म व्यक्त हैं तथा यह रुक्ष, शीत, लघु और खर है। यह तिर्यग्गामी, शब्द और स्पर्श दो गुणों वाला तथा रजोगुण की अधिकता वाला है।[135]

घ. वात दोष के स्थान :- शरीर के प्रत्येक अंग में वात दोष को स्वीकार किया जाता है। वात दोष का प्रमुख स्थान पक्वाशय कहा जाता है। *चरकसंहिता* में वात दोष के स्थानों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि **"बस्तिः पुरीषाधानं कटिः सक्थिनी पादावस्थीनि पक्वाशयश्च वातस्थानानि"।**[136] अर्थात् बस्ति, पक्वाशय, कटि, दोनों उरु, दोनों पैर एवं सभी हड्डियाँ वात दोष के स्थान हैं। इन में से पक्वाशय वात दोष का प्रमुख स्थान है अर्थात् सर्वशरीरचर होते हुए भी पक्वाशय वात दोष का प्रमुख केन्द्र है तथा बस्तिकर्म द्वारा उपचार करने पर पक्वाशय के शुद्ध हो जाने से वात विकारों को शान्त किया जा सकता है।

---

[132] वायोरामैवात्मा। *सु०सं०,सू०* 42/5

[133] *च०सं०,सू०* 1/59

[134] तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः। *अ०हृ०,सू०* 1/11

[135] अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्षः शीतो लघुः खरः। तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च। *सु०सं०,नि०* 1/7

[136] *च०सं०,सू०* 20/8

सुश्रुतसंहिता में इन स्थानों के अतिरिक्त गुदा को वातस्थानों में शामिल किया गया है **"तत्र समासेन वातः श्रोणिगुदसंश्रयः"** अर्थात् संक्षेप में वायु का स्थान श्रोणि और गुदा है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रोणि और गुदा में होने वाली वायु की क्रियाओं की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान जाने के कारण श्रोणि एवं गुदा को वायु का विशेष स्थान सुश्रुत ने बताया है। काश्यप ने नाभि से नीचे का स्थान, अस्थि एवं मज्जा को वात के स्थान स्वीकार किये हैं। *अष्टाङ्गहृदय* में इन स्थानों के अतिरिक्त श्रोत्र, स्पर्शनेन्द्रिय एवं अस्थि को वातस्थानों में ग्रहण किया गया है-

"पक्वावशयकटीसक्थिश्रोत्रास्थिस्पर्शनेन्द्रियम्। स्थानं वातस्य, तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः"॥[137]

अर्थात् वात दोष के मलाशय, कमर, दोनों पैर, दोनों कान, हड्डियाँ तथा त्वचा स्थान स्वीकार किए गए हैं। इन सभी में जठाराग्नि द्वारा पुनः पके हुए आहार का स्थान मलाशय वात दोष का प्रमुख स्थान है। सम्भवतः मलाशय को वात दोष को प्रमुख स्थान कहने से आचार्यों का तात्पर्य पक्वाशय एवं उसके आस-पास के क्षेत्र मल-त्याग का प्रमुख स्थान होने से है। धातुपाक के परिणामस्वरूप उत्पन्न मलों का नियमित विसर्जन जीवन के लिए अत्याश्यक है। यह क्रिया नियमित होते रहने से मनुष्य की धातुपाक क्रिया सम रहती है एवं मनुष्य पूर्णरूप से स्वस्थ रहता है। यदि मनुष्य के मल-त्याग में व्यवधान हो जाए, तब शरीर में अरति, आध्मान, शूल, अरुचि, मूत्राघात आदि अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। वातदोष के सामान्य स्थान के साथ-साथ आयुर्वेदज्ञों ने विशिष्ट स्थान भी स्वीकार किए हैं, जिनका विवेचन इस प्रकार है-

ङ. वातदोष का विशिष्ट स्थान :- वात दोष यद्यपि सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, तथापि वात दोषों के स्थानों में आचार्यों ने अनेक स्थानों पर वात के विशिष्ट कर्मों के कारण उनका उल्लेख किया है। आचार्यों ने वात दोष का प्रमुख स्थान पक्वाशय बताया है। पक्वाशय का सम्बन्ध मल के विसर्जन से है। आहार के पच जाने के उपरान्त उत्पन्न उपादान द्रव्यों से पक्वाशय में वात दोष की पुष्टि होती है।

---

[137] *अ०हृ०, सू०* 12/1

मलाशय, बस्ति एवं सम्पूर्ण श्रोणिप्रदेश में तन्त्रिकाओं के प्रभावशाली केन्द्र भी विद्यमान है। सम्पूर्ण पाकनलिका में वात की गति निरन्तर होती रहती है, जो आहार के पाचन एवं उसे आगे बढ़ाने में सहायता करती है। यद्यपि अस्थि को भी वात दोष का स्थान स्वीकार किया गया है। आचार्यों ने अस्थि के साथ-साथ उसमें विद्यमान मज्जा, श्रोत्र एवं त्वचा भी वातजन्य क्रिया के कारण वातस्थानों में शामिल किया गया है।

च. लोकवात एवं शरीरवात :- पर्यावरण में उपस्थित वायु एवं शरीरवात में संगठन एवं कार्य की दृष्टि से समानता है। लोकवात पाञ्चभौतिक होते हुए भी उसमें वायु महाभूत की अधिकता होती है जबकि शरीरवात में वायु एवं आकाश महाभूत का आधिक्य है। दोनों में रजोगुण है और प्रभावी, सर्वगत एवं कार्यकारी है। *चरकसंहिता* के वातकलाकलीय अध्याय में शरीरवात एवं लोकवात का सुन्दर विवेचन किया गया है। लोकवात एवं शरीरवात में रूक्ष, लघु, शीत, दारुण, खर एवं विशद ये छः गुण होते हैं। यह वायु इसी प्रकार के गुण वाले द्रव्यों और इसका प्रभाव रखने वाले कर्मों के लगातार सेवन से प्रकुपित होता है, क्योंकि समान गुण वाले आहार-विहारादि का सेवन धातुओं की वृद्धि का कारण माना गया है।[138] *चरकसंहिता* में सभी जगह विद्यमान वायु को भगवान् कहा गया है- सर्वगत एवं प्रभावी होने से वायु भगवान् है। वह समस्त जगत् की उत्पत्ति का हेतु है, नाश से रहित है, प्राणियों को उत्पन्न करता है और उनका विनाश भी करता है। वही सुःख-दुःखकर्ता है। वह मृत्यु, यम, नियन्ता, प्रजापति, अदिति, विश्वकर्मा, विश्वरूप और सर्वत्र गति करने वाला है। वह सूक्ष्म, व्यापक, सर्वत्र चारों ओर लोक-लोकान्तरों में फैला हुआ है। वह सभी जगह पहुँच सकता है। वह लोकों का अतिक्रमण करता है। वह सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से सम्पन्न भगवान् है।[139]

---

[138] *च०सं०,सू०* 12/7

[139] स हि भगवान् प्रभवश्चाव्ययश्च, भूतानां भावाभावकरः, सुखासुखयोर्विधाता, मृत्युः, यमः, नियन्ता, प्रजापतिः, अदितिः, विश्वकर्मा, विश्वरूपः, सर्वगः, सर्वतन्त्राणां विधाता, भावानामणुः, विभुः, विष्णुः, क्रान्तां लोकानां, वायुरेव भगवानिति। *च०सं०,सू०* 12/8

छ. वातदोष के भेद :- सामान्यतः एक ही वात सम्पूर्ण शरीर में फैलकर विभिन्न कार्यों को सम्पादित करता है तथापि स्थान एवं कार्य के भेद से इसे पाँच वर्गों में विभाजित किया गया है। आयुर्वेदज्ञों ने वातदोष को परिलक्षित करते हुए कहा है कि-

- **प्राणवायु।**
- **उदानवायु।**
- **समानवायु।**
- **व्यानवायु।**
- **अपानवायु।**[140]

शाङ्गर्धरसंहिता के अनुसार मलाशय में अपान वायु, अग्नि के स्थान कोष्ठ में समान वायु, हृदय में प्राणवायु, कंठ में उदान वायु और सम्पूर्ण शरीर में व्यान वायु संचरण करती है।[141] अन्य शास्त्रकारों द्वारा नाग, कूर्म, क्रकर, देवदत्त और धनञ्जय इन पाँच भेदों का वर्णन किया गया है। उनके अनुसार उद्गार कर्म वाली नाग, नेत्रों के उन्मीलन-निमीलन एवं श्वास-प्रवास करने वाली कूर्म, भूख को उत्तेजित करने वाली क्रकर, जम्भाई लाने वाली देवदत्त तथा सम्पूर्ण शरीर में जीवित अवस्था में रहने वाली वायु को धनञ्जय नाम दिया गया है। शरीरवात को पाँच भेदों में विभक्त करने पर भी यह जानना चाहिए कि प्रत्येक वात अलग-अलग एवं स्वतन्त्र नहीं है। शरीरवात के कार्य प्रमुख रूप से पाँच विभिन्न क्षेत्रों में दिखाई देते हैं और इन कार्यों के विकृत होने पर भिन्न-२ विकार उत्पन्न होते हैं। इसलिए वायु को पाँच भेदों में विभक्त किया गया है। अतः वातदोष के कार्यों का वर्णन इस प्रकार विवेचित है-

---

[140] प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च। *सु०सं०,नि०* 1/12 ;
प्राणोदानसमानाख्यव्यानापानैः स पञ्चधा। *च०सं०,चि०* 28/8, परिशिष्ट-4 देखें

[141] *शा०सं०,पू०* 5/27-28

ज. वातदोष के कार्य :- शारीरिक दोषों में वात प्रमुख दोष है। प्राकृत वातदोष उत्साहादि मानसिक क्रियाओं, उच्छ्वास-निःश्वास, गमनागमादि शारीरिक क्रियाओं, रस-रक्तादि धातुओं का शरीर में संचरण एवं शरीर परमाणुओं में उन्हें भेजना तथा मूत्र-पुराषादि मलों का धारण एवं स्वतः रूप से त्याग कराती है। वातदोष द्वारा शरीर की सम्पूर्ण चेष्टाएँ सम्पादित होती है और प्राणों का अनुरक्षण करने के कारण इसे प्राण भी कहते हैं। यह साम्यावस्था में मन सहित इन्द्रियों से उनके विषयों की सम्यक् प्राप्ति कराता है। यह अन्य दोष, धातु एवं अग्नि को साम्य रखता है और शरीरानुकूल सम्पूर्ण क्रियाओं को सम्पन्न कराता है। यह शरीर के अंग-प्रत्यंग में विभाजन करने का कार्य करता है। वायु देह-परमाणुओं के संयोग एवं विभाग में हेतु होता है। जैसे मधुमक्खी मोम से मधुकोष्ठों का निर्माण करती है, वैसे ही वात विभिन्न धातुओं को चुनकर कोष्ठों के भीतर अंगावयवों की रचना करता है। इसी कारण वात सभी प्राणियों के प्राणों का आधार कहा गया है।

अष्टाङ्गहृदय में वातदोष को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि इसके कार्यों में वायु का ग्रहण करना, वायु को बाहर निकालना, मन को उत्साह एवं प्रेरणा देना, अंग-प्रत्यंगों में चेष्टा उत्पन्न करना, इन्द्रिय को विषयों में प्रवृत कराना, मल-मूत्रादि के वेगों को स्वाभाविक स्थिति में प्रवृत कराना और इसी प्रकार अन्य देह कार्यों को सम्पन्न करते हुए शरीर का अनुग्रह करता है।[142] *सुश्रुतसंहिता* में वात दोष के कार्यों में प्रस्पंदन, उद्वहन, आहार को यथास्थान पहुँचाना, सार एवं किट्ट भाग का विभाजन करना, वेगरहित अवस्था में मूत्र, पुरीष, शुक्र, आर्त्तव को उनके आशयों में स्थिर रखना और वेग काल में प्रवृत्त करना बतलाया है।[143]

---

[142] तं चलः उत्साहोच्छवासनिश्वासचेष्टावेगप्रवर्तनैः। सम्यग्गत्या च धातूनामक्षाणां पाटवेन च।अनुगृणात्यविकृतः॥ *अ०हृ०,सू०* 12/1-2 तमुच्छवासनिश्वासोत्साहप्रस्पन्देन्द्रियपाटववेगप्रवर्त्तनादिभिः वायुरनुगृह्णाति। *अ०सं०,सू०* 19/3

[143] तत्र प्रस्पन्दनोद्वहनपूरणविवेकधारणलक्षणो वायुः पञ्चधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति॥ *सु०सं०,सू०* 15/4 ; *सु०सं०,शा०* 7/9-10 ; *सु०सं०,नि०* 1/10

इन कार्यों से शरीर की स्थिति अनुरक्षित रहती है। *चरकसंहिता* में वात दोष के अनेक कार्यों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है यह शरीर की समस्त व्यवस्था और शरीरस्थ समस्त अंगों को धारण करता है। वह पाँच वायु द्वारा शरीर का संचालन करता है। यह अनेक प्रकार की छोटी-बड़ी चेष्टाओं का प्रवर्तक है। यह मन को नियन्त्रित और प्रेरित करता है। यह सम्पूर्ण इन्द्रियों को ग्रहण करने का सामर्थ्य प्रदान करता है। यह समस्त इन्द्रियार्थों को संज्ञावह नाड़ीमार्ग से मस्तिष्क में ज्ञान कराने वाला है। वायु ही शरीर के घटक धातुओं को यथास्थान नियोजित कर शरीर का निर्माण करता है। शरीर की सन्धियों को जोड़ता है। वाणी का प्रवर्तक है। शब्द और स्पर्श का मूल हेतु है। यह कर्णेन्द्रिय एवं त्वचा का मूल आश्रय, उत्साह एवं हर्ष का जनक, अग्नि का प्रेरक है। शरीर के क्लेद को सुखाता है। मल-मूत्र-स्वेद आदि मलों को निःसरित करता है। गर्भगत भ्रूण शरीर का निर्माण करता है। निरन्तर श्वास-प्रश्वास के चलते रहने और चेतना बने रहने का कारण है।[144] अतः शरीर में वातदोष के अनेक कार्य हैं, जिनसे शरीर गतिमान रहता है।

झ. वातदोष के विकार :- वातदोष तीनों दोषों में प्रधान दोष है और यह पित्त एवं कफ को भी क्रियाशील बनाता है। *शाङ्गर्धरसंहिता* के अनुसार पित्त एवं कफ स्वयं निष्क्रिय होने से पंगु हैं। जिस प्रकार बादल वायु द्वारा ले जाए जाते है और अनुकूल वर्षा उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार रजोगुणात्मक होने से वात दोष अनवस्थित एवं क्रियाशील रहता है।[145] वात दोष के कारण ही पित्त एवं श्लेष्मा की गति होती है और अनुकूल प्रकोपक कारण प्राप्त होने पर पित्त एवं कफदोष के कार्य एवं विकार उत्पन्न होते हैं।

---

144 *च०सं०,सू०* 12/8

145 पित्तं पङ्गु कफः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥ *शा०सं०,पू०* 5/25

इसके प्रकुपित होने पर शरीर में सन्धिशैथिल्य, सन्धिच्युति, अंग-प्रत्यंग फड़कना, मल-मूत्रादि का अवरोध एवं वाणी की अप्रवृत्ति, भेद, अशक्ति, रोमाञ्च, पिपासा, पुराषादि मल का शुष्क होना, अंगों में दर्द, अंगों में कम्पन, गति एवं स्पन्दन, चुभने जैसी पीड़ा, व्यथा, चेष्टा, शरीर का खुदरापन, कठिनता, विशद, छिद्रयुक्त होना, देह का रंग लाल होना, मुख का स्वाद कषाय होना, विरसता, शरीर का सूखना, उदर में पीड़ा, स्पर्श का ज्ञान न होना, अंगों का सिकुड़ना, स्तम्भन एवं लगड़ापन आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं।[146] ये विकार ही प्रकुपित वात दोष के लक्षण कहे गए हैं। वातदोष के पश्चात् पित्तदोष का पर्यालोचन करना था, परन्तु शोधप्रबन्ध का प्रमुख विषय होने के कारण उसका विवेचन तृतीय अध्याय में किया जाएगा।

ञ. श्लेष्मा/कफदोष परिचय :- शरीर में त्रिदोष की साम्यावस्था आरोग्य प्रदान करती है और विषमावस्था से विकारोत्पत्ति होती है। त्रिविध दोषों में श्लेष्मा दोष शरीर में शशि का प्रतिनिधि के रूप में स्वीकृत है। जिस प्रकार शशि अपनी शीतल किरणों से विश्व में जांगम एवं वनस्पतिज वर्ग को शक्ति प्रदान करता है, उनका पोषण करता है और सूर्य के कुप्रभाव से जांगम एवं वानस्पतिज संसार की रक्षा करता है, उसी प्रकार श्लेष्मा सोम का प्रतिनिधि बनकर प्राणियों के शरीर की वृद्धि एवं रक्षा करता है। सभी प्राणियों में विभिन्न कर्मों के लिए बल उत्पन्न करता है, उत्पन्न शक्ति से शरीर के विभिन्न विकारों से रक्षा करता है और पित्तदोष की अत्यधिक विघटनात्मक क्रियाओं को सीमित करता है।

ट. श्लेष्मा शब्द की निरुक्ति :- 'श्लेष्मा आलिङ्गने'[147] धातु में मनिन् प्रत्यय लगकर श्लेष्मा शब्द निष्पन्न होता है। आलिङ्गन का अर्थ होता है दो अथवा दो से अधिक वस्तुओं को संयुक्त करना, एक साथ जोड़ना, उन्हें परस्पर मिलाकर कार्य कराना। श्लेष्मा के पर्याय शब्दों में कफ एवं बलास शब्द अधिक प्रचलित हैं। श्लेष्मा का कार्य शरीर के अंगों का पोषण करना है।

---

[146] *अ०हृ०, सू०* 12/49-51

[147] *सु०सं०, सू०* 21/5

अष्टाङ्गहृदय में कफ[148] शब्द श्लेष्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। *चरकसंहिता* में कफ की निरुक्ति करते हुए वर्णित है **'केन जलेन फणति इति कफः'**[149] अर्थात् जिसकी उत्पत्ति अप् महाभूत से होती है अथवा जिसकी उत्पत्ति में अप् महाभूत का प्राबल्य एवं अधिकता होती है वह कफ है। श्लेष्मा में अप् महाभूत के साथ पार्थिव अंश की भी प्रबलता रहती है, जो शरीर की वृद्धि, पुष्टि करते हुए शरीर की विषम परिस्थितियों में रक्षा करता है।

आयुर्वेदज्ञों ने अग्नि, सोम, वायु, त्रिगुण, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय एवं भूतात्मा- इन बारह तत्त्वों को प्राण की संज्ञा दी है। शरीर में वायु का प्रतिनिधित्व वात दोष, अग्नि का प्रतिनिधित्व पित्त दोष एवं सोम का प्रतिनिधित्व कफ दोष करता है। श्लेष्मा को प्राण की संज्ञा इसलिए दी गई है क्योंकि वह रस से शुक्र धातु पर्यन्त तोयात्मक भावरूप में उपस्थित रहता है। रसनेन्द्रिय के बल के रूप में भी तोय रहता है और मन को अधिदैवत्त्व के रूप में प्राप्ति कराता है, इसीलिए सोम को अधिदैवत्व कहा जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा पृथिवी को क्लेदित करता है, जिससे समय पर धन-धान्यादि में रसों का उद्भव होता है और प्राणियों एवं वनस्पतियों में पोषण क्रिया सम्यक् होकर शक्ति की वृद्धि होती है, उसी प्रकार कफ शरीर में शक्ति एवं धातुओं की पुष्टि कर शरीर को धारण करता है। शरीर में कफदोष के अनेक गुण है जिनका विवेचन इस प्रकार है-

ठ. श्लेष्मा दोष के गुण :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में त्रिविध दोष, सप्तधातु एवं मलों के गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। चरकसंहिता में कफदोष के गुणों का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा गया है कि **"गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः। श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः"॥**[150] अर्थात् प्राकृत कफ में गुरु, शीत, स्निग्धता, मधुर, स्थिर, पिच्छिल, खरता रहित, कोमल, साररूप, गाढ़ा, शिथिल, सफेद, लेस युक्त एवं स्वच्छ गुण पाए जाते हैं।

---

[148] स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः। *अ०हृ०,सू०* 1/12

[149] *च०सं०,सू०* 1/61

[150] *च०सं०,सू०* 1/61

इन गुणयुक्त द्रव्यों का सेवन करने से कफ दोष की वृद्धि होती है। इसके विपरीत लघु, उष्ण, कठिन, रूक्ष, अम्ल, चल एवं विशद गुणयुक्त द्रव्यों का प्रयोग करने से कफदोष शान्त हो जाता है।

सुश्रुतसंहिता में उक्त गुणों को स्वीकार किया गया है, जिसकी पुष्टि '**शीत एव च**' में चकार से मृदुस्थिरादिक अनुक्त गुणों को समावेशित करके किया है। *सुश्रुतसंहिता* के अनुसार श्लेष्मा निरामावस्था में मधुररस एवं श्वेतवर्ण वाला होता है। साम होने पर वह लवणरस युक्त एवं अनेक वर्णों वाला हो जाता है।[151] शाङ्र्गधर ने सुश्रुत के समान विदग्ध और अविदग्ध अवस्था का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने श्लेष्मा को तमोगुण प्रधान स्वीकार किया है।[152] काश्यप ने श्लेष्मा को सोमगुण युक्त, शक्ति देने वाला एवं बहुगुण युक्त स्वीकार किया है। उनके अनुसार सोमगुण अप् महाभूत के कारण उत्पन्न होता है। *भेलसंहिता* के अनुसार उपरोक्त गुणों में मधुर, स्निग्ध, शीत, मन्द, गतिरहित एवं गुरु गुण को स्वीकार किया है। शरीर में मधुर, अम्ल, लवण रसों का सेवन करने से कफ दोष की वृद्धि होती है। अष्टाङ्गहृदयकार वाग्भट्ट ने इन्ही गुणों में स्निग्ध, ठण्डा, भारयुक्त, मन्द, खरता/खरास रहित, लेस युक्त एवं स्थिर गुणों से युक्त कफ को स्वीकार किया है।[153] संक्षेप में कफ दोष गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, स्थिर, पिच्छिल, खरता रहित, सारयुक्त, लवणयुक्त, मन्द, स्तिमित, शुक्ल, मृत्स्न, तमोगुणयुक्त, अप् महाभूत के समान गुण वाला, अविदग्धावस्था में मधुर एवं साम्यावस्था में लवण होता है। शरीर में वातदोष के समान कफदोष भी सम्पूर्ण शरीर में विद्यमान रहता है, जिनका विवेचन निम्नोक्त प्रकार से किया गया है-

---

[151] श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च। मधुरस्त्वविदग्धः स्याद्विदग्धो लवणः स्मृतः॥ *सु०सं०,सू०* 21/15

[152] *शा०सं०,पू०* 5/51-52

[153] स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिर कफः। *अ०हृ०,सू०* 1/12

ड. श्लेष्मा दोष के स्थान :- वात एवं पित्त दोषों के समान श्लेष्मा भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। श्लेष्मा का सूक्ष्म रूप रसधातु के माध्यम से सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता है तथा प्रत्येक कोष में स्थित होकर शक्ति प्रदान करने का कार्य करता है। कफ दोष के स्थूल रूप शरीर के विभिन्न स्थानों, अंगों या अवयवों में स्थित रहते हैं। *चरकसंहिता* में कफ दोष के गुणों का विवेचन किया गया है। इसके स्थान उरःस्थल, शिर, मुख व कण्ठ, सन्धिस्थल, आमाशय एवं मेद स्वीकार किए गए हैं। इन सभी स्थानों में उरःस्थल विशेषरूप से कफ दोष का स्थान है। *चरकसंहिता* के टीकाकार ने आमाशय से आमाशय का ऊर्ध्व भाग ग्रहण किया है, जहाँ क्लेदक कफ पाया जाता है।[154] सुश्रुत ने उरःस्थल, शिर, कण्ठ, जिह्वामूल, सन्धियाँ एवं आमाशय को श्लेष्मा का स्थान स्वीकार किया है। इन सभी में आमाशय श्लेष्मा का प्रमुख स्थान है "**श्लेष्मणस्तूरः शिरः कण्ठो जिह्वामूलं सन्धयः इति पूर्वोक्तं च"।**[155] वाग्भट ने भी उरःस्थल, शिर, कण्ठ, क्लोम, जोड़, आमाशय, रस, मेद, घ्राण एवं रसनेन्द्रिय को कफ दोष के स्थान स्वीकार किए हैं। सभी स्थानों में से उरःस्थल को प्रमुख स्थान बताया है।[156]

अष्टाङ्गहृदय के टीकाकार गयदास ने क्लोम का अर्थ गलनलिका किया है। काश्यप ने मेद, शिर, उरःस्थल, ग्रीवासन्धि, बाहु एवं हृदय को कफ का आश्रय स्थान स्वीकार किया है। इनमें से हृदय को प्रमुख स्थान काश्यप ने स्वीकार किया है। शाङ्र्गधर कफ के मूर्धा, कण्ठ, हृदय, आमाशय एवं सन्धियों को आश्रय स्वीकार करते हैं। यह इन आश्रयों में रहता हुआ शरीर को स्थिरता प्रदान करता है और शरीरावयवों को कार्य में कुशल बनाता है। संहिताकारों के इन विवेचनों द्वारा प्रतीत होता है कि यद्यपि त्रिविध दोष शरीर में सर्वव्यापक है।

---

[154] उरः शिरो ग्रीवा पर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मस्थानानि, तत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्मस्थानम्।। *च०सं०,सू०* 20/8

[155] *सु०सं०,सू०* 21/8

[156] उरःकण्ठशिरः क्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः। मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य, सुतरामुरः॥ *अ०हृ०,सू०* 12/3
अ०सं०,सू० 20

उपर्युक्त कहे गये स्थानों पर कफ की स्थिति एवं कार्य प्रमुख रूप से दिखलाई पड़ते हैं। इसीलिए इन्हें कफ का स्थान कहा गया है। संहिताकारों के कथनानुसार शिर, ग्रीवा, उरःस्थल, आमाशय, पर्व, कण्ठ, मेद, जिह्वामूल, बाहु, हृदय, घ्राण, क्लोम एवं रसना इन्द्रिय तथा मूर्धा स्थान स्वीकार किए गए हैं। इन सभी में आमाशय, उरःस्थल एवं हृदय कफ दोष के प्रमुख स्थान माने गए हैं। उरःस्थल के भीतर हृदय के अतिरिक्त फुप्फुस, फुप्फुसावरण, हृदयावरण तथा अन्न एवं श्वासनलिका होती है। इसलिए चरक एवं वाग्भट्ट ने उरःस्थल की गणना कफ के विशेष स्थानों में की है। काश्यप एवं शाङ्र्गधर ने उरःस्थल का नामोल्लेख न कर हृदय को ही कफ का प्रमुख स्थान स्वीकार किया है। सम्भवतः ओज का प्रमुख स्थान होने से, ओजोवह धमनी हृदय द्वारा निकलने से तथा हृदय पर तम का आवरण होने से तमोगुण आधिक्य कफ दोष का प्रमुख स्थान हृदय के रूप में स्वीकार किया गया है। हृदय के अतिरिक्त उरःस्थल के अन्य अंगों में भी कफ का स्नेहनकर्म प्रमुख रूप से दिखाई देता है। हृदय एवं उरःस्थल अवलम्बक कफ का स्थान है, जो प्राणों का अवलम्बन करते हैं। इस प्रकार कफदोष के उरःस्थल, आमाशय एवं हृदय मुख्य स्थान है, जिनमें रहकर यह अनेक कार्य करता है।

ढ़. श्लेष्मा के कर्म :- वात एवं पित्त दोष के समान श्लेष्मा भी शरीर का आधारभूत द्रव्य है तथा यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता है। यह रसधातु के माध्यम से सारे शरीर में परिभ्रमण करता है। यह रस एवं रक्त में स्वतन्त्र रूप से रहता है। शरीर का पोषण श्लेष्मवर्गीय द्रव्यों द्वारा होता है, जिसमें रस-रक्त भी शामिल है। श्लेष्म द्रव्य रस-रक्त के माध्यम से धातु-उपधातु के आशय एवं अवयव तक पहुँचते हैं और वहाँ कोषों को पोषक अंश प्रदान करते हैं। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि शरीर में स्नेह बनाए रखना, सन्धियों का बन्धन ठीक रखना, शरीर में स्थिरता, भारीपन, पौरुषशक्ति, शक्ति, क्षमा, धैर्य को ठीक रखना तथा लोभ न करना-ये प्राकृत कफ के कार्य हैं।[157]

[157] स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्। क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम्। *च०सं०,सू०* 18/51

चरकसंहिता में अन्यत्र जगह पर कफ दोष को शक्ति और ओज कहा गया है। जब कफ विषमावस्था में होता है तब उसे मल और पाप कहा जाता है।

"प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते। स चैवौजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते"॥[158]

चरक श्लेष्मा के कार्यों का विवेचन करते हुए कहते हैं कि इसके कार्य सौम्य होते हैं, क्योंकि वे शशि के प्रतिनिधि तत्त्वों द्वारा सम्पादित होते हैं। शरीर में रहकर श्लेष्मा साम्यावस्था में दृढ़ता उत्पन्न करता है, शरीर की वृद्धि करता है, मैथुन कार्यों में शक्ति प्रदान करता है। कतिपय मानसिक भावों को उत्पन्न करता है। इसके निराम होने पर तथा विषम हो जाने से शरीर शिथिल हो जाता है, शरीर में दुर्बलता आती है तथा मनुष्य में मैथुन शक्ति क्षीण हो जाती है। उसमें आलस्य, अज्ञान, मोहादि मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते है।[159]

सुश्रुत के अनुसार श्लेष्मा परिभ्रमण में अपनी रक्तवाहिनियों में संचरण करता हुआ शरीर के अंगों में स्निग्धता उत्पन्न करता है, यह सन्धियों में दृढ़ता एवं स्थिरता उत्पन्न करता है, शक्ति उत्पन्न करता है तथा उत्साह, उमंग, उदात्तभाव, ज्ञान, बुद्धि आदि गुणों को पैदा करता है। *सुश्रुतसंहिता* में श्लेष्मा के कार्यों का अन्यत्र स्थान पर विवेचन करते हुए कहा गया है कि शरीर पर श्लेष्मा उदककर्म से अनुग्रह करता है। इन कार्यों में सन्धियों में स्निग्धता, शरीर को स्निग्ध रखना और अन्न को क्लेदित कर स्निग्ध रखना, व्रणों को भरना एवं क्षति-पूर्त्ति करना, धातुओं की पोषक द्रव्यों से पूर्त्ति करना, शरीर में शक्ति एवं रोगप्रतिरोधक क्षमता उत्पन्न करना तथा शाखाओं की स्थिरता प्रदान करना। इसके साथ शरीर की वृद्धि करना और शरीर ऊतकों को पोषक सामग्री से तृप्त करना इन्हीं कार्यों के अन्तर्गत आते हैं।[160]

---

[158] *च०सं०,सू०* 17/117

[159] *च०सं०,सू०* 12/12

[160] स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्य बलमुदीर्णताम्। करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्वाः सिराश्चरन्॥
यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्वाः सिराः प्रतिपद्यते। तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसम्भवाः॥ *सु०सं०,शा०* 7/12-13

वाग्भट भी उपरोक्त कार्यों का वर्णन विस्तारपूर्वक करते हैं। यह शरीर एवं मन में स्थिरता पैदा करता है, देह को स्निग्ध रखता है, सन्धियों में दृढ़ता पैदा करता है, मैथुन में सामर्थ्य प्रदान करता है तथा क्षमा, धैर्य, शक्ति तथा अलोलुपता को पैदा कर शरीर का अनुरक्षण करता है। ये सभी कार्य कफ दोष के उदककर्म से होते हैं। इस कार्य में हृदय एवं व्यानवायु सहायक रहता है, जिससे कफ आवश्यकतानुसार सर्वस्रोतसों एवं कोषों में पहुँचता है।[161] इस प्रकार यह दोष शरीर में अनेक कार्य करता है।

ण. कफदोष के भेद :- वात एवं पित्त दोष के समान स्थान एवं कर्म के अनुसार श्लेष्मा को पाँच भागों में विभक्त किया गया है-

- **क्लेदक।**
- **अवलम्बक।**
- **बोधक।**
- **तर्पक।**
- **श्लेषक।**[162]

चरकसंहिता में कफ दोष के भेदों का उल्लेख नहीं किया गया है। सुश्रुत ने भी पञ्चविध श्लेष्मा के नाम नहीं गिनाए हैं, परन्तु कहा है कि श्लेष्मा पाँच भेदों में विभक्त है और यह आमाशय, उरःस्थल, जिह्वामूल एवं कण्ठ, शिर तथा सन्धियों में स्थित रहता है। इसके पाँच भेदों में विभक्त उदककर्म द्वारा सन्धि-संश्लेषण, स्नेहन, रोपण, पूरण, शक्ति एवं स्थिरता प्रदान करता है।

---

[161] श्लेष्माऽग्निसदनप्रसेकालस्यगौरवम्।।

श्वैत्यशैत्यश्लथाङ्गत्वं श्वासकासातिनिद्रताः। रसोऽपि श्लेष्मवत् । *अ०हृ०,सू०* 11/7-8 ; *अ०सं०,सू०* 19

[162] परिशिष्ट-4 देखें

सुश्रुतसंहिता के टीकाकार डल्हण ने आश्रय-भेद से विभक्त पञ्चविध श्लेष्मा के श्लेषक, क्लेदक, बोधक, तर्पक एवं अवलम्बक आदि नाम दिए है।[163]

अष्टाङ्गहृदय में इसके पाँच भेद स्वीकृत हैं- **'श्लेष्मा तु पञ्चधा'**[164] अर्थात् अवलम्बक, क्लेदक, बोधक, तर्पक एवं श्लेषक भेद से कफ दोष पाँच प्रकार का है। *अष्टाङ्गहृदय* के टीकाकार इन्दु का मत है कि इसके पाँच भेद उसके विशिष्ट स्थानों पर निर्भर होने एवं अलग-अलग कार्य करने के कारण किए गए हैं। जिस प्रकार देवदत्त भोजन पकाने से पाचक, शास्त्र पढ़ने से वाचक, खेती का कार्य करने से कृषक आदि नामों द्वारा संबोधित होता है, उसी प्रकार श्लेष्मा पाँच नामों से संबोधित होता है। शाङ्र्गधर ने कफ दोष के पञ्चविधकार्यों से क्लेदक, स्नेहक, रसन, अवलम्बक तथा स्नेहक नाम स्वीकार किए हैं।

"क्लेदनः स्नेहश्चैव रसनश्चावलम्बनः। श्लेषकश्चेति नामानि कफस्योक्तान्युक्रमात्"॥[165]

वस्तुतः एक ही श्लेष्मा, श्लेष्मा के विशिष्ट स्थानों में विशिष्ट कार्य करने से पृथक्-पृथक् नामों द्वारा अभिव्यक्त होता है। अन्य दोषों के समान जब तक कफदोष साम्य होता है, तब तक शरीर स्वस्थ रहता है, लेकिन जब शरीर में कफदोष की वृद्धि या क्षय हो जाता है, तब शरीर में विकारों की उत्पत्ति हो जाती है।

त. कफदोष के विकार :- त्रिविध दोष जब साम्यावस्था में रहते हैं तब शरीर स्वस्थ रहता है, शरीर में शक्ति बढ़ती है। दोषों के वैषम्यावस्था में होने पर शरीर में अनेक विकारों का प्रादूर्भाव होता है। श्लेष्मा की विकृति होने पर अथवा इसकी न्यूनाधिकता होने पर श्लेष्मा के निजस्वरूप की कोई हानि नहीं होती। किन्तु कफ विकारों से उत्पन्न लक्षण, उसके निजस्वरूप एवं कर्म के परिचायक होते हैं।

---

163 सन्धिसंश्लेषणस्नेहनरोपणपूरणस्थैर्यकृच्छ्लेष्मा पञ्चधा प्रविभक्त उदककर्मानुग्रहं करोति॥ *सु०सं०,सू०* 15/6

164 *अ०हृ०,सू०* 12/15 ; अवलम्बकक्लेदकबोधकतर्पकश्लेषकत्वभेदैः श्लेष्मा। *अ०सं०,सू०* 20/6

165 *शा०सं०,पू०* 5/54

अष्टाङ्गहृदय में कफज विकारों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। कफदोष के न्यूनाधिक होने से ये विकार होते हैं- चिकनापन, कठोरता, खुजली होना, हाथ-पैरों का ठण्ड़ा होना, भारीपन, स्रोतों में रुकावट का अनुभव होना, जीभ के ऊपर मैल की परत जमना, चिपचिपाहट, सूजन, अन्न का न पचना, नींद का अधिक होना, वर्ण सफेद, रस मधुर एवं नमकीन लगना और किसी भी कार्य को देरी से करना।[166] इसी प्रकार चरक ने कफज विकारों को विवेचित किया है। *चरकसंहिता* में कफ विकारों की संख्या बीस बताई गई है **"तृप्तिश्च, तन्द्रा च, निद्राधिक्यं च, स्तैमित्यं च, गुरुगात्रता च, आलस्यं च, मुखमाधुर्यं च, मुखस्रावश्च, श्लेष्मोद्गिरणं च, मलस्याधिक्यं च, बलासकश्च, अपक्तिश्च, हृदयोपलेपश्च, कण्ठोपलेश्च, धमनीप्रतिचयश्च, गलगण्डश्च, अतिस्थौल्यं च, शीताग्निता च, उदर्दश्च, श्वेतावभासता च, श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वं च ; इति विंशति श्लेष्मविकाराः श्लेष्मविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति"।**[167] अर्थात् इसके न्यूनाधिकता से बिना भोजन किए पेट भरा हुआ प्रतीत होना, ऊँघना, अधिक नींद आना, भीगा-२ प्रतीत होना, गुरुगात्रता, शरीर का आलस्य युक्त होना, मुख में मधुरता होना, मुखस्राव, गले से कफ निकलना, मल अधिक आना, गले में कफ लिपटा होना, बल का नाश, अपचन होना, हृदय पर कफ का लेप प्रतीत होना, मोटापा, गलगण्ड, अतिस्थूलता, मन्दाग्नि और मूत्र, आँखें एवं पुरीष सफेद होना ये विकार होते हैं। इन असंख्य विकारों में से बहुत विकार प्रत्यक्ष रूप से शरीर में दिखाई देते हैं। आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों में भी त्रिविध दोष के विकारों का वर्णन प्राप्त होता है। शार्ङ्धर ने कफ विकारों की संख्या इक्कीस बताई है।

---

[166] श्लेष्मणः स्नेहकाठिन्यकण्डूशीतत्वगौरवम्। बन्धोपलेपस्तैमित्यशोफापक्त्यतिनिद्रताः॥

वर्णः श्वेतो रसौ स्वादुलवणौ चिरकारिता। *अ०हृ०, सू०* 12/53-54

[167] *च०सं०, सू०* 20/17

इनके अनुसार तन्द्रा, अतिनिद्रता, गौरव, मुखमाधर्य, मुखलेप, प्रसेकता, श्वेतावलोकन, श्वेतविट्कत्व, श्वेतमूत्रता, श्वेताङ्गवर्णता, शीतता, उष्णेच्छा, तिक्तकामित्व, मलाधिक्य, शुक्र की अधिकता, बहुमूत्रता, आलस्य, मन्दबुद्धित्व, तृप्ति, घर्घरवाक्यता तथा अचैतन्य ये विकार इसके वैषम्यावस्था में होने से होते हैं।[168] शरीर में धारकतत्त्वों में दोष के उपरान्त धातुओं का स्थान है, जिनका विवेचन इस प्रकार है।

2.2.1 धातु परिचय :- शरीर में रचनात्मक इकाई धातु है जो शरीर में धारण एवं पोषण का कार्य करती है। व्याकरण की दृष्टि से इसकी व्युत्पत्ति **'डुधाञ् धारणपोषणयोः'**[169] धातु से होती है, जिसका अर्थ धारण एवं पोषण करना। इस प्रकार इसकी व्युत्पत्ति **'दधाति धत्तेर्वा शरीरमनःप्राणान् इति धातुः'**[170] से निष्पन्न होती है अर्थात् शरीर, मन एवं प्राणों को धारण करने वाली धातु है। इसकी एक अन्य प्रकार से भी व्युत्पत्ति होती है **'दधाति धारयति शरीरसंवर्धकान्**[171] **इति धातु'** जिसका तात्पर्य शरीर की वृद्धिकारक रचनाओं से है।

2.2.2 धातु शब्द की निरुक्ति :- 'देहधारणाद् धातवः'[172] अर्थात् धातुओं का प्रथम कार्य शरीर को धारण करना है। *सुश्रुतसंहिता* में धातु शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा गया है **'त एते शरीरधारणाद्धातव इत्युच्यन्ते'।**[173] अर्थात् रसादि की धातु संज्ञा इस कारण से है क्योंकि वे शरीर को धारण करती है अर्थात् शरीर इन्हीं धातुओं पर आधारित है। आयुर्वेद में धातु शब्द का प्रयोग विविध प्रकार से किया जाता है। इसके अन्तर्गत वे सभी उपादान द्रव्य शामिल हो जाते हैं जो शरीर, मन एवं प्राणों को धारण करने के साथ शरीर की वृद्धि करते हैं। इस शब्द का प्रयोग राशिपुरुष के विभिन्न घटकों के लिए भी होता है।

---

168 *शा०सं०,पू०* 7/122-124

169 *श०वि०,* पृ० 603

170 *श०वि०,* पृ० 603

171 *श०वि०,* पृ० 603

172 *च०सं०, सू०* 28/4

173 *सु०सं०,सू०* 14/20

इस प्रकार उत्पत्ति भेद से पुरुष को एकधातु पुरुष, षड्धातु पुरुष एवं चौबीस धातु पुरुष में विभक्त करते हैं। धातु शब्द का प्रयोग खनिज द्रव्यों के लिए भी होता है। इससे स्वर्ण, रूप्यक, पारद, गन्धक आदि द्रव्य भी धातु शब्द से अभिहित किए जाते हैं। धातु शब्द का अनेकार्थक प्रयोग होने पर भी आयुर्वेदशास्त्र में इसका प्रयोग रस-रक्तादि सात धातुओं के लिए किया जाता है। इसी कारण धातु शब्द से शरीर के धारक एवं पोषक तत्त्वों को ही ग्रहण किया जाता है।

2.2.3 धातु के भेद :- आयुर्वेदशास्त्र में धातु दो प्रकार की बताई गई हैं- स्थायी अथवा पोष्य धातु तथा अस्थायी अथवा पोषक धातु। पोष्य धातु शरीर के स्थायी ऊतक हैं, जो शरीर को सहारा देते हैं ; जबकि पोषक धातु वे सभी द्रव्य हैं जो पोष्य धातुओं के पोषण के लिए अभिहित होते हैं। ये द्रव्य पोष्य धातुओं का पोषण एवं वृद्धि कर उन्हें सहारा देते हैं। ये पोषक द्रव्य जिन्हें धातु भी कहा जाता है, अपनी-अपनी पाचकांशों से पाक को प्राप्त होकर अपने-अपने स्रोतस् से धातुओं की क्षतिपूर्ति करते हैं।

2.2.4 स्थायी धातु :- पोष्य धातुएँ सात हैं, जिन्हें शरीर का प्राथमिक ऊतक कहा जाता है। *चरकसंहिता* में सप्त धातुओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि **"रसात्स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः। मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः"॥**[174] अर्थात् सात धातुओं में रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र है। आयुर्वेद के अन्य संहिताकार एवं टीकाकार इन्हीं धातुओं[175] को स्वीकार करते हैं। प्रत्येक स्थायी धातु का पोषण उन पूर्ववर्ती द्रव्यों से होता है जो प्रत्येक धातु के संगठक हैं और उनकी उत्पत्ति विशिष्ट अग्नि की पाकक्रिया के द्वारा होती है।

---

[174] *च०सं०,चि०* 15/17, परिशिष्ट-5 देखें

[175] रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः सप्तदूष्याः॥ *अ०हृ०,सू०* 1/13 ;
त एते शरीरधारणाद्धातवः इत्युच्यन्ते। *सु०सं०,सू०* 14/20 ;
तत्रैतेषां धातूनामन्नपानरसः प्रीणयिता॥ *सु०सं०,सू०* 14/11

रसाग्नि रसधातु के संगठक द्रव्यों का अग्निपाक के द्वारा निर्माण करती है, जो आहार रस में पाए जाते हैं। इस प्रकार से रस धातु की उत्पत्ति होती है। अन्य धात्वग्नियों द्वारा अपनी-अपनी धातु के संगठक रूप में पाक से उत्पन्न द्रव्यों से परिभ्रमण स्रोतसों द्वारा विभिन्न धातुओं में किया जाता है।

2.2.5 अस्थायी धातु :- पोषक धातु का निर्माण धात्वग्नि व्यापार के द्वारा होता है। जठराग्निपाक के प्रसादांश अन्नरस पर भूताग्निपाक होकर उसके विजातीय अंश सजातीय कर दिए जाते हैं। इस सजातीय आहार रस पर धात्वग्नि की क्रिया से पाचन होकर धातुसम द्रव्यों में परिवर्तन होता है, जिनसे तत्तत् धातु का पोषण होता है और शरीर को ऊर्जा प्राप्त होती है।

2.2.6 धातुओं की उत्पत्ति :- स्थायी या अस्थायी धातु की उत्पत्ति के सम्बन्ध में *चरकसंहिता* के टीकाकार चक्रपाणि का मत है कि अन्नरस धातुरूप रस के साथ मिलकर कुछ अंशों में रस की वृद्धि करता है। शेष अंश रस से मिलकर रक्त की गन्ध एवं वर्ण के समान होने से रक्त की तरह होकर कुछ रक्त के समान गुण-धर्म वाले अंशों से रक्त का पोषण करता है। इसी प्रकार मांसधातु का मांस समान गुण-धर्म वाले अंशों से पोषण होता है। शेष धातुओं का पोषण भी इसी प्रकार होता है। शिवदास सेन का कथन है कि रस सर्वप्रथम रक्त को जाता है। रक्त स्थानों में जाकर वह रस धात्वाग्नि से पाक होकर रक्त के सदृश बनकर कुछ अंश में रक्त का पोषण करता है। रक्त को आप्लावित कर वह रस मांसधातु में परिवर्तित हो जाता है। मांस स्थानों में पोषण की क्रिया से मांस के समान होकर उन अंशों से मांस का पोषण करता है। इस प्रकार रस उत्तरोत्तर धातु-स्थानों को आप्लावित कर तत्-तत् धातु के समानांश से अग्नि की क्रिया से तत्तत् धातु का पोषण करता है।

क. रसधातु परिचय :- सप्त धातुओं में प्रथम धातु रस धातु हैं। *चरकसंहिता* में रसधातु की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि **'रसनार्थो रसः'**[176] अर्थात् जिह्वा के ग्राह्यविषय को रस कहते हैं। *चरकसंहिता* में अन्यत्र स्थान पर रस धातु के विषय में कहा गया है **"रसो निपाते द्रव्याणाम्"**[177] अर्थात् किसी द्रव्य का जब जीभ से सम्बन्ध होता है तब उसके रस की प्रतीति होती है कि यह मीठा, खट्टा आदि कैसा रस है ? रस शब्द की निष्पत्ति **'रस गतौ'** धातु से हुई है, जिसका तात्पर्य है कि जो निरन्तर गति करता है वह रस है।

"तत्र रस गतौ धातु, अहरर्गच्छति इत्यतो रसः"[178]

प्रसादांश रस जो पित्तधराकला से शोषित होकर व्यानवायु द्वारा यकृत में प्रवेश करता है, यकृत से हृदय में जाता है और हृदय की विक्षेप क्रिया से व्यानवायु उसकी निरन्तर गति करवाता है। इसे गति के कारण ही रस की संज्ञा दी गई है। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि सम्पूर्ण शरीर में संचरण करने वाली वायु रस के संवहन को तत्पर रहती है। इसका विक्षेप ही कार्य है। व्यानवायु रस धातु को एक साथ चारों ओर निरन्तर शरीर में पहुँचाती है।[179] *सुश्रुतसंहिता* में रस धातु का विवेचन करते हुए कहा गया है कि आहार का जठराग्नि से पाचन होकर मल-मूत्र पुरीष और सार भाग रस शेष रहता है, जो व्यान वायु से प्रेरित होकर समस्त शरीर में परिभ्रमण करता है। *अष्टाङ्गहृदय* में रस को ओज कहा गया है। वह ओज हृदय से संलग्न दस मूल सिराओं द्वारा शरीर में चारों ओर रसात्मक ओज का परिभ्रमण करता है।[180]

---

176 *च०सं०,सू०* 1/64

177 *च०सं०,सू०* 26/66

178 *सु०सं०,सू०* 14/13

179 व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा॥ *च०सं०,चि०* 15/36
कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः। *सु०सं०,नि०* 1/17

180 दश स्मूलसिरा हृत्स्थाताः सर्वं सर्वतो वपुः। रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम्॥ *अ०हृ०,शा०* 3/18

ख.रस धातु की संख्या :-

आयुर्वेदशास्त्र में रस धातु की संख्या छह बताई गई है। वाग्भट ने रसधातु का विवेचन करते हुए कहा है कि **"रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः। षड् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः"॥**[181] अर्थात् मीठा, खट्टा, लवण, तिक्त, कटु और कसैला ये छः रस हैं। ये सभी भिन्न-भिन्न द्रव्यों में मिलते हैं। मधुर रस सबसे अधिक बलदायक होता है और इसके बाद सभी रस उत्तरोत्तर बलनाशक होते हैं। *चरकसंहिता* में इन्हीं छः रसों[182] का वर्णन किया गया है। शरीर में दोषों के समान धातुओं के अनेक कार्य हैं, जिनमें रसधातु के निम्नोक्त कार्य हैं।

ग. रसों के कार्य :- षड् रसों में तीन रस दोष की वृद्धि करते हैं एवं तीन रस दोष का क्षय करते हैं। *चरकसंहिता* में रसों को परिलक्षित करते हुए कहा गया है कि वात दोष को मधुर, अम्ल एवं लवण रस शान्त करते हैं। पित्त दोष को कषाय, मधुर एवं तिक्त रस शान्त करते हैं एवं कफ दोष को कषाय, कटु और तिक्त रस शान्त करते हैं।[183] अन्य आचार्यों ने इन्हीं रसों द्वारा दोषों का साम्य होना स्वीकार करते हैं।

च. रक्त धातु परिचय :- आयुर्वेदीय साहित्य में आचार्यों ने रक्त को द्वितीय धातु के रूप में वर्णित किया है। सभी धातुओं की उत्पत्ति धात्वग्नि की रसधातु पर क्रिया से होती है। वाग्भट ने कहा है कि धात्वग्नि वस्तुतः जठराग्नि के ही अंश हैं, जो धातुओं में स्थित होते हैं और धात्वग्नि पाक से धातु का निर्माण होता है। इस धात्वग्नि पाक से धातु की उत्पत्ति अपने-अपने स्रोतसों में होती है जहाँ धात्वग्नि विद्यमान रहती है। इस पाक से प्रत्येक धातु प्रसाद एवं किट्ट भाग में परिवर्तित होती है। रसधातु परिवर्तित होकर सूक्ष्म भाग से उत्तर धातु रक्त में परिवर्तित होता है और किट्टभाग से उस धातु के मल कफ की उत्पत्ति होती है।

---

[181] *अ०हृ०, सू०* 1/ 14-15, परिशिष्ट-6 देखें

[182] स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च। कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः॥ *च०सं०, सू०* 1/65, देखें परिशिष्ठ 6

[183] *च०सं०, सू०* 1/66, परिशिष्ट-7 देखें

चरकसंहिता में रक्त धातु की निर्माण प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है कि **'रसाद्ररक्तं ततो मांस'**[184] अर्थात् आहार का जठराग्नि द्वारा पाक होने पर अन्नरस बनता है और अन्नरस से रसधातु की उत्पत्ति होती है। रसधातु का रसाग्नि से पाक होने पर उसके सूक्ष्म भाग से रक्तधातु का निर्माण होता है और स्थूल अंश से रस का पोषण होता है। *चरकसंहिता* में चिकित्सास्थान[185] में रक्तधातु के स्वरूप का विवेचन किया गया है- सभी मानवों के अन्नरस के प्रसादभाग से उत्पन्न रस को तेज कहा गया है, वह रस रसाग्नि द्वारा परिपक्व होकर रञ्जक पित्त की ऊष्मा की सहायता से एवं रंग से रँगा होने के कारण रक्त स्वरूप को प्राप्त करता है। आयुर्वेद के अन्य आचार्य रक्त धातु[186] का निर्माण इसी प्रकार स्वीकार करते हैं।

छ. रक्तधातु का स्वरूप :- आयुर्वेदीय संहिताओं में रक्तधातु के स्वरूप का विस्तृतरूप से वर्णन उपलब्ध होता है। शरीर में शुद्ध रक्त इन्द्रगोप के वर्ण, लाल कमल के वर्ण के सदृश अथवा गुंजाफल के रंग के समान अथवा लाक्षारस या खरगोश या भेड़ के वर्ण के सदृश होता है। *चरकसंहिता* में रक्त धातु का विवेचन करते हुए रक्त के वर्ण का वर्णन किया गया है-

"तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसन्निभम्। गुञ्जाफलसवर्णं च विशुद्धं विद्धि शोणितम्"॥[187]

वाग्भट ने रक्तधातु के वर्णन में इनके अतिरिक्त कुछ अन्य गुणों का विवेचन किया है- मधुररस युक्त, हल्का लवणयुक्त, नमशीतोष्ण, गाँठ से रहित, कमल की पंखुडी सदृश, इद्रगोप, गर्म किए गए सोने के समान, भेड़ एवं खरगोश के रक्त के सदृश लाल वर्ण वाला शुद्ध रक्त होता है। इस रक्त में शरीर स्वस्थ रहता है।[188]

---

184 *च०सं०,चि०* 15/16

185 तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते। पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति॥ *च०सं०,चि०* 15/28

186 रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते। मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञाः शुक्रं तु जायते। *सु०सं०,सू०* 14/10 ;
रसस्य सारो रक्तं रक्तं मलः कफो लसीका च। *अ०सं०,शा०* 6/64

187 *च०सं०,सू०* 24/22

188 मधुरं लवणं किञ्चिदशीतोष्णमसंहतम्। पद्मेन्द्रगोपमाविशलोहितलोहितम्॥
लोहितं प्रभवः शुद्धं, तनोस्तेनैव च स्थितिः॥ *अ०हृ०,सू०* 27/1-2

चरकसंहिता में भेड़ एवं खरगोश के वर्ण के समान रक्त का वर्ण बताया गया है परन्तु *अष्टाङ्गहृदय* में इन पशुओं का रक्त के समान रक्त के वर्ण का रंग बताया गया है। यद्यपि लाल रंग के कारण रक्त को आग्नेय कहा गया है, फिर भी पार्थिव, आप्य, तैजस्, वायवीय एवं आकाश महाभूतों के कार्य स्पष्ट ज्ञात होने के कारण इसे पाञ्चभौतिक स्वीकार किया गया है। आचार्यों ने महाभूतों के पाँच गुणों की उपस्थिति रक्त में स्वीकार की है। रक्त एक प्रकार का संयोजक ऊतक है, जिसमें कोषान्तर्गत द्रव्य रक्त रस है और इसमें लाल कण, श्वेत कण एवं बिम्बाणु तैरते रहते हैं। इसका आपेक्षिक घनत्व 1055 से 1060 है। रक्त लालवर्ण, गाढ़ा, अपारदर्शी तथा कुक्ष क्षारीय होता है। आधुनिक विज्ञान रक्त में लाल एवं श्वेत कणों का आविर्भाव स्वीकार करता है।

ज. रक्तधातु के कार्य :- रक्तधातु जीवन धारण करता है। जीवन-धारण रक्त का प्रमुख कार्य है। इसी कारण रक्त की गणना दश प्राणायतनों में की जाती है। *सुश्रुतसंहिता* में रक्तधातु के कार्यों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि यह शरीर का पोषण करती है, मांस धातु की पुष्टि करती है। यह ऊतकों को ऑक्सीजन पहुँचाकर जीवन प्रदान करती है। धातुओं की क्षय और वृद्धि रक्त पर ही निर्भर करती है। इसलिए त्रिविध दोष एवं रक्त शरीर की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय में कारण होते हैं।

"रक्तं वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च।[189] तेषां क्षयवृद्धि शोणितनिमित्ते"।[190]

जिस प्रकार त्रिविध दोष के बिना शरीर की स्थिति नहीं है उसी प्रकार रक्त धातु के बिना शरीर की स्थिति नहीं है। अत एव शरीर सदा त्रिविध दोषों एवं रक्त से युक्त रहता है।

ट. मांसधातु परिचय :- सप्तविध धातुओं में मांस धातु प्रमुखतया शरीर में पेशियों के रूप में रहती है। इसके अतिरिक्त रक्तवाहिनियों की भित्ति में मांसधातु का स्तर पाया जाता है। स्नायु, त्वचा एवं रक्तवाहिनियों से मांसधातु का सम्बन्ध है।

---

[189] *सु०सं०,सू०* 15/5

[190] *सु०सं०,सू०* 14/21

यह शरीर में देहभार का इकतालीस प्रतिशत होती है। *सुश्रुतसंहिता* के टीकाकार डल्हण[191] के अनुसार रक्त पर रक्ताग्नि की क्रिया से उसका प्रसाद एवं किट्ट में विभाजन हो जाता है। किट्ट भाग से मलपित्त का पोषण, स्थूल प्रसाद भाग से रक्त का एवं अणु प्रसाद भाग से मांस धातु का निर्माण होता है। इसके उपरान्त रस के मांस समानांश भाग पर मांसाग्नि की क्रिया से किट्ट भाग से कान, नाक, आँख तथा प्रजनन रूप स्रोतस् मल की उत्पत्ति तथा स्थूल भाग से मांस धातु बनती है। यह सभी अग्निक्रिया मांसवह स्रोतसों में होती है। *चरकसंहिता* में मांस धातु[192] का वर्णन करते हुए कहा गया है कि रक्त, वायु, जल, अग्नि तथा अपनी रक्ताग्नि से परिपक्वावस्था में स्थिर होकर मांस धातु का निर्माण होता है।

ठ. मांसधातु के कार्य :- शरीर की कार्यशक्ति में कारण मांसधातु है और यह उत्तरधातु मेद की पुष्टि करता है। *सुश्रुतसंहिता* में धातुओं का विवेचन करते हुए कहा गया है कि **"मांसं शरीरपुष्टिं मेदसश्च"।**[193] कार्यशक्ति शरीर के विभिन्न व्यापार है, जिनसे कार्य होता है। सामान्यः कार्यशक्ति तीन प्रकार की होती है-

क. **इच्छापूर्वक प्रवृत्तिजन्य**

ख. **द्वेषपूर्वक निवृत्तिजन्य**

ग. **जीवन योनि।**

सुश्रुतसंहिता में मांसधातु[194] के विषय में सुन्दर उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कमल नाल गीली मिट्टी में स्थित होने पर चारों ओर फैलते हैं, उसी प्रकार मांस से सिरा, धमनी आदि फैलते हैं। मांसधातु के कार्यों को निम्नांकित रूप में कहा जा सकता है-

- **लेपन एवं आच्छादन कार्य।**

---

[191] रक्ताद् अग्निपक्वान्मलपित्तम्, स्थूलभागः शोणितमणुभागस्तु मांसमिति।
ततोऽपि आत्मपावकपच्यमानान्मलः श्रोत्रनासाकर्णाक्षिप्रजननादि स्रोतोमलः, स्थूलभागो मांसमिति।
सु०सं०, सू० 15/18 पर *निबन्धसंग्रहटीका*, पृ० 61

[192] वाय्वम्बुतेजसा रक्तमूष्णा चाभिसंयुतम्। स्थिरतां प्राप्य मांस स्यात् स्वोष्मणा पक्वमेव तत्॥ *च०सं०,चि०* 15/29

[193] *सु०सं०,सू०* 15/5

[194] *सु०सं०,शा०* 4/9

- **शरीर की पुष्टि एवं आकार।**
- **सहारा देना।**
- **ताप की उत्पत्ति।**
- **ऊर्जा की उत्पत्ति।**
- **श्वसन क्रिया में सहायक।**
- **पञ्चविध क्रियाओं का उत्पादक आदि।**

त. मेदोधातु परिचय :- धातु निर्माण क्रम में यह चतुर्थ धातु है जो सम्पूर्ण शरीर में वसामय ऊतक के रूप में विद्यमान रहती है। यह धातु त्वचा के नीचे ग्रन्थि युक्त, पीत, स्निग्ध द्रव्य के रूप में तथा उदर, अस्थि, वपावहन एवं अन्य मेदो आगार में विद्यमान रहती है। *सुश्रुतसंहिता* में मेद धातु का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मांसधातु से मेद की उत्पत्ति होती है।[195] *सुश्रुतसंहिता* के टीकाकार डल्हण के अनुसार रसधातु के समानांश पर मेदोऽग्नि की क्रिया से किट्ट एवं प्रसाद की उत्पत्ति होती है। प्रसाद भाग से मेदोधातु एवं किट्ट भाग से मल स्वेद की उत्पत्ति होती है।[196] शरीर में मेदधातु छोटे-2 अनियाकृति खण्डों के रूप में पाया जाता है। ये खण्ड मेदोऽणुओं के समूह होते हैं। जीवन दशा में शरीर की ऊष्मा के कारण द्रव रहता है। मृत्यु के उपरान्त सान्द्र हो जाता है। आधुनिक मत में मेद का निर्माण आहारगत स्नेह द्रव्यों, कार्बोहाइड्रेटों तथा नाइट्रोजन रहित की गई प्रोटीन से होती है।

थ. मेदोधातु के कार्य :- आयुर्वेदज्ञों ने मेदोधातु का मुख्य कार्य शरीर, उसके अंग-प्रत्यंगों एवं समस्त कोषों का स्नेहन करना, उन्हें दृढ़ करना और स्वेद को उत्पन्न करना तथा अस्थि धातु को पोषक सामग्री प्रदान कराना है। सम्पूर्ण शरीर में स्नेहन कार्य द्वारा ही क्रिया एवं गति सम्भव होती है।

---

[195] मांसान्मेदः प्रजायते। *सु०सं०, सू०* 14/11 ; मांसान्मेदः। *च०सं०*, चि० 15/16

[196] *सु०सं, सू०* 15/39 पर *निबन्धसंग्रहटीका,* पृ० 64

सुश्रुतसंहिता में मेदधातु के कार्यों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि **"मेदः स्नेहस्वेदौ दृढ़त्वं पुष्टिमस्थ्नां च"।**[197] चरक ने मेदोधातु को बढ़ाने वाले चार महास्नेहों का विवेचन किया है **'सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दिष्टश्चतुर्विधः।**[198] अर्थात् घृत, तैल, वसा और मज्जा ये चार प्रकार के स्नेह हैं। इनका प्रयोग पीने के लिए, मालिश करने के लिए, बस्ति और नस्य कर्म के लिए होता है। ये स्नेह शरीर को स्निग्ध करते हैं, जीवनीयशक्ति को बढ़ाते है, बल को बढ़ाते है, वर्ण में सुन्दरता लाते हैं और शरीर के संगठन में वृद्धि करते हैं। मेद के अत्यधिक संचय से शरीर में स्थूलता आती है। मेद के संचय से शरीर में मेद की ही उत्पत्ति होती है दूसरी धातुओं का नहीं ; इसके बढ़ने से मनुष्य की आयु का नाश होता है।

प. अस्थिधातु परिचय :- यह धातु शरीर की अस्थियों में विद्यमान रहती है। यह शरीर का सबसे कठिन भाग है, जो अस्थ्यग्नि की क्रिया से उत्पन्न होते हैं और पुष्ट होते हैं। अस्थि का परिगणन पार्थिव द्रव्यों के रूप में किया गया है। अस्थियों से निर्मित अस्थिकंकाल के रूप में ही मानव का शरीर स्थिर है। इसके जोड़ को सन्धि कहते हैं। इसके ऊपर मांसपेशियाँ होती हैं। इसके कारण ही मांसपेशी जीर्ण-शीर्ण नहीं होती है और विच्छेद होने से बची रहती है। *चरकसंहिता* में अस्थिधातु का विवेचन करते हुए कहा गया है कि-**"मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च"।**[199] अर्थात् मेदोधातु का मेदोऽग्नि से पाक होने पर उसके सूक्ष्म अंश से अस्थिधातु की उत्पत्ति होती है और स्थूल अंश से मेद का पोषण होता है। अस्थिधातु का अस्थ्यग्नि से पाक होने पर मज्जा धातु का निर्माण होता है और स्थूल अंश से अस्थि का पोषण होता है। प्रसाद भाग अस्थिधातु कहलाता है तथा किट्ट भाग से केश, लोम एवं नख बनते है। चरक ने कहा है कि **"अस्थिवहानां स्रोतसां मेदोमूलं जघनं च"।**[200] अर्थात् अस्थिवह स्रोतसों के मूल मेद और जघन है।

---

[197] *सु०सं०,सू०* 15/6

[198] *च०सं०,सू०* 1/87

[199] *च०सं०,चि०* 15/16 ; *अ०हृ०,शा०* 3/62

[200] *च०सं०,वि०* 5/4

मज्जावह स्रोतसों के मूल अस्थि और सन्धियाँ हैं। अस्थि दृढ़ एवं संयोजी ऊतक है जिसमें कैल्शियम, फास्फोरस एवं खनिज का अनुपात अधिक होता है। वह अस्थि के ऊपर रहता है, जिसे अस्थिच्छद कहते हैं।

फ. अस्थिधातु के कार्य :- मानव शरीर के निर्माण का आधारस्तम्भ अस्थियाँ हैं। अस्थिपिञ्जर शरीर का सुदृढ़ ढाँचा बनाती है। जिस प्रकार वृक्ष उसके भीतर रहने वाले सार भाग से दृढ़ एवं कठोर होते हैं उसी प्रकार अस्थियाँ शरीर का सार बनकर शरीर को दृढ़ता प्रदान करती है। अस्थियों के अन्दर मज्जा रहती है, अतः मज्जा का पोषण करती है। मांसपेशियों का आलम्बन अस्थियाँ ही देती है। ये नासागुहा, नेत्रगुहा एवं श्रोणिगुहा का निर्माण करती है। सुश्रुत ने अस्थिधातु के कार्यों का वर्णन करते हुए कहा है कि-**"अस्थीनि देहधारणं मज्ज्ञं पुष्टिं च"।**[201] शरीर में मांसपेशियाँ, सिरा, स्नायु आदि रचनाएँ अस्थियों का सहारा लेकर ही शरीर में रहती है। अस्थियाँ रक्तवाहिनियों, तन्त्रिकाओं एवं मर्मों को बाह्य आघात से रक्षा करती है। इस प्रकार अस्थियाँ शरीर की आन्तरिक रूप से रक्षा करती है।

ब. मज्जाधातु परिचय :- मज्जाधातु अस्थियों के अन्दर मज्जनलिका में होती है। यह धातु सुषिर अस्थि के मध्य से रिक्त स्थानों में भी प्राप्त होती है। यह एक प्रकार का कोषमय वाहिकायुक्त ऊतक है, जो अस्थियों के मध्य में रहता है। *सुश्रुतसंहिता* में मज्जाधातु का वर्णन करते हुए कहा गया है कि **'मज्जा स्नेहं बलं शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थ्नां च करोति**[202] अर्थात् प्रसन्नता, स्नेह, बल, शुक्रधातु की पुष्टि और अस्थिपूरण ये मज्जाधातु के कार्य हैं। आधुनिक क्रियाशारीर में मज्जा दो प्रकार की बताई गई है-

पीतमज्जा- यह वसा कोष कुछ जाल ऊतक एवं रक्तवाहिनियों से निर्मित है। इसमें रक्त नहीं होते। यह मुख्य रूप से नलकास्थियों की मज्जखात में पाई जाती है और मज्जा की 50% भाग होती है।

---

[201] *सु०सं०,सू०* 15/5

[202] *सु०सं०,सू०* 15/7

रक्तमज्जा- यह चपटी अस्थियों एवं सुषिर अस्थियों में पाई जाती है। इसमें कुछ मात्रा में वसा ऊतक और रक्तोत्पादक ऊतक पाया जाता है। यहाँ रक्तकण विभिन्न अवस्था में पाए जाते हैं। लाल रक्तकणों के कारण ही इसे रक्तमज्जा कहते हैं। गर्भावस्था में शरीर की समस्तास्थियों में रक्तमज्जा ही रहती है।

भ. मज्जाधातु की उत्पत्ति :- इसका निर्माण मज्जावह स्रोतस् में अस्थि के प्रसादांश पर अथवा रसधातु के मज्जा समानांश पर मज्जाग्नि की क्रिया से प्रसाद एवं किट्ट में विभाजित होते हैं। किट्ट भाग से नेत्र स्नेह, त्वक् स्नेह एवं पुरीष स्नेह की उत्पत्ति होती है तथा प्रसाद भाग मज्जा धातु में परिणत हो जाता है। *सुश्रुतसंहिता* में मज्जा का विवेचन करते हुए कहा गया है कि "**महत्सु च मज्जा भवति। अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते। शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता**"॥[203] अर्थात् मज्जा बड़ी अस्थियों में रहता है। अन्य अस्थियों में पाई जाने वाली मज्जा जो रक्तयुक्त होती है, मेद कहलाती है। शुद्ध मांस का स्नेह वसा कहलाता है। इस मज्जा की उत्पत्ति अस्थि के सूक्ष्मभाग से होती है।

म. मज्जाधातु के कार्य :- मज्जाधातु स्निग्ध एवं मृदु होती है। इन्हीं गुणों के कारण मज्जा अस्थियों का स्नेहन एवं पूरण करने के साथ शरीर को शक्ति प्रदान करती है और उत्तर धातु शुक्र की पुष्टि करती है। यह धातु बल, शुक्र, रस, कफ, मेद एवं मज्जा की वृद्धि करने वाली एवं शरीर को स्निग्ध रखने वाली तथा बल उत्पन्न करने वाली है। मज्जा की गणना चतुर्विध स्नेह द्रव्यों में की गई है। मज्जा अस्थियों के अन्दर रहने से अस्थि पूरण का कार्य करती है। मज्जा मेदोवर्गीय द्रव्य है, जिसके धातुपाक से कोलेस्टेरॉल उत्पन्न होते हैं। यह लौह के लिए सर्वोत्तम संचयागार है। आहार के पाचन एवं शोषण से लौह ट्रान्सफेरिन के रूप में शरीर में प्राप्त होता है। इसमें स्थित बृहत् भंजक कोष में आए हुए विभिन्न विषों का भक्षण कर उन्हें निर्विष बना देते हैं। इस प्रकार मज्जा धातु शरीर में अनेक प्रकार के कार्य करके शरीर को सुदृढ़ बनाती है।

---

[203] *सु०सं०,शा०* 4/12-13

य. शुक्रधातु परिचय :- सप्तविध धातुओं में शुक्रधातु अन्तिम धातु है। इसे धातुओं में मुख्य स्थान प्राप्त है। शुक्र शब्द में मैथुन के समय निर्गत शिश्न के स्राव से लिया जाता है, जिसमें कामेच्छा एवं सन्तान की उत्पत्ति शक्ति विद्यमान रहती है। इसे तेजस्, रेतस्, वीर्य नाम से भी अभिहित किया जाता है। यह अनेक प्रजनन ग्रन्थियों से उत्पन्न तरल स्राव है। शुक्रोत्पादक ग्रन्थियों में वृषण प्रमुख है। इसके अतिरिक्त अधिवृषण, शुक्राशय, अष्ठीला एवं काउपर ग्रन्थियों का स्राव भी शामिल है। सभी को सम्मिलित रूप से शुक्र कहा जाता है। चरक ने शुक्रधातु को परिलक्षित करते हुए कहा है कि-

"शुक्रवहानां स्त्रोतसां वृषणो मूलं शेफश्च।"[204]

चरकसंहिता के अनुसार शुक्रवह स्त्रोतों के आधार दोनों अण्डकोष एवं मूत्रेन्द्रिय हैं। *सुश्रुतसंहिता* में स्तनों को शुक्रवह का स्त्रोत स्वीकार किया गया है- **शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च।**[205] अर्थात् शुक्रवह स्त्रोत दो प्रकार के है। इनके मूल दोनों स्तन और दोनों अण्डाशय हैं। इनकी हानि होने पर नपुंसकता, शुक्र देर से निकलना एवं शुक्र के साथ रक्त का आना आदि विकार होते हैं।

र. शुक्रधातु की उत्पत्ति :- मज्जाधातु से शुक्र की उत्पत्ति होती है। मज्जा के प्रसादांश पर शुक्रवह स्त्रोतसों में शुक्राग्नि की क्रिया से प्रसादरूप शुक्रधातु का निर्माण होता है। आयुर्वेदज्ञों ने शुक्रधातु की उत्पत्ति के विषय में कहा है कि-

ततः शुक्रं प्रवर्तते।[206] **मज्ज्ञः शुक्रं तु जायते।**[207]

शरीर में वायु, आकाश आदि भावों से अस्थियाँ छिद्रमय हो जाती है। उन छिद्रों से वृषण में शुक्र की स्रुति होती है जो वीर्यवाहिनी शिराओं का आधार है। वस्तुतः शुक्र शरीर में सर्वव्यापक है।

---

204 *च०सं०,चि०* 5/4

205 *सु०सं०,शा०* 9/12

206 *च०सं०,चि०* 15/15

207 *सु०सं०,सू०* 14/10

सुश्रुतसंहिता में शुक्रधातु का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार दूध में घी और गन्ने में रस विद्यमान रहता है उसी प्रकार विद्वान् शुक्र को शरीर में सर्वत्र विद्यमान स्वीकार करते हैं।[208] शुक्रधातु के विषय में उत्तम उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार जल से भरे हुए घड़े से जल स्रवित होता है उसी प्रकार वृषण से स्रवित होकर शुक्र अधिवृषण में संचित होता है।

ल. शुक्रधातु के गुण :- शुद्ध शुक्रधातु में निम्नांकित गुण होते हैं- स्फटिकाभ, पतला, स्निग्ध, मधुर, शहद की सी गन्ध वाला होता है। कुछ अन्य आचार्यों के मतानुसार शुद्ध शुक्र तिलतैल के सदृश या क्षौद्र मधु के समान होता है। *सुश्रुतसंहिता* में कहा गया है कि-

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च। शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा॥[209]

चरकसंहिता में शुक्रधातु[210] के उपरोक्त गुणों को स्वीकार किया गया है। आचार्यों में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या बाल्यावस्था में शुक्र उपस्थित रहता है ? इस प्रश्न पर आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार पुष्प की कली में स्थित गन्ध के विषय में कहना कठिन होता है कि गन्ध है या नहीं अथवा इस प्रकार कह सकते हैं। क्योंकि उपस्थित भाव की अभिव्यक्ति होती है ; केवल सूक्ष्म होने के कारण वह व्यक्त नहीं होता है। वही गन्ध पत्र एवं केसर के विकसित हो जाने पर प्रकट होती है, उसी प्रकार बाल्यावस्था में भी शुक्रधातु प्रकट होती है तथा रोमराजि तथा अन्य यौवन चिह्न जननेन्द्रिय का बड़ा होना, आवाज का भारी होना तथा विचारों में परिवर्तन प्रकट होने लगते हैं। स्त्रियों में भी स्तन, गर्भाशय, योनि की वृद्धि शनैः शनैः होने लगती है। शरीर के धारकतत्त्वों में मलों का भी विशेष स्थान है, जिनका विवेचन निम्नोक्त प्रकार से किया जा रहा है।

---

[208] यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ रसो यथा। शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद्विषग्वरः॥ *सु०सं०,शा०* 4/21

[209] *सु०सं०,शा०* 2/12

[210] *च०सं०,चि०* 30/145-146

2.3.1 मल परिचय :- शरीर में उत्पन्न उन द्रव्यों को मल कहा जाता है जो शरीर को मलिन करते हैं या देह की स्वतः होने वाली क्रियाओं में अवरोध उत्पन्न करते हैं। कोषकारों ने मल की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है- "**मृज्यते शोध्यते शरीरमनेन इति मलः**"। *अष्टाङ्गसंग्रह* में मल का विवेचन करते हुए कहा गया है कि **'मलिनीकरणाद् आहारमलात्वान्मलाः'**[211] अर्थात् जो शरीर को मलिन करे तथा आहार के किट्ट भाग से जिसका निर्माण हो उन्हें मल कहते हैं।

2.3.2 मल के भेद :- धात्वग्नि पाक से मल की उत्पत्ति होती है। आहार पर सर्वप्रथम जठराग्नि की क्रिया होकर पक्वाहार प्रसाद एवं किट्ट में विभक्त होता है। प्रसाद भाग आहार रस है जो रस, रक्तादि धातुओं में विभक्त हो जाता है जबकि किट्ट भाग से पुरीष, मूत्र एवं वायु की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार रस पर धात्वग्नि पाक होकर प्रसाद भाग से रक्त एवं किट्ट भाग से श्लेष्मा का निर्माण होता है। इसी प्रकार अन्य धातुओं के मलों में किट्ट से तत्तत् धातुओं से मलोत्पत्ति होती है। *चरकसंहिता* में मलों के भेदों[212] का विवेचन करते हुए कहा गया है कि आहार का मल पुरीष एवं मूत्र है। रसधातु का पाक होने पर मल कफ बनता है, रक्त का मल पित्त है, मांस के मल आंख-नाक-कान-मुख एवं जननेन्द्रिय हैं, मेद का स्वेद मल है, अस्थि के केश और रोम मल हैं। मज्जा का स्नेहांश मल और नेत्र का कीचड़, त्वचा का मल है। इस प्रकार धातु में प्रसाद एवं किट्ट भाग परस्पर उपस्नेहन द्वारा एक-दूसरे को धारण करते हैं।

---

[211] *अ०सं०,सू०* 20/3

[212] *च०सं०,चि०* 15/18-19

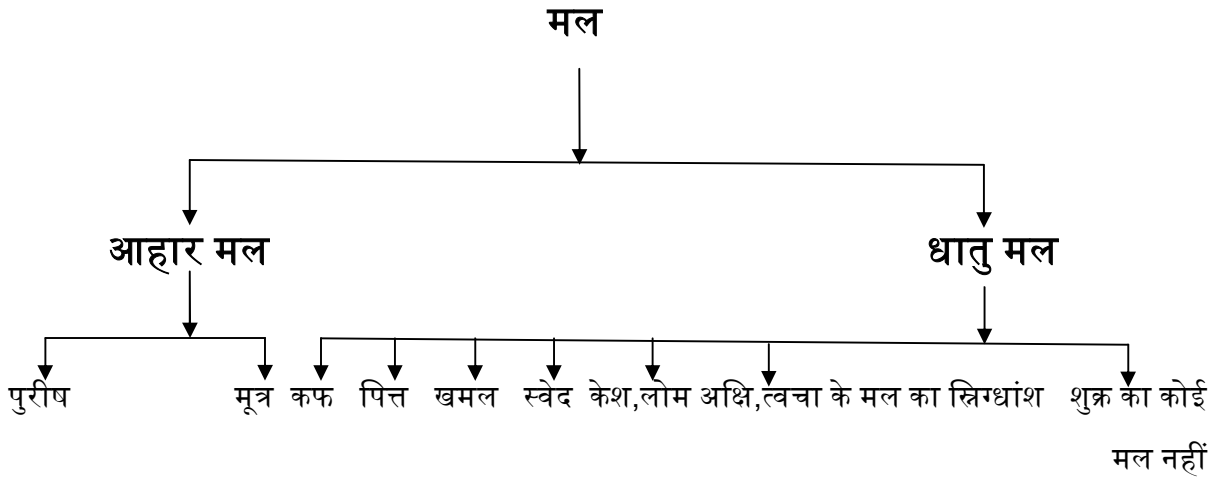

महर्षि चरक के अनुसार शरीर को बाधित करने वाले द्रव्यों को जिनसे शरीर की क्रियाएँ सुलभता से नहीं होती, उसे मल कहते हैं। इस प्रकार मलों के पुरीषादि एवं कफपित्तादि मल हैं, जिनका विवेचन आगे किया जा रहा है।

2.3.4 किट्ट का पोषण :- *चरकसंहिता* में प्रतिपादित है कि आहार पर जठराग्निपाक से सारभूत रस और सारहीन किट्ट उत्पन्न होता है। किट्ट द्वारा स्वेद, मूत्र, पुरीष, प्रकुपित वातादि दोष, आँख, कान, नासिका, रोमकूप एवं प्रजननेन्द्रियाँ के मल एवं केश, दाढ़ी, रोम तथा नाखून आदि अवयवों का पोषण होता है।[213] अतः मल भी दोष-धातु के समान जीवन का मूल है, जिनका नियमित रूप से उत्सर्जन होना आवश्यक है, अन्यथा जीवन उपयोगी क्रियाओं में रूकावट पहुँचाकर अकाल मृत्यु मनुष्य की हो सकती है।

क. पुरीष मल परिचय :- इसकी उत्पत्ति पक्वाशय में होती है एवं पक्वाशय का प्रारम्भ उण्डुक से होता है। बृहदान्त्र के अधोभाग को पुरीषाधार कहते हैं। यह मूत्राशय के पिछले भाग में रहता है। इसके दो भाग है- उत्तर गुद में पुरीष बनने के बाद एकत्रित होता है तथा अधर गुद में वृत्ताकर पेशी संवरणी निर्मित होती है। इसे मल द्वार कहते हैं जिससे मल बाहर निकलता है। आयुर्वेदज्ञों ने पुरीष मल को विवेचित करते हुए कहा है कि-

---

[213] तत्र आहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यभिनिर्वर्तते।
किट्टात् स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्माणः। *च०सं०,सू०* 28/3

"पुरीषवहानां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं स्थूलगुदं च"।[214]

"पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदं च"।[215]

शाङ्गर्धरसंहिता में पुरीषमल का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जो किट्ट पक्वाशय में रहता है, वह पुरीष मल है और वह अपान वायु से प्रेरणा प्राप्त कर तीन वलियों के मार्ग से बाहर निःसरित होता है।[216] अतः पुरीष की उत्पत्ति होकर वलियों से बाहर निकलती है। इसके शरीर में अनेक कार्य होते हैं।

ख. पुरीष मल के कार्य :- यह शरीर को सहारा देता है और अग्नि एवं वायु को धारण करता है। यह शरीर को स्थिरता प्रदान करता है। राजयक्ष्मा से पीड़ित व्यक्ति के पुरीष का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि सभी धातुओं का क्षय होने से उसके शरीर का बल पुरीष ही होता है। *सुश्रुतसंहिता* में इसके कार्यों को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि-

"पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणं च"।[217]

मनुष्यों की शक्ति शुक्र पर एवं जीवन मलों पर निर्भर करता है। इसलिए यक्ष्मा व्याधि से पीड़ित मनुष्य का बल क्षीण होने एवं जीवन में विकार आने से मल और शुक्र की रक्षा करनी चाहिए। इसके अधोलिखित कार्य हैं-

- शोषण- पक्वाशय में स्थित अग्नि, जल, लवण का घोल, ग्लूकोज तथा कुछ मात्रा में अमीनोऽम्ल का शोषण करती है। प्रतिदिन पक्वाशय में 350 ग्राम किट्ट आता है, जिससे 125 ग्राम गीला पुरीष निर्मित होता है।
- उत्सर्जन- गुरु धातुएँ पुरीष के साथ बाहर निकलती हैं।
- स्राव- यहाँ से कफ का स्राव भी हो जाता है, जिसके कारण मल चिकना हो जाता है।

---

214 *च०सं०,वि०* 5/8

215 *सु०सं०,शा०* 9/12

216 तत् किट्टं च मलं ज्ञेयं तिष्ठेत् पक्वाशये च यत्। वलित्रितयमार्गेण यात्यपानेन नोदितम्॥ *शा०सं०,पू०* 6/11

217 *सु०सं०,सू०* 15/8

- जीवाणु कार्य- पक्वाशय में स्थित जीवाणु अनेक द्रव्यों का पाचन करते हैं तथा उन्हें अनेक रूपों में परिवर्तित करते हैं।
- अपान वायु की गति से पुरीष आगे बढ़ता है।
- पक्वाशय में जीवाणु क्रिया से विटामिन के, बी-काम्प्लेक्स, फॉलिक अम्ल एवं विटामिन बी12 संश्लेषित होते हैं।

ग. मूत्रमल परिचय :- अन्न का द्वितीय मल मूत्र है। यह अन्न के परिणमन होने के बाद अन्न के संघटक द्रव्यों के टूटने से उत्पन्न होता है और शरीर में क्लेद को उत्सर्जित करवाता है। इसलिए इसकी गणना मलों के अन्तर्गत होती है। सुश्रुत ने मलों का विवेचन करते हुए कहा है कि-

किट्टमन्नस्य विण्मूत्रम्।[218] विण्मूत्राहारमलः।[219]

अतः यह मल अन्न का द्वितीय मल है, जो शरीर में क्लेद उत्सर्जित करवाता है। इसके उत्पत्ति के अनेक अंग है, जिनका विवेचन इस प्रकार है।

घ.मूत्रोत्पत्ति के अंग :- आचार्यों ने मूत्र की उत्पत्ति एवं मूत्र निःसरण से सम्बन्धित निम्नांकित अंगों का विवेचन किया है-

- **वृक्क।**
- **गवीनी।**
- **बस्ति।**
- **मूत्रप्रसेक।**

वेदों में भी शरीर सम्बन्धी अंगों में इन अंगों का वर्णन प्राप्त होता है। *अथर्ववेद* में आन्त्र, गवीनी एवं बस्ति में मूत्र रहने का प्रमाण प्राप्त होता है- **"यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद् वस्तावधि संश्रितम्। एवाते मूत्रम्"।**[220] सायणाचार्य ने आन्त्रों से निकलकर बस्ति में मूत्र ले जाने वाली दो रचनाओं को गवीनी स्वीकार किया है।

---

[218] *च०सं०,चि०* 15/18

[219] *सु०सं०,सू०* 46/28

[220] *अ०वे०* 1/113

यहाँ पर आन्त्र शब्द बहुवचन रूप में प्रयुक्त हुआ है। जो वृक्क वाची नहीं है, वृक्क के अन्दर क्षुद्रान्त्र एवं बृहदान्त्र के समान स्थित असंख्य नलिकाएँ होती है, जिनमें से मूत्र संग्राहक नलिनी तथा गवीनी गोडिका के माध्यम से गवीनी द्वारा बस्ति में प्रवेश करता है। सुश्रुत ने मेदोवह[221] स्रोतस् के मूल में कटि एवं वृक्क का नाम दिया है- **"मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटीवृक्कौ च"।** *सुश्रुतसंहिता* में मूत्रवह स्रोतस् के मूल में मेढ्र एवं बस्ति का वर्णन किया है।[222] जबकि चरक ने मूत्रवह स्रोतस्[223] का एक भाग बस्ति से तथा द्वितीय वंक्षण को बताया है। वंक्षण के द्विवचन प्रयोग करने से वंक्षण को वृक्क मानने का निर्देश ग्रन्थों में प्राप्त होता है। जैसे आढ्यमल्ल ने तिल के समान रचना के कारण तिलवृक्क द्विवचन कहा है और उसे आहार के किट्ट स्वरूप जलधारी सिराओं का स्थान स्वीकार किया है। *अष्टाङ्गसंग्रह* में वाग्भट ने सात आशयों का वर्णन करते हुए, उससे सम्बन्धित सात अंगों का वर्णन किया है, जिसमें से एक अंग वृक्क भी है- असृक्, कफ, आम, पित्त, पक्व, वायु एवं मूत्र। इनमें हृदय, यकृत, प्लीह, फुफ्फुस, उण्डुक, वृक्क एवं आन्त्र अंगों को शामिल किया है।[224] जबकि अन्य संहिताकारों ने मूत्र के मूल में बस्ति को अंग स्वीकार किया है। मूत्रोत्पत्ति एवं मूत्र निःसरण के अंगों में गवीनी, बस्ति एवं मूत्रप्रसेक में कोई मत-मतान्तर नहीं है। वृक्क के कार्यों में मत-भिन्नता वृक्क के चारों ओर मूत्र की उपलब्धि न होकर मेद की उपलब्धि के कारण उपस्थित होती है। इस प्रकार मूत्रोत्पत्ति के चारों अंगों का बहुत महत्त्व है। इसके निर्माण में तीन प्रक्रियाएँ होती है, जिनका विवेचन इस प्रकार है।

ङ.मूत्र निर्माण :- मूत्र के निर्माण में तीन प्रक्रियाएँ कार्य करती हैं- छनन, स्रवण एवं अवशोषण। सबसे पहले रक्त धमनी से केशिका गुच्छ में प्रवेश करता है और भौतिक क्रिया से रक्त में से जल, लवण एवं अन्य पदार्थ गुच्छ से छनकर वृक्क नलिकाओं में प्रवेश करता है।

---

221 *सु०सं०,शा०* 9/12

222 मूत्रवहे द्वे, तयोर्मूलं बस्तिमेढ्रं च। *सु०सं०,शा०* 9/12

223 मूत्रवहानां स्रोतसां बस्तिमूलं वंक्षणौ च। *च०सं०,वि०* 5/8

224 *अ०सं०,शा०* 46/47

च.मूत्र के कार्य :- अन्य मलों के समान मूत्र के भी अनेक कार्य हैं। यह बस्ति को पूरण करता है तथा शरीर से त्याज्य पदार्थों को बाहर निकालता है। वायु की अनुकूल स्थिति होने से मूत्र में सम्यक् प्रवृत्ति होती है तथा वायु के प्रतिकूल होने पर विविध मूत्र सम्बन्धी व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। *सुश्रुतसंहिता* एवं *अष्टांगहृदय* में वर्णित है -

"बस्तिपूरणक्लेदकृन्मूत्रम्"।[225] **"मूत्रस्य क्लेदवाहनम्"।**[226]

यह रक्तरस आयतन को अनुरक्षित करता है। यह रक्त के कुछ संघटकों की सान्द्रता स्थिर रखने में सहायता करता है। यह शरीर से जल, प्रोटीन, धातुपाकज द्रव्य एवं लवणों का विसर्जन करता है। इसमें कुछ द्रव्य उसकी क्रियाप्रणाली में अमोनिया, हिप्पूरिक अम्ल एवं कार्बन रहित फास्फेट उत्पन्न होकर मिल जाते हैं। इस प्रकार मूत्र के शरीर में अनेक कार्य है, जो बाहर निकलकर शरीर को स्वस्थ रखता है।

छ.कफमल परिचय :- आहार रस पर रसवह स्रोतसों में रसाग्नि की क्रिया करके रस का प्रसाद भाग एवं किट्ट भाग में विभाजन होता है। किट्टांश से मलभूत कफ की उत्पत्ति होती है। *चरकसंहिता* में कफोत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि- **रसस्य तु कफः**[227] दोष रूप कफ एवं मलरूप कफ में बहुत अन्तर है। दोष रूप कफ शरीर का अपनी क्रिया से अनुरक्षण करता है जबकि मलभूत कफ शरीर में क्रियाओं में बाधा उत्पन्न करने के कारण उनका शरीर से नियमित त्याग करना आवश्यक है। चरक ने प्रकुपित कफ को मल की संज्ञा दी है- कुपित कफ अपने प्रमाण से वृद्धि को प्राप्त कर शरीर की सामान्य क्रियाओं को अवरुद्ध करता है, अतः इसकी गणना मल कफ में की गई है।[228]

---

[225] *सु०सं०,सू०* 15/15

[226] *अ०हृ०,सू०* 11/15

[227] *च०सं०चि०* 15/17

[228] *च०सं०,सू०* 28/22

सामान्य प्रचलित रूप में बलगम अथवा उल्टी तथा नाक से निकलने वाला चिकना द्रव्य कफ मल कहलाता है, जिसका नियमित बाहर निकलना आवश्यक होता है। रसज रोगों में मुख, कण्ठ, आमाशय, श्वास प्रणाली के रोग एवं धातुपाक के कारण उत्पन्न रस मल सभी कफ मल के कारण होते हैं।

ज.मलपित्त परिचय :- रक्त का मल पित्त है जो अग्निपाक से रक्त के किट्टांश से उत्पन्न होता है। यह मल यकृत् में रक्तकणों के विघटित होने से बनता है। यह पित्त यकृदवाहिनी द्वारा यकृत् से बाहर निकलकर पित्ताशयवाहिनी से मिलकर सामान्य पित्तवाहिनी का निर्माण करती है, जो आद्यान्त्र में जाकर खुलती है। मलपित्त के निम्नांकित कार्य हैं-

- **कुछ धातुओं का उत्सर्जन करना।**
- **मलपित्त के लवण स्वयं पित्त के उत्तेजक हैं।**
- **आद्यान्त्र में वसा के पचन में सहायता करना।**
- **वसा, लौह, कैल्शियम, विटामिन ए०, डी०, ई० के शोषण में सहायक है।**
- **यह स्निग्धता प्रदान करता है और वसा के ईमल्सन बनाने में सहायता करता है।**

झ.खमल परिचय :- यह मांसधातु का मल है। मांस धातु पर अग्नि की क्रिया द्वारा उत्पन्न किट्ट से खमल उत्पन्न होते हैं। खमल इसलिए कहा जाता है क्योंकि इन मलों को उत्सर्जित करने वाले अंगों में ख अर्थात् आकाशमहाभूत की अधिकता होती है। ये अंग आँख, नाक, कान एवं जननेन्द्रिय हैं। *चरकसंहिता* में मलों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि-**"मांसस्य खमलाः"।**[229] **"कर्णाक्षिनासास्यप्रजननमलाः"।**[230] ये मल कभी पतले और कभी गाढ़े होते हैं। यह शरीर में मांसधातु की वृद्धि होने से बढ़ते हैं और इस धातु के कम होने से कम होते हैं।

---

229 *च०सं०,चि०* 15/17

230 *च०सं०,शा०* 7/15, पर आयुर्वेददीपिकाटीका, पृ० 2016

ञ.स्वेद मल परिचय :- *चरकसंहिता* में विवेचित है कि स्वेद मेदोधातु का मल है।[231] इसकी उत्पत्ति मेदोवह स्रोतस् में मेदोऽग्नि की क्रिया द्वारा उत्पन्न किट्ट भाग से होती है। स्वेद त्वचा में स्थित स्वेद ग्रन्थियों से उत्पन्न होता है। स्वेद तनु जलीय घोल होता है, जो स्वेद ग्रन्थियों का स्रवण होता है, जिसमें रक्त स्थित विकारों का उत्सर्जन होता है। शरीर में स्वेद ग्रन्थियाँ दो प्रकार की होती है- ईक्रीन ग्रन्थियाँ एवं एपोक्रीन ग्रन्थियाँ।

- जो ग्रन्थियाँ हाथ, पैर की हथेली एवं तालुओं में होती है वह ईक्रीन ग्रन्थियाँ होती हैं।
- जो ग्रन्थियाँ कान, पलकों, वक्ष, स्तन एवं गुह्यांगों में होती है वह एपोक्रीन ग्रन्थियाँ होती हैं। इस मल के अनेक कार्य हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार है-

ट.स्वेद मल के कार्य :-

- **यह शरीर के ताप को नियन्त्रित करता है।**
- **यह शरीर में जल को सन्तुलित रखता है।**
- **यह त्वचा को नम, मृदु, क्लिन्न एवं सुकुमार रखता है।**
- **यह रक्त के अम्लक्षार को नियमित करता है।**
- **धातु एवं अन्य त्याज्य द्रव्यों को उत्सर्जित करता है।**

ठ. केश एवं लोम मल परिचय :- ये अस्थि धातु के मल हैं, जो अस्थि धातु पर अग्नि की क्रिया से उत्पन्न हुए किट्ट से प्रादुर्भूत होते हैं। *चरकसंहिता* में देहधारक तत्त्वों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि **"स्यात् किट्टं केशलोमास्थ्नो"**।[232] अन्य आचार्यों ने नाखून को अस्थि धातु का मल स्वीकार किया है, परन्तु चरक ने नख को अस्थि के अन्तर्गत शामिल किया है और केश एवं लोम को अस्थि का मल स्वीकार किया है। ये मल शरीर में ताप का नियन्त्रण करने में सहायता प्रदान करते हैं और स्पर्श ज्ञान में सहायता करते हैं।

---

[231] मलः स्वेदस्तु मेदसः। *च०सं०,चि०* 15/17

[232] *च०सं०,चि०* 15/17

ड. त्वचा, नेत्र एवं विट्ट का स्निग्धांश परिचय :- ये मज्जाधातु के मल हैं। इनकी उत्पत्ति मज्जा धातु पर अग्नि की क्रिया से उत्पन्न हुए किट्टांश से होती है। *चरकसंहिता* में मज्जा धातु के मलों को परिलक्षित करते हुए कहा गया है कि "**मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट् त्वचाम्**"।[233] विट् को पुरीष कहते हैं। पुरीष में स्निग्धांश वसा के कारण होता है। नेत्र का मल कीचड़ है, उसका स्निग्धांश मज्जा का मल है। नेत्र श्लेष्मल कोमल श्लैष्मिक झिल्ली है, जो पलकों तथा नेत्रगोलक को ढ़क कर रखती है। इसका कार्य नेत्र की रक्षा एवं उसका स्नेहन करना है। इसके स्राव की अधिकता से कीचड़ अधिक मात्रा में निकलता है। त्वचा का स्नेहन त्वग्वसीय ग्रन्थियों के तैल से होता है जिससे त्वचा कोमल, स्निग्ध एवं सुकुमार रहती है। इस प्रकार मज्जाधातु के त्वचा, नेत्र, विट् मल हैं, जिनके बाहर निकलने से शरीर स्वस्थ रहता है।

ढ़. शुक्र का मल परिचय :- इस धातु का सार ओज है। वह अत्यन्त शुद्ध होने के कारण गर्म किए गए सोने के सदृश होता है। अतः शुक्र का मल नहीं होता। शाङ्र्गधर ने युवावस्था में उत्पन्न मुख पिण्डिकाओं को शुक्र का मल स्वीकार किया है। वाग्भट ने ओज को शुक्र का मल स्वीकार किया है परन्तु अन्य सभी आचार्यों ने शुक्र का मल नहीं माना है। आचार्यों ने ओज को सप्त धातुओं के साररूप में स्वीकार किया है।

2.4.1 उपधातु परिचय :- उपधातु उन रचनाओं को कहा जाता है जो धातुओं के समान शरीर को धारण करने के लिए आवश्यक है, परन्तु जिनके द्वारा पोषण का कार्य नहीं होता। धातु का कार्य शरीर का धारण एवं पोषण करना है। उपधातु द्वारा धारण का कार्य होता है परन्तु पोषण का कार्य नहीं होता। उपधातु की उत्पत्ति धात्वग्नि व्यापार के प्रसादांश के सूक्ष्म भाग से उत्पन्न द्रव्यों से होती है।

अतः प्रस्तुत अध्याय में शरीर को धारण करने वाले तत्त्वों का विवेचन किया गया है जिनमें दोष, धातु एवं मल प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त आचार्यों ने उपधातुओं को भी स्वीकार किया है। शरीर के प्रमुख तत्त्वों में दोष प्रमुख तत्त्व है, जिनमें वात, पित्त एवं कफ दोष है,

---

[233] *च०सं०,चि०* 15/17

जिनकी उत्पत्ति पञ्चमहाभूतों के संयोग से हुई है। इस अध्याय में वात एवं कफ दोष का पर्यालोचन किया गया है। अग्रिम अध्याय में पित्तदोष का भेदों सहित विवेचन किया जाएगा।

तृतीय अध्याय

आयुर्वेदसम्मत पित्तदोष का पर्यालोचन

शरीर के आधारस्तम्भ दोष, धातु और मल हैं, क्योंकि साम्यावस्था में ये शरीर को धारण करते हैं। यें प्राकृतावस्था में शरीर की क्रियाओं को संचालित कर व्यक्ति को स्वस्थ रखते हैं, परन्तु उनका स्वभाव दूष्यों को दूषित करना होने से वे दोष कहलाते हैं। यद्यपि शरीर को धारण करने का कार्य धातु का है, परन्तु दोष भी साम्यावस्था में शरीर को धारण करते हैं, इसलिए उन्हें भी धातु कहा जाता है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में दोष त्रिविध स्वीकार किए गए हैं- वात, पित्त एवं कफदोष। गत अध्याय में शरीर के धारक तत्त्व दोष, धातु एवं मलों का पर्यालोचन किया गया एवं साथ ही उपधातु का विवेचन कर दिया गया है। गत अध्याय में दोषों का वर्णन करते समय पित्तदोष का वर्णन नहीं किया गया। प्रस्तुत अध्याय में आयुर्वेदसम्मत पित्त दोष के सन्दर्भ में विश्लेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत है।

3.1.1 पित्त शब्द की व्युत्पत्ति :- पित्त शब्द **'तप सन्तापे'**[234] धातु में अच् प्रत्यय लगने से तथा अक्षरों में परिवर्तन होकर एवं त वर्ण का द्वित्व होकर निष्पन्न होता है। इस धातु की तीन निरुक्तियाँ मिलती हैं-

- **तपति ऊष्माणमुत्पादयति।**
- **तापयति दहति भुक्तमाहारजातम्।**
- **तप्यते अष्टविधमणिमादिकमैश्वर्यं लभयति अभिप्रेतार्थं साधयति इति पित्तम्।**[235]

पित्त उसे कहते हैं जो द्रव्य शरीर में ऊर्जा का निर्माण करते हैं, आहार द्रव्यों का पचन एवं ऑक्सीकरण करते हैं और शरीर तथा मन में ऐश्वर्यवर्धक प्रसाद, हर्ष, शौर्यादिक भावों को उत्पन्न करते हैं।

---

[234] *सु०सं०, सू०* 21/5

[235]

इसके द्रव्यों का स्वरूप पचन, दहन, परिणमन, परावृत्ति, प्रकाशन, वर्णरञ्जन, तपन एवं प्रभाकरण होता है। यह सूक्ष्म एवं स्थूलरूप से शरीर में विद्यमान रहता है। शरीर में विद्यमान पित्तदोष का सूक्ष्मरूप प्रत्येक कोष में पाचक अंशों के रूप में अनुमान द्वारा ज्ञात होता है और स्थूलरूप नेत्रों द्वारा प्रत्यक्ष होता है और वे आमाशय, यकृत् एवं अग्न्याशय के स्राव में विद्यमान होता है।

3.1.2 पित्तदोष के गुण :- आयुर्वेदीय साहित्य में त्रिविध दोषों के गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। यदि पित्तदोष के गुणों की चर्चा करें, तो यह प्राकृत पित्त स्नेह से युक्त, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर एवं कटु गुण से युक्त होता है। *चरकसंहिता* में पित्त दोष के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह औष्ण्य, तीक्ष्ण, द्रवयुक्त, अनतिस्नेह, शुक्लारुणवर्ज्य अन्य वर्ण, विस्र गन्ध, कटुक-अम्ल रस एवं सर युक्त कहा गया है।[236] वही *सुश्रुतसंहिता* में पित्त के गुण का वर्णन करते हुए उसको मांसगन्धि, साम्यावस्था में नीलवर्ण युक्त, निरामावस्था में पीतवर्ण युक्त एवं कटु रस से युक्त स्वीकार किया गया है, जो कि विदग्ध होने पर अम्ल हो जाता है।[237] जबकि *अष्टाङ्गहृदय* के प्रणेता वाग्भट ने पित्त को लघु गुणयुक्त स्वीकार किया है।[238] शाङ्र्गधर ने प्राकृत पित्त को सत्त्वप्रधान एवं तिक्त रस से युक्त माना है साथ ही अग्न्याशय में पित्त तिलोन्मित अग्निरूप में विद्यमान, इस प्रकार कहा गया है। पित्तदोष में सात्त्विक गुणों के कारण प्रसाद, मेधा, शौर्य, हर्ष आदि गुणों का विकास होता है। यह पित्तदोष अनेक गुणों के साथ शरीर में विद्यमान रहता है। वैसे सभी दोष सम्पूर्ण शरीर में अवस्थित होते हैं, परन्तु फिर भी कुछ विशेष स्थान में विद्यमान रहते हैं।

---

236 सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु। *च०सं०,सू०* 1/60
पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्रमम्लं कटुकं च। *च०सं०,वि०* 8/97

237 पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूतं नीलं पीतं तथैव च। उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च॥ *सु०सं०,सू०* 21/11

238 पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्। *अ०हृ०,सू०* 1/11

3.1.3 पित्तदोष का स्थान :- आयुर्वेद में शरीर का विभाजन दोषों के आधार पर किया गया है जिसमें हृदय के ऊर्ध्व भाग में कफ का, नाभि एवं हृदय के मध्य में पित्तदोष एवं नाभि से नीचे वात दोष का स्थान माना जाता है। यह दोष यद्यपि सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है और शरीर के प्रत्येक देहपरमाणु में पित्त का अस्तित्त्व प्राप्त होता है, तथापि शरीर में कुछ ऐसे स्थान भी हैं, जहाँ पैत्तिक धातुस्त्रावों या मलस्त्रावों का आधिक्य रहता है। *चरकसंहिता* में पित्तदोष के स्थानों का विस्तृतरूप से विवेचन किया गया है। चरक के अनुसार प्राकृत पित्त स्वेद, रस, लसीका, रक्त, आमाशय स्थानों में विद्यमान होता है। इन स्थानों में भी आमाशय पित्त का विशिष्ट स्थान है।[239] परन्तु चक्रपाणि ने नाभि और स्तन के मध्य भाग में आमाशय का स्थान स्वीकार किया है और आमाशय के अधोभाग को पित्त का विशिष्ट स्थान माना है "**पित्तस्थानेषु आमाशय इति आमाशयस्योधभागः"।**[240] *सुश्रुतसंहिता* में इन स्थानों के अतिरिक्त यकृत्, प्लीहा, हृदय, दृष्टि, त्वचा तथा आमपक्वाशय के मध्य में पित्तदोष का स्थान स्वीकार किया है तथा वाग्भट ने नाभि, रस, आमाशय में एवं नाभि को प्रमुख स्थान स्वीकार किया है।[241] *काश्यपसंहिता* में आमाशय, स्वेद, रक्त एवं लसीका को पित्तदोष का स्थान कहा गया है।[242] परन्तु शाङ्र्गधर ने अग्न्याशय में अग्निरूप तिलोन्मित पित्त का स्थान स्वीकार किया है।

3.1.4 पित्तदोष के विशिष्ट स्थान :- आमपक्वाशयमध्य, नाभि या आमाशय पाचकपित्त का विशिष्ट स्थान हैं। यकृत्, प्लीहा एवं आमाशय रंजकपित्त के स्थान हैं। चक्षु आलोचक पित्त का, त्वचा भ्राजकपित्त का और हृदय साधकपित्त का स्थान है। इस प्रकार पित्तदोष के भेदानुसार विशिष्ट स्थान है, जहाँ पित्तदोष अनेक कार्य करता है।

---

239 स्वेदो रसो लसीका रुधिरामाशयश्च पित्तस्थानानि ; तत्रापि आमाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्। *च०सं०,सू०* 20/8

240 *च०सं०,सू०* 20/8 पर *आयुर्वेददीपिकाटीका*, पृ० 769

241 पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य। पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदयं दृष्टिस्त्वक् पूर्वोक्तं च॥ *सु०सं०,सू०* 21/6-7
नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः। दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य, नाभिरत्र विशेषतः॥ *अ०हृ०,सू०* 12/2

242 पित्तस्यामाशयः स्वेदो रक्तं सह लसीकया। *का०सं०,सू०* 27/11

3.1.5 पित्तदोष के कार्य :- इसके अन्तर्गत पित्तवर्ग के अनेक द्रव्य शामिल हैं, जिनके गुण एवं कर्मों में साम्य होने के कारण उन्हें एक ही वर्ग में शामिल किया गया है। शरीर में पित्तदोष सूर्य का प्रतिनिधित्व करता है। जिस प्रकार सूर्य बाह्य जगत्, वनस्पति एवं प्राणियों के स्नेहांश को अपनी किरणों से शोषित कर लेता है, उसी प्रकार शरीर में यह दोष आग्नेय कर्मों से आहारद्रव्यों का पूर्ण परिणमन कर लेता है। इस प्रक्रिया द्वारा प्राप्त ऊर्जा से धातु, उपधातु, एवं मलों की पुष्टि होती है। इसके ये कार्य आग्नेय कर्म कहलाते हैं तथा इसके कार्य कफदोष के विपरीत होते हैं। कफ शरीर में संश्लेषणात्मक कार्य करता है, जबकि पित्त के कार्य विघटनात्मक होते हैं। इसमें सत्त्वगुण की बहुलता होती है। इसका प्रादुर्भाव अग्निमहाभूत की अधिकता से होता है। इसलिए इसमें उष्णता एवं तीक्ष्णता भौतिक परिवर्तनों के रूप में विद्यमान रहती है। इसकी उत्पत्ति में अप् महाभूत का संसर्ग होता है, इसलिए यह द्रव रूप में विद्यमान रहता है। आग्नेय होने से पित्तदोष में तैजस् भावों का प्राधान्य है। तैजस् भावों में रूप, चक्षुरिन्द्रिय, वर्ण, सन्ताप, देहकान्ति, पचन, क्रोध, तीक्ष्णता तथा शौर्य का उद्भव अग्निमहाभूत की बहुलता वाले द्रव्यों से होता है। इन सभी तैजस् भावों का पित्तदोष से सम्बन्ध घनिष्ठ है, क्योंकि इनसे शरीर में पित्तवर्धक कार्य उत्पन्न होते हैं। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि "**पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते**" [243] अर्थात् यह जब अपनी स्वाभाविक गति में होता है, तो उससे ही मनुष्यों की जठराग्नि का कार्य संपन्न होता है। पित्तदोष के कार्यों का वर्णन करते हुए मारीचि के वचनों को *चरकसंहिता* में उद्धृत किया गया है। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि पित्त के कार्य वास्तव में अग्नि के ही कार्य हैं, क्योंकि अग्नि ही पित्त के अन्तर्गत रहकर प्राकृत अवस्था में शुभ कार्य एवं विकृत अवस्था में अशुभ कार्य करती है अर्थात् अग्नि साम्यावस्था में सुख का कारण है एवं विषमावस्था में दुःख का कारण है।

[243] *च०सं०,सू०* 17/116

इस प्रकार पित्त का पचन या अपचन, आँखों से दिखाई देना या न दिखाई देना, शरीर की उष्णता का ठीक मात्रा में रहना या कमोवेश होना, शरीर के वर्ण का प्राकृत रहना अथवा विकृत हो जाना, शरीर में शूरता अथवा भय, क्रोध या हर्ष, उदासीनता या प्रसन्नता आदि अन्य अनेक प्रकार के द्वन्द्व उत्पन्न करता है।[244] अर्थात् पित्तदोष के प्रकुपित न होने पर पचन, दर्शन, शरीर-ताप का नियन्त्रण, प्राकृत वर्ण का आविर्भाव, शूरता, हर्ष एवं प्रसाद आदि शुभ एवं सुखदायक भावों को उत्पन्न करता है। इसके प्रकुपित होने पर पाचनशक्ति ठीक न होना अर्थात् जठराग्नि मन्द या तीक्ष्ण होना, आँखों से कम दिखाई देना, शरीर का ताप अनियन्त्रित रहना, शरीर का वर्ण विकृत होना एवं भय, क्रोध, मोह आदि अशुभ एवं दुःखदायक भावों की उत्पत्ति होती है। *सुश्रुतसंहिता* में पित्तदोष के कार्यों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि- **"भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम्। संसर्पत्स्वाः सिराः पित्तं कुर्याच्चान्यान्यान्गुणानपि"॥**[245] अर्थात् पित्तदोष से शरीर में कान्ति उत्पन्न होना, भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न होना, अग्नि को प्रदीप्त करना, शरीर को निरोग आदि कार्य हैं। *सुश्रुतसंहिता* में अन्यत्रस्थान पर विवेचित है कि पित्तदोष रस का रंजन करने वाला, आहार का पाचन करने वाला, रूप-दर्शन करने वाला, मेधा को उत्पन्न करने वाला और शरीर में ऊष्मा को उत्पन्न करने वाला है।[246] पित्तदोष के इन कार्यों को अग्निकर्म कहा जाता है और पित्तदोष अग्निकर्म को उत्पन्न करने वाला है। *सुश्रुतसंहिता* के टीकाकार डल्हण ने रस का रंजन करने वाले को रंजकाग्नि, आहार के पचन करने वाले को पाचकाग्नि, दर्शन प्रदान करने वाले को आलोचकाग्नि, मेधा उत्पन्न करने वाले को साधकाग्नि और ऊष्मा उत्पन्न करने वाले को भ्राजकाग्नि पित्त स्वीकार किया है।

---

244 मरीचि उवाच- अग्निरिव शरीरे पितान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति ; तद्यथा- पक्तिमपक्तिं दर्शमदर्शनं मात्रामात्रत्वमूष्मणः प्रकृतिविकृतिवर्णौ शौर्यं भयं क्रोधं हर्षं मोहं प्रसादमित्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति। *च०सं०,सू०* 12/11

245 *सु०सं०,शा०* 7/10

246 रागपक्त्योजस्तेजोमेधोष्मकृत्पित्तं पञ्चधा प्रविभक्तमग्निकर्मणानुग्रहं करोति॥ *सु०सं०,सू०* 15/5

अष्टांगसंग्रहकार ने पचनकर्म, ऊष्माजनन, अभीष्ट वस्तुओं के उपभोग करने की इच्छा, भूख, प्यास, शरीर की कान्ति उत्पन्न करना, शरीर-इन्द्रिय-मन को निर्मल बनाना, विभिन्न रूपों का अवलोकन, विचारों का उद्भव, रूप-मेधा-कार्य-शौर्योत्पत्ति एवं शरीर को मृदु बनाना आदि कार्य आग्नेय पित्तदोष के स्वीकार किए हैं।[247] *अष्टांगहृदय* में कहा गया है कि पित्तदोष से पाचन, ऊष्मा-उत्पादन, दर्शन, क्षुधा एवं पिपासा की उत्पत्ति, अन्न में रुचि, कान्ति, मेधा, बुद्धि एवं देह में मृदुता की उत्पत्ति आदि कार्य हैं।[248] इसके कार्यों को संकलित करने से उन्हें दो वर्गों में विभक्त किया गया है।

क.मानसिक कार्य- इसके अन्तर्गत विचारसाधन, इन्द्रिय, मन एवं देह की शुद्धता, शौर्यजनन, मेधाजनन एवं धीजनन आदि कार्य आते हैं।

ख.शारीरिक कार्य- इसके अन्तर्गत पचन, रंजन, रूपदर्शन, ऊष्माजनन, आहाररुचि-जनन, क्षुधाजनन, पिपासा एवं शरीरकान्ति तथा मार्दव आदि कार्यों का आविर्भाव होता है।

3.1.6 पित्तदोष के गर्भ में कार्य :- मनुष्य के देह की उत्पत्ति शुक्र-शोणित-जीव के संयोग से होती है। सूक्ष्मरूप में पित्तदोष शुक्र एवं शोणित में विद्यमान रहता है। गर्भोत्पत्ति होने पर गर्भशरीर में संक्रान्त होता है। इसकी पुष्टि गर्भिणी के आहार के तैजस् अंशों से होती है। इसके द्वारा गर्भ में पचन एवं ऊर्जा की उत्पत्ति का कार्य सम्पन्न होता है। गर्भ की प्रकृति के निर्माण में, नेत्रगत वर्ण-निर्माण में, ऊष्माजनन एवं शरीर की वृद्धि में पित्तदोष सहायता करता है। यह भ्रूण वृद्धि के साथ पित्त केन्द्रों का निर्माण करता है, जहाँ पर पित्त अनेक रूपों में अधिष्ठित रहता है। प्रसव के उपरान्त बालक के पित्त स्थानों में विद्यमान पित्तदोष क्रियाशील हो जाता है और आहार-पचन, रसरंजन, ऊष्मा उत्पादन आदि विविध कार्य सम्पन्न करने लगता है। अन्न के आग्नेय अंशों से पित्तदोष के सूक्ष्म एवं स्थूल अंशों की पुष्टि होती है। इस प्रकार पित्तदोष शरीर में अनेक कार्य करता है, जिससे शरीर में स्फूर्ति, तेज की उत्पत्ति होती है।

---

[247] *अ०सं०,सू०* 20/16

[248] *अ०हृ०,सू०* 11/7

3.1.7 पित्तदोष एवं अग्नि :- *सुश्रुतसंहिता* में पित्त एवं अग्नि के सम्बन्ध में जिज्ञासा की है कि यें दोनों एक ही हैं या अलग-अलग। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि पित्तदोष के अतिरिक्त अग्नि तत्त्व नहीं है। अग्निमहाभूत से उत्पत्ति के कारण पित्तदोष की और उसके शरीर में दहन-पचन आदि कार्यों में विद्यमान रहने से अग्नि के समान पित्त को उपचारक मानकर ही इसे 'अन्तरग्नि' कहा जाता है। पित्त में अग्निगुण के क्षीण होने पर समानगुण युक्त द्रव्यों के सेवन से पित्तदोष की वृद्धि होती है और पित्त के अतिवृद्ध होने पर शीतक्रिया के द्वारा शमन होने से शास्त्रों में इसी प्रकार के कथन से 'पित्त ही अग्नि है', पित्त के अतिरिक्त अग्नि की सत्ता नहीं है।[249] चरक ने इस मत का समर्थन किया है। डल्हण ने कहा है वास्तव में पित्त और अग्नि में भिन्नता है ; फिर भी चरक और सुश्रुत ने पित्त और अग्नि का अभेद कथन चिकित्सा की दृष्टि से कहा है। पित्तदोष की चिकित्सा करने से अग्नि का भी शमन हो जाता है।

क.अग्नि :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में अग्नि के तीन भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है- जठराग्नि, भूताग्नि एवं धात्वग्नि।

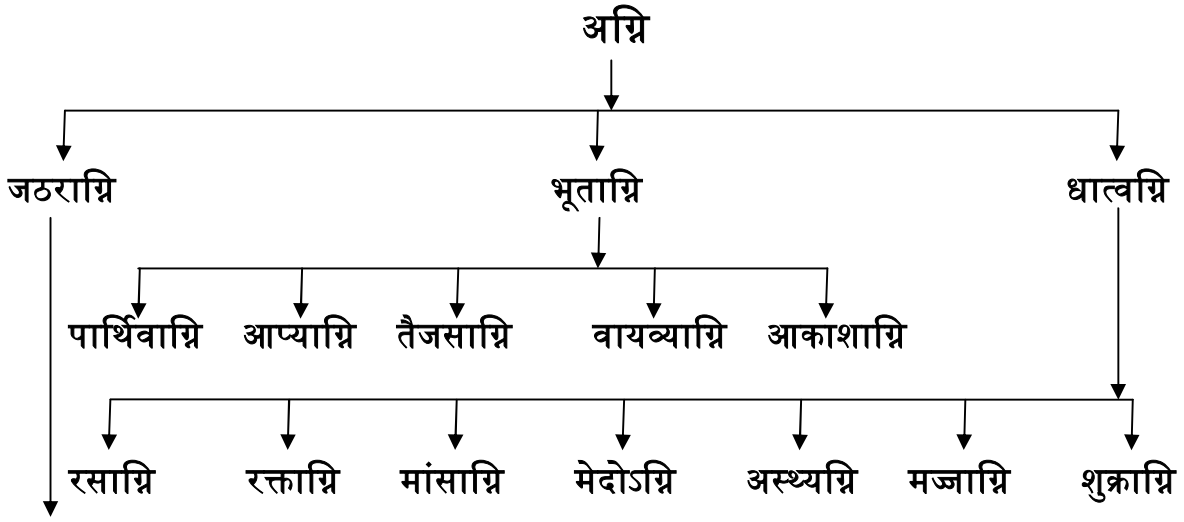

[249] तत्र जिज्ञास्यं किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः ? आहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति ? अत्रोच्यते- न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः उपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिप्रवर्त्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तरग्निरिति ; क्षीणे ह्याग्निगुणे तत् समानद्रव्योपयोगात्, अतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगात्, आगमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति।
सु०सं०,शा० 21/9

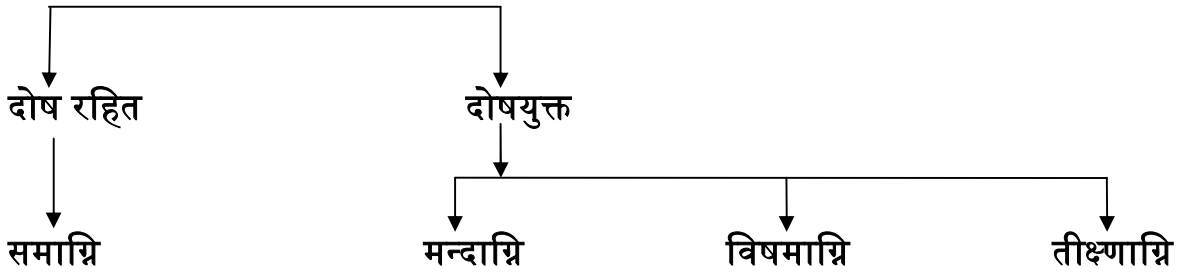

ख.जठराग्नि :- यह शरीर की अन्नप्रणाली में पचन का कार्य करती है। वस्तुतः बल भेद से शरीर में अग्नियाँ चार प्रकार की है- तीक्ष्ण, मन्द, सम एवं विषम। इनमें तीक्ष्ण अग्नि सभी अपथ्य को सहन करने की क्षमता रखती है। तीक्ष्ण अग्नि के विपरीत लक्षणों वाली मन्दाग्नि है। सम अग्नि अपचार से विकृत हो जाती है और अपचार न करने पर यह साम्यावस्था में विद्यमान रहती है। इस अग्नि के विपरीत लक्षणों वाली विषमाग्नि है। इनमें समाग्नि सम वात-पित्त-कफ पुरुषों में विद्यमान होती है। वातल पुरुषों में अग्नि विषम होती है। पित्ताधिक पुरुषों में अग्नि तीक्ष्ण होती है और कफ प्रधान पुरुषों में मन्द अग्नि होती है।[250] *चरकसंहिता* के चिकित्सास्थान में जठराग्नि का वर्णन प्राप्त होता है- अन्न को पचाने वाली जठराग्नि सभी अग्नियों में मुख्य स्वीकार की जाती है। इसकी वृद्धि अथवा क्षय होने पर अन्य अग्नियों की भी वृद्धि अथवा क्षय हो जाता है। *चरकसंहिता* में विवेचित है कि-

"अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मतः। तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः"॥[251]

अतः शरीर को स्वस्थ रखने के लिए जठराग्नि को सम रखना आवश्यक है। अन्य तीनों अग्नियाँ विकारों में वृद्धि करती हैं तथा इसी अग्नि पर भूताग्नि एवं धात्वग्नियाँ निर्भर हैं।

---

[250] अग्निषु तु शारीरेषु चतुर्विधो विशेषो बलभेदेन भवति। तद्यथा-तीक्ष्णो, मन्दः, समो विषमश्च इति। तत्र तीक्ष्णोऽग्निः सर्वापचारसहः, तद्विपरीतलक्षणस्तु मन्दः, समस्तु खल्वपचारतो विकृतिमापद्यतेऽनपचारस्तु प्रकृताववतिष्ठते, समलक्षणविपरीतलक्षणस्तु विषम इति। एते चतुर्विधा भवन्त्यग्न्यः। *च०सं०,चि०* 6/12

[251] *च०सं०,चि०* 15/39

ग. भूताग्नि :- जो जठराग्नि से पचन के उपरान्त आहार के महाभूत अंशों में विजातीय द्रव्यों का पाचन करके उन्हें सजातीय बनाती है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में पञ्च भूताग्नियों का वर्णन किया गया है। *चरकसंहिता* में पञ्चभूताग्नियों का विस्तृत वर्णन करते हुए कहा गया है कि पार्थिवाग्नि, आप्याग्नि, तैजसाग्नि, वायव्याग्नि एवं आकाशाग्नि यें पाँच भूताग्नियाँ है। जो पाञ्चभौतिक आहार में अपने-अपने गुणों का पाचन करती है, न कि द्रव्यों का। जबकि द्रव्य का पाचन जठर अग्नि द्वारा होता है अर्थात् पार्थिवाग्नि पार्थिव गुण का, आप्याग्नि आप्य गुण का, तैजसाग्नि तैजस गुण का, वायव्याग्नि वायव्य गुण का एवं आकाशाग्नि आकाशीय गुणों का पाचन कर तत्तत् महाभूतों के विजातीय गुणों को शरीर में महाभूतों के गुणों से सजातीय बना देती है।[252] इस प्रकार पञ्च भूताग्नि अपने गुणों का पाचन जठराग्नि द्वारा करती है।

घ. धात्वग्नि :- जो शरीर में पाचकांश के रूप में धातुओं में रहकर जीवरासायनिक क्रिया करती है और धातु, उपधातु एवं धातुमलों की उत्पत्ति करती है। आयुर्वेदीय संहिताओं में सप्त धात्वग्नियों का उल्लेख प्राप्त होता है- रसाग्नि, रक्ताग्नि, मांसाग्नि, मेदोऽग्नि, अस्थ्यग्नि, मज्जाग्नि एवं शुक्राग्नि। ये सभी अग्नियाँ अन्नरस पर पाचन क्रिया से पाचन कर उन्हें प्रसादांश एवं किट्ट में विभक्त करती हैं। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि-

"सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः। यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत्"॥[253]

सभी धातुओं में पाचकांश के रूप में धात्वग्नि विद्यमान रहती है, जिसमें धातु का पाचन होकर किट्ट एवं प्रसादांश रूप निर्मित होता है। इन पाचकांशों के मन्द और तीक्ष्ण होने पर धातुओं की भी वृद्धि एवं क्षय होता है। वाग्भट ने धात्वग्नि का विवेचन करते हुए कहा है कि-

"ये पाचकांशा धातुस्थातेषां मान्द्यातितैक्ष्ण्यतः। वृद्धिः क्षयश्च धातूनां जायते शृणु चापरम्"॥[254]

---

[252] भौमाग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः। पञ्चाहारगुणान्स्वान्स्वान् पार्थिवादीन्पचन्तिहि॥
यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्। पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः॥ *च०सं०,चि०* 15/13-14

[253] *च०सं०,चि०* 15/15

[254] *अ०सं०,सू०* 19/16

जठराग्नि सभी आहार द्रव्यों के रस, मल एवं विपाक का पाचन करती है तथा भूताग्नियाँ आहार द्रव्यों में विद्यमान पार्थिवादि गुणों का पचन करती है। धात्वग्नि जठराग्नि द्वारा पाचित अन्नरस पर कार्य करके प्रसादांश एवं किट्टांश का निर्माण कर धातुओं की उत्पत्ति एवं वृद्धि करती है।

3.1.8 पित्तदोष के भेद :- आयुर्वेदीय संहिताओं में प्रत्येक दोष के पाँच भेद स्वीकार किए गए हैं। यदि पित्तदोष के भेदों की चर्चा करें, तो बृहत्त्रयी में सुश्रुत एवं वाग्भट ने ही पित्तदोष के भेद स्वीकार किए हैं। चरक ने तो पित्तदोष के सामान्य गुणों को मारीच के वचनों के रूप में उद्धृत किया है। उस पर चक्रपाणि का कथन प्राप्त होता है कि कुपित-अकुपित अवस्था के पक्ति, अपक्ति पाचक पित्त के, दर्शन-अदर्शन आलोचक पित्त के, ऊष्मणो मात्रमात्रत्व वर्ण भेद भ्राजकपित्त के, भय-शौर्यादि साधक पित्त के एवं रञ्जकपित्त के कार्य बाह्य इन्द्रिय द्वारा स्पष्ट नहीं होने के कारण उसका उदाहरण नहीं दिया जा सकता है।[255]

पित्तदोष के स्थान एवं कर्म भेद से पाँच प्रकार आयुर्वेदीय ग्रन्थों में किए गए हैं। *सुश्रुतसंहिता* में पित्तदोष के भेदों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि **"रागपक्त्योर्तेजोमेधोष्मकृत् पित्तं पञ्चधा प्रविभक्तम् अग्निकर्माणाऽनुग्रहं करोति"।**[256] अर्थात् रस का राग करने वाला रञ्जक, पचन करने वाला पाचक, दृष्टि उत्पन्न करने वाला आलोचक, मेधा उत्पन्न करने वाला साधक एवं ऊष्मा उत्पन्न करने वाला भ्राजक पित्त होता है। यें पाँच प्रकार के पित्त विभक्त होकर अग्निकर्म द्वारा शरीर का अनुग्रह करते हैं। *अष्टाङ्गसंग्रह* एवं *शाङ्गर्धरसंहिता* में पित्तदोष के इन्हीं पाँच भेदों[257] का वर्णन किया गया है। पित्तदोष के पाँचों भेदों का विवेचन निम्नोक्त प्रकार से किया गया है-

---

[255] *च०सं०,सू०* 12/11

[256] *सु०सं०,सू०* 15/2

[257] पाचकरञ्जकसाधकालोचकभ्राजकत्वभेदैः पित्तम्। *अ०सं०,सू०* 20/5

पाचकं भ्राजकं चैव रञ्जकालोचके तथा। साधकं चेति पञ्चैव पित्तनामान्यनुक्रमात्॥ शा०,पू० 5/32

क. पाचक पित्त :- इसके भेदों में पाचक पित्त प्रमुखरूप से स्वीकार किया गया है। इसका सम्बन्ध आहार द्रव्यों के पाचन से है। आहार द्रव्यों का पाचन पाचकपित्त एवं जठराग्नि के द्वारा होता है। दोनों का स्थान एक ही आमपक्वाशय के मध्य है और दोनों ही समान वात के द्वारा उत्तेजित किए जाते हैं। सुश्रुत ने पाचक पित्त को पाचकाग्नि की संज्ञा दी है। *सुश्रुतसंहिता* में पाचकपित्त का विवेचन करते हुए कहा गया है कि यह पित्त आमाशय और पक्वाशय के मध्य में विद्यमान होता है। इसका कार्यक्षेत्र मुख्यरूप से पित्तधराकला अथवा ग्रहणी है। यह अदृष्ट कारण से एवं विशिष्ट प्रक्रिया से चतुर्विध आहार द्रव्यों का पचन करता है। यह रस, मूत्र एवं पुरीष को अलग-अलग करता है। यह पित्त अपनी आत्मशक्ति से अग्निकर्म द्वारा शरीर के शेष पित्त स्थानों पर अनुग्रह करता है अर्थात् अग्निकर्म द्वारा शेष पित्त स्थानों की क्रियाशक्ति को सामर्थ्य प्रदान करता है। अग्नि के समान कार्यों से अन्नरस का पचन करने के कारण, इसे पाचकाग्नि की संज्ञा प्रदान की गई है।[258] पाचकपित्त का वाग्भट ने *अष्टाङ्गसंग्रह* एवं *अष्टाङ्गहृदय* में विस्तृतरूप से विवेचन किया है। *अष्टाङ्गहृदय* के अनुसार यह पित्त पाञ्चभौतिक है और आमपक्वाशयमध्य में विद्यमान होता है। यह पित्त पाञ्चभौतिक होते हुए भी तैजस् गुण के आधिक्य से कार्य करते समय, यह द्रवता का त्याग करके पचनादि कर्म करने से अग्नि शब्द से सम्बोधित किया जाता है। पाचक पित्त अन्न का पचन करके प्रसाद एवं किट्ट भाग में विभक्त करता है और शेष पित्तदोष के स्थानों पर अपने स्थान से ही अनुग्रह करते हुए उनके कार्यों को बल प्रदान करता है-

"पित्तं पञ्चात्मकं तत्र पक्वामाशयमध्यगम्। पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात्॥
त्यक्तद्रवत्वं पाकादिकर्मणाऽनलशब्दितम्। पचत्यत्रं विभजते सारकिट्टौ पृथक् तथा॥
तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम्। करोति बलदानेन पाचकं नाम तस्मृतम्"॥[259]

---

[258] तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि। तत्रस्थमेव चात्म्यशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्थ चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति। तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा। *सु०सं०,सू०* 21/10

[259] *अ०हृ०,सू०* 12/10-12

अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार पाचकपित्त आमाशय एवं पक्वाशय के मध्य में रहता है। यह संगठन की दृष्टि से पाञ्चभौतिक होते हुए भी इसमें तैजस् महाभूत की अधिकता होती है। इससे पाचक पित्त का सौम्य गुण समाप्त हो जाता है। यह पित्त द्रव होते हुए भी क्रियाशक्ति में द्रवता को त्यागकर तेजोत्कर्ष से कार्य करता है। इसके द्वारा दहन, पचन आदि क्रिया होती है और इन क्रियाओं में समान वात एवं क्लेदक कफ सहकारी कारणों का कार्य करता है। इसलिए इसे दहन-पचन क्रियाओं को करने के कारण अग्नि संज्ञा दी गई है। यह अन्न द्रव्यों का पचन करता है और अपने स्थान पर विद्यमान होकर शेष पित्त स्थानों पर भी अनुग्रह करता है। इसलिए इसे पाचक पित्त की संज्ञा दी गई है।[260] वस्तुतः इसका प्रमुख कार्य आहार द्रव्यों का पाचन करना है।

ख.पित्तधरा कला :- भोज्य पदार्थों को पाचित करने वाले पित्त को पाचक पित्त की संज्ञा दी गई है। इसके अंश दोष, धातु एवं मलों में प्रवेश करके तत्तत् द्रव्यों के पचन में भाग लेने के कारण पाचकपित्त के ऊष्मा के अंश स्वीकार किए गए हैं। पाचक पित्त और उसकी ऊष्मा का अधिष्ठान होने के कारण और अन्न को ग्रहण करने के कारण इसे 'ग्रहणी' कहा जाता है। इसे धन्वन्तरि सम्प्रदाय में पित्तधरा कला कहते हैं। पित्तधरा कला पक्वाशय के ऊपरी द्वार पर अर्गला के समान विद्यमान है और अन्नवह नाड़ी में पक्वाशय के ऊपर सर्वत्र विद्यमान रहती है। यह भोज्य पदार्थों का पचन कर आयु, आरोग्य एवं वीर्यरूपी क्रियाशक्ति को धारण करना तथा ओज, भूताग्नि एवं धात्वग्नि का भी पोषण करती है। यह आमाशय में आहार द्रव्यों को कुछ समय तक रोककर उनका पाचन करती है और नीचे पक्वाशय में ले जाती है। बलयुक्त अग्नि होने पर अन्न का पूर्ण पाचन होता है और दुर्बल अग्नि होने पर अपक्व अन्न बिना पाचित हुए नीचे ले जाता है। ग्रहणी का बल अग्नि है, इस कारण बलस्वरूप ग्रहणीबल के दूषित होने पर ग्रहणी से सम्बन्धित विकार उत्पन्न हो जाते हैं।[261]

---

[260] तत्र यदामाशयपक्वाशयमध्यस्थं पञ्चमहाभूतात्मकत्वेऽपि तेजोगुणोत्कर्षात् क्षपितसोमगुणं ततश्च त्यक्तद्रवस्वभावं सहकारिकारणैर्वायुयुक्लेदादिभिरनुग्रहाद् दहनपचनादिक्रिया लब्धाग्निशब्दं पित्तमन्नं पचति सारकिट्टौ विभजति शेषाणि च पित्तस्थानानि तत्रस्थमेवानुगृह्णाति तत्पाचकमुच्यते। *अ०सं०,सू०* 20/5

[261] अन्नस्य पक्ता पित्तं तु पाचकाख्यं पुरेरितम्। दोषधातुमलादीनामूष्मेत्यात्रेयशासनम्॥

इस प्रकार पित्तधरा जब तक सम्यक् रूप से कार्य करती है, तब तक मनुष्य स्वस्थ रहता है और पित्तधरा कला के विकृत हो जाने पर मनुष्य ग्रहणी रोग से ग्रस्त हो जाता है। इसलिए पित्तधरा का स्वस्थ रखना बहुत आवश्यक है।

ग.पाचक पित्त के कार्य :- आयुर्वेदीय संहिताओं में पाचक पित्त के तीन प्रमुख कार्यों का वर्णन किया गया है- पचन कार्य, सार-किट्ट भाग को विभक्त करना एवं पित्तदोष के अन्य स्थानों पर अनुग्रह करना।

१.पचन कार्य :- पाञ्चभौतिक आहार का अथवा पेय, लेह्य, भोज्य एवं भक्ष्य चतुर्विध अन्न का अपने तैजस् अंश से पचन करना।

२.सार-किट्ट को विभक्त करना :- पित्तधरा में विद्यमान पाचक पित्त अन्न द्रव्यों का पूर्ण पाचन करके उसे प्रसाद एवं किट्टांश भाग में विभाजित करता है। इस प्रकार आहार दोष, रस, मूत्र एवं पुरीष में विभक्त होता है।

३.पित्त स्थानों पर अनुग्रह :- इसके द्वारा पाचक पित्त अपने स्थान में विद्यमान रहकर ही शेष पित्त स्थानों पर अनुग्रह करता है एवं अन्य पित्त के भेदों को बल प्रदान करता है। पाचक पित्त के इस कार्य के कारण शरीरस्थ पित्त द्रव्य दहन से सम्बन्धित कार्यों एवं ऊष्मा उत्पादन को सम्यक् रूप से समादित करते हैं।

च. रञ्जक पित्त :- यह पित्तदोष का द्वितीय भेद है। जो पित्त यकृत् और प्लीहा में रहता है, इसका कार्य रस को राग-रक्तवर्ण प्रदान करना है। अतः इसे रञ्जक पित्त कहते हैं। सुश्रुत ने रंजक पित्त को रंजकाग्नि की संज्ञा दी है-

"यत्तु यकृत्प्लीहो पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा"।[262]

तदधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता। सैव धन्वन्तरिमते कला पित्तधराह्वया॥

आयुरायोग्यवीर्यौजोभूतधात्वग्निपुष्टये। स्थिता पक्वाशयद्वारि भुक्तमार्गाऽगलेव सा॥

भुक्तमामाशये रुद्ध्वा सा विपाच्य नयत्यधः। बलवत्यबला त्वन्नमाममेव विमुञ्चति॥

ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीबलः। दूषितेऽग्नावतो दुष्टा ग्रहणी रोगकारिणी॥ *अ०हृ०,शा०* 3/49-53

[262] *सु०सं०,सू०* 21/10

उसके यकृत्, प्लीहा में पहुँचने पर, वहाँ विद्यमान द्रव्यों द्वारा रस का रंजन होकर रक्त का निर्माण होता है। पित्त के तैजस् अंश से रंजन क्रिया होती है। *सुश्रुतसंहिता* में वर्णित है कि-

"स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य सममुपैति।

रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्। अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते"॥[263]

अर्थात् वह तरलरूप रस यकृत् और प्लीहा में पहुँचकर रक्त वर्ण का हो जाता है। प्राणियों के शरीर में विद्यमान यकृत् एवं प्लीहा में रञ्जक नामक तेज से विकार रहित तरल अन्नरस रंजित हो जाने पर रक्त कहलाता है। *चरकसंहिता* के अनुसार सम्पूर्ण रसधातु रक्त के रूप में परिणत नहीं होती, किन्तु रसधातु के तैजस् अंश पर पित्त की ऊष्मा से रंजन होता है। रस रंजन के पश्चात् रसधातु को रक्त की संज्ञा दी गई है। चरक के अनुसार रक्त में दो प्रकार के द्रव्य होते हैं। रसधातु एवं रसधातु का तैजस् अंश जो पित्तोष्मा अन्यरूप में परिवर्तित होता है।[264] वाग्भट ने आमाशयस्थ पित्त को रंजकपित्त स्वीकार किया है, जो रस का रंजन करता है। आमाशय से यहाँ नाभि एवं स्तन के मध्य की रचनारूप आमाशय के अधोभाग का ग्रहण किया जाता है, जिसमें आमाशय का अधोभाग एवं पच्यमानाशय का ऊर्ध्वभाग सम्मिलित है। *अष्टांगहृदय* में विवेचित है कि-

"आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं रसरञ्जनात्"।[265]

शाङ्र्गधर के अनुसार रसधातु समानवायु के द्वारा गति करके हृदय में प्रवेश करती है। हृदय में इस पर रंजन एवं पचन क्रिया होती है जिससे रसधातु रक्तरूप धारण कर लेती है।[266] आचार्यों ने रंजकपित्त का रक्ताग्नि, यकृत्, प्लीहा एवं आमाशय के साथ सम्बन्ध बताया है, जिनका विवेचन इस प्रकार है-

---

[263] *सु०सं०,सू०* 14/4-5

शोणितस्य स्थानं यकृत्प्लीहानौ, तच्च प्रागभिहितम्। *सु०सं०,सू०* 21/16

[264] तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते। पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति॥ *च०सं०,चि०* 15/28

[265] *अ०हृ०,सू०* 12/13 ; आमाशयस्थं तु रसस्य रञ्जनाद् रञ्जकम्। *अ०सं०,सू०* 20/5

[266] दृश्यं यकृति यत् पित्तं तद् रसं शोणितं नयेत्। *शा०सं०,पू०* 5/49

छ. रञ्जक पित्त एवं रक्ताग्नि :- सुश्रुत ने रंजक पित्त को ही रक्ताग्नि स्वीकार किया है, क्योंकि अग्नि एवं पित्त में कोई भेद नहीं है, जिसका समर्थन मारीचि ने अग्नि का पित्त की तरह कार्य करने से किया है। परन्तु डल्हण का स्पष्ट कथन है कि अग्नि एवं पित्त भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, चिकित्सा की दृष्टि से उनमें अभेद कथन स्वीकार किया गया है। दोनों में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। इस प्रकार रंजक पित्त और रक्ताग्नि पृथक्-पृथक् है। रक्ताग्नि रंजक पित्त की कार्यकारी शक्ति है।

ज. रञ्जक पित्त एवं यकृत् :- रञ्जक पित्त का स्थान यकृत्, प्लीहा, आमाशय एवं हृदय है। यह रस का रंजन कर रक्त का स्वरूप देता है। इसका कार्य एक प्रकार की रासायनिक प्रक्रिया है जो अग्निकर्म से होती है। रंजन कार्य के लिए रञ्जक द्रव्य पित्त का उद्भव होता है। यह पित्त शरीर में यकृत्, प्लीहा एवं आमाशय में निर्मित होता है। पाञ्चभौतिक आहारद्रव्यों के पचन से उत्पन्न अन्नरस रक्तनिर्माण के लिए आवश्यक आग्नेय द्रव्यों को प्रदान करता है। शरीर में आमाशय एवं यकृत् में रञ्जक पित्त का निर्माण होता है। रक्ताग्नि रञ्जक पित्त की सहायता से रासायनिक प्रक्रिया करके रक्त का विकास करती है।

झ. रञ्जक पित्त एवं प्लीहा :- आयुर्वेदज्ञों ने रञ्जक पित्त का दूसरा स्थान प्लीहा को स्वीकार किया है। प्लीहा के रक्त द्वारा सम्बन्धित निम्नोक्त कार्य होते हैं-

१.रक्त का निर्माण- गर्भावस्था में यह लाल रक्तकणों का निर्माण करती है। यह कार्य जन्मोत्तर काल में नहीं होता। इसका बिम्बाणु के उद्भव में कुछ हाथ होता है। प्लीहा के शल्यकर्म से बिम्बाणु की वृद्धि देखी जाती है।

२.रक्तकणों का नाश- रक्त के श्वेत एवं लाल कण जो जीर्ण एवं अनियमित हो जाते हैं, उन्हें प्लीहा के जालक अन्तःकलाकोष भक्षण करके समाप्त कर देते हैं।

३.रक्त का संचयागार- प्लीहा भी यकृत् के समान रक्त के संचयागार का कार्य करती है और यदि आवश्यकता पड़े तो 150 मिलीलीटर रक्त एक बार में परिसंचरण में भेजती है।

४.रक्तोत्पादक सामग्री का संचयागार- प्लीहा भी यकृत् के सदृश लौहतत्त्व का, जो कि हीमोग्लोबिन के विघटन से प्राप्त होता है, उसका संचय करता है।

ञ. रञ्जक पित्त एवं आमाशय :- वाग्भट ने रञ्जकपित्त का स्थान आमाशय को स्वीकार किया है। आमाशय से अधो आमाशय का ज्ञान होता है, जिसको वाग्भट ने पाचकपित्त एवं रञ्जकपित्त का प्रमुख स्थान प्लीहा एवं यकृत् के अतिरिक्त स्वीकार किया है। रञ्जक पित्त पाञ्चभौतिक अन्नरस पर कार्य करता है। अन्नरस के जठराग्निपाक होने पर एवं पित्तधराकला में शोषण के बाद उसमें उपलब्ध द्रव्य यकृत् में पहुँचते हैं और आमाशय तथा यकृत् में उपलब्ध रञ्जकपित्त द्रव्यों के द्वारा उसका राग होकर रक्त के रूप में परिवर्तित हो जाता है। रक्त के निर्माण के लिए रक्तमज्जा, जो उसका स्थान है तथा रक्तवहस्रोतस् के द्वारा रक्त का परिभ्रमण होता है। परन्तु उद्भव से सम्बन्धित द्रव्य रक्ताग्नि, रञ्जकपित्त एवं अन्नरस है। रक्ताग्नि अन्न में विद्यमान तैजस् अंश है, जो यकृत् से रञ्जकपित्त में मिलकर रक्तमज्जा में रक्त की निर्माण प्रक्रिया को उत्तेजित करता है। वाग्भट के अनुसार रञ्जकपित्त आमाशय के अधोभाग में स्रावित होता है, जिसमें आमाशय के मुद्रिका द्वार के पास का भाग एवं पच्यमानाशय के ऊर्ध्व का भाग आता है। *अष्टांगहृदय* में कहा गया है कि-

"आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं रसरञ्जनात्"।[267]

ट. साधक पित्त :- यह पित्तदोष का तृतीय भेद है। साधक पित्त का स्थान हृदय है। वहाँ स्थित होकर यह अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि करता है। *सुश्रुतसंहिता* में पित्तदोष के भेदों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि-

"यत् पित्त हृदयस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा। सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः"॥[268]

---

[267] *अ०हृ०, सू०* 12/13

[268] *सु०सं०, सू०* 21/10

अर्थात् हृदय में विद्यमान पित्त साधकाग्नि है। वह पित्त अभिलषित मनोरथ को पूर्ण करता है। *सुश्रुतसंहिता* के टीकाकार डल्हण ने **'अभिलषित मनोरथ'** के सम्बन्ध में इसे चतुर्विध पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाला स्वीकार किया है, क्योंकि साधक पित्त हृदय पर कफ एवं अन्धकार के आवरण को दूर करता है तथा हृदय को निर्मल एवं उदात्त बनाकर मन के कार्यों में प्रागुण्यता लाता है।

वाग्भट ने साधक पित्त का विवेचन करते हुए कहा है कि **"हृदयस्थं बुद्धिमेधाऽभिमानोत्साहैरभिप्रेतार्थसाधनात्साधकम्"।**[269] अर्थात् हृदय में विद्यमान साधक पित्त बुद्धि, मेधा, अभिमान एवं उत्साह द्वारा इच्छित अर्थ की सिद्धि करता है। टीकाकार इन्दु ने साधकपित्त को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह पित्त हृदय में विद्यमान बुद्धि आदि कारणों से अभिप्रेत अर्थ का ग्रहण, स्मरण आदि द्वारा सिद्ध करता है। *अष्टाङ्गहृदय*[270] में इसी अर्थ की पुष्टि करते हुए बुद्धि, मेधा, अभिमान आदि के द्वारा इच्छित प्रयोजनों को प्राप्त करते रहने के कारण हृदय में स्थित पित्त को साधक पित्त स्वीकार किया गया है। *शाङ्गर्धरसंहिता* में मेधा एवं प्रज्ञा प्रदान करने वाले हृदयस्थ पित्त को साधक पित्त कहा गया है। चरक ने यद्यपि साधक पित्त का स्वतन्त्र रूप से विवेचन नहीं किया गया है, फिर भी पित्त के कार्यों में शौर्य, भय, क्रोध, मोह, हर्ष, भय, प्रसाद आदि द्वन्द्वों को उत्पन्न करने वाला स्वीकार किया गया है। चक्रपाणि ने इन कार्यों का साधक पित्त द्वारा सम्पादित होना स्वीकार किया है। विद्वानों ने साधकपित्त का हृदय से सम्बन्ध बताया है, जिसका वर्णन इस प्रकार है-

ठ. साधक पित्त एवं हृदय :- आयुर्वेदीय संहिताओं के अन्तर्गत मर्म-त्रय में हृदय की गणना की गई है। इसे आत्मा एवं चित्त का स्थान भी स्वीकार करते हैं। शरीर में विद्यमान अनेक भावों शौर्य, भय, मोह, प्रसाद, क्रोध, हर्ष, बुद्धि, मेधा, अभिमान, उत्साह आदि का कारण हृदय को ही स्वीकार किया जाता है। आयुर्वेद में इनकी उत्पत्ति मस्तिष्क में स्वीकार की गई है, परन्तु इनका हृदय द्वारा ही प्रकाशन होता है।

---

269 *अ०सं०,सू०* 20/5

270 बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात्। साधकं हृद्गतं पित्तम्॥ *अ०हृ०,सू०* 12/13

चरकसंहिता के अनुसार षडङ्ग शरीर, विज्ञान, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, इन्द्रियों के पाँचों अर्थ, सगुण आत्मा, मन एवं मन के विषय हृदय में आश्रित रहते हैं। अर्थ का चिन्तन करने वाले विद्वज्जन घर में लगे आधारस्तम्भ को जिस प्रकार धर्म का खम्भा धारण करती है उसी प्रकार षडङ्ग शरीर आदि की प्रतिष्ठा के लिए हृदय को श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं। उस हृदय पर आघात से मूर्च्छा हो जाती है और उसके फटने पर मृत्यु हो जाती है, क्योंकि स्पर्श का ज्ञान, आयु-प्रमाण और शरीर सभी हृदय पर आश्रित हैं।[271] हृदय में सत्त्व, रज एवं तम महागुण एवं त्रिविधदोष भी रहते हैं। कफ में तमोगुण की बहुलता होने से हृदयस्थ भाव आवृत हो जाते हैं और हृदय भलीभाँति कार्य नहीं कर पाता। सत्त्व की बहुलता वाला साधक पित्त हृदयस्थ तम एवं कफ के आवरण को समाप्त कर देता है। तब हृदय द्वारा विवेकभाव ग्रहण कर, आत्मबोध, मनःप्रेरणा आदि विशिष्ट गुण प्रादुर्भूत होते हैं और अभिमान, उत्साह, मेधा, बुद्धि आदि द्वारा हृदय इच्छित अर्थ की सिद्धि करता है। कतिपय विद्वान् साधक पित्त के कर्मों को मानसिक भावों से सम्बन्धित होने के कारण, उसके कार्यों को मस्तिष्क द्वारा परिगणित होना स्वीकार करते हैं। हृदय साधक पित्त का स्थान होने से हृदय का अर्थ भी मस्तिष्क मान लेते हैं। यें साधक पित्त के कार्य मस्तिष्क द्वारा सम्पन्न मानते हैं।

ड. वक्षःस्थ हृदय ही साधक पित्त का स्थान- आयुर्वेद में वक्षःस्थ हृदय ही बुद्धि, मन एवं चेतना का स्थान स्वीकृत है। हृदय से निर्गत चेतनावह एवं मनोवह स्रोतसों द्वारा हृदय सम्पूर्ण देह में चैतन्य प्रदान करता है। साधक पित्त वक्षःस्थ हृदय में विद्यमान रहता है, जिससे बुद्धि, अभिमान, मेधा, उत्साह आदि प्रकाशित होकर अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि होती है।

---

[271] षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्। आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्॥
प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते। गोपानसीनामागारकर्णिकेवार्थचिन्तकैः॥
तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति। यद्धि तत् स्पर्शविज्ञानं धारि तत्तत्र संश्रितम्॥ *च०सं०, सू०* 30/4-6

त. आलोचक पित्त :- *सुश्रुतसंहिता* में इस पित्त को आलोचकाग्नि की संज्ञा दी गई है। इसका कार्य रूप ग्रहण करना है- **यद्दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन्नालोचकोऽग्नि इति संज्ञा, स रूपग्रहणाधिकृतः**।[272] वाग्भट[273] ने भी इसी कार्य को स्वीकार किया है। रूप का दर्शन कराने के कारण दृष्टि में विद्यमान इस पित्त को आलोचक की संज्ञा प्रदान की गई है। *अष्टाङ्गसंग्रह* के टीकाकार इन्दु का मंतव्य है कि नेत्रों में यह पित्त दृष्टिपटल में स्थित रहता है। इस पित्त के अधीन ही नेत्रों के रूपग्रहण करने की शक्ति है। यह पित्त आलोचन शक्ति का आधार है, अतः आलोचक कहलाता है।

शाङ्र्गधर ने नेत्रयुगल में स्थित पित्त को आलोचक पित्त स्वीकार किया है, जो रूपदर्शन कराता है "**यत् पित्तं नेत्रयुगले रूपदर्शनकारि तत्**"॥[274] चरक ने इस पित्त का स्वतन्त्र निर्देश नहीं किया है। पित्त के कार्यों में देखना, न देखना कहा है, जो चक्रपाणि के अनुसार आलोचक पित्त के ही कार्य स्वीकृत हैं। भेल ने अपने ग्रन्थ में आलोचक पित्त का अन्य प्रकार से वर्णन किया है। उनके अनुसार आलोचक वर्षा, शरद एवं सूर्य की ऊष्मा से वृद्धि को प्राप्त करता है।[275] यह दो प्रकार का है- चक्षुःवैशेषिक तथा बुद्धिवैशेषिक।

१. चक्षुःवैशेषिक- यह दृष्टि से सम्बन्धित है। यह पित्त नेत्र में तारे के पृष्ठ भाग में विद्यमान रहता है। इससे स्वेदज, अण्डज, उद्भिज एवं जरायुज चारों प्रकार के प्राणियों के लक्षण, स्वरूप, संस्थान एवं रंग का ज्ञान नेत्रों द्वारा होता है। जिस प्रकार पुष्प, फल एवं पत्तों के लक्षण, संस्थान, स्वरूप एवं रंग का ज्ञान चक्षु द्वारा होता है उसी प्रकार यह पित्त चक्षुरिन्द्रिय से वर्णादि का ज्ञान प्राप्त कराता है।

---

[272] *सु०सं०,सू०* 21/10

[273] दृष्टिस्थं रूपालोचनादालोचकम्। *अ०सं०,सू०* 20/5
रुपालोचनतः स्मृतम्म् दृक्स्थमालोचकम्। *अ०हृ०,सू०* 12/14

[274] *शा०सं०,पू०* 5/50

[275] तत्र आलोचको नाम वर्षाशीतातपप्रवृद्धः। *भे०सं०,शा०* 4/5

सर्वप्रथम ज्ञान प्राप्ति के लिए मन एवं आत्मा का सन्निकर्ष होना चाहिए, तत्पश्चात् उस अर्थ का आत्ममन सन्निकर्ष के उपरान्त चित्त में विवेचना होनी चाहिए, उसके बाद ही चक्षुरिन्द्रिय द्वारा यह पित्त वस्तु के लक्षण, संस्थान, वर्ण एवं स्वरूप का ज्ञान कराता है।[276]

२. बुद्धिवैशेषिक- यह दोनों नेत्रों के भ्रू के मध्य शृंगाटक रूप में विद्यमान रहता है। यह सूक्ष्म अर्थों को ग्रहण कर धारण करता है तथा धारण करके पुनः स्मृतिरूप में धारण अर्थ का स्मरण कराता है। इस पित्त में पहले देखे गए रूप की धारणा कर स्मृति के रूप में पुनः जागृत करता है। इसलिए इसे मनोदृष्टि कह सकते हैं।[277] इनके मत में चक्षु:वैशेषिक पित्त आलोचक पित्त के सदृश है, किन्तु बुद्धिवैशेषिक पित्त देखे गए रूप की धारणा कर स्मृति के रूप में पुनः जाग्रत कराता है।

थ. आलोचक पित्त एवं नेत्रेन्द्रिय :- किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम आत्मा अभिप्रेत होती है। तदुपरान्त वस्तु का इन्द्रिय से सन्निकर्ष होता है ; इससे इन्द्रियार्थ वस्तु की चक्षु में आकार की प्रतीति होती है। इससे पदार्थ का प्रतिबिम्ब दृष्टिपटल पर पड़ने से वस्तु का आकार बन जाता है। चक्षु में वस्तु की तदाकार प्रतीति एक रासायनिक प्रक्रिया है, जिसका विवेचन न्यायदर्शन ने सर्वप्रथम किया है। रासायनिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप पदार्थ का ज्ञान मस्तिष्क के दृष्टिकेन्द्र में जाता है, जहाँ वस्तु के लक्षण, स्वरूप, आकृति एवं रंग का ज्ञान होता है। चक्षुगुहा में तीन स्तर होते हैं- श्वेत पटल, रंजित पटल एवं दृष्टि पटल।

दृष्टि पटल बारह स्तरों से निर्मित है, जिसमें तन्त्रिका कोषों के तीन स्तर है- गण्डिका कोष, द्विध्रुवीय कोष तथा प्रकाश संवेदी आलोचक पित्त। गण्डिका कोष एवं द्विध्रुवीय कोष से प्रकाश किरणें आलोचक स्तर में पहुँचती है। शंकुकोष प्रकाश से सर्वाधिक स्पष्ट प्रतिबिम्ब बनाता है।

---

[276] तत्र चक्षुर्वैशेषिको नाम य आत्ममनसोस्सन्निकर्षज्ञानमुदीरयित्वा चित्ते चित्तमप्याध्याय संस्वेदजाण्डजोद्भिज्जरायुजानां चतुर्णां भूतग्रामाणां लक्षणसंस्थानरूपवर्णस्वरैरुन्नावचानां पुष्पफलपत्राणां रूपनिवृत्त्यर्थमेकैकं दौ पात्रयोः सर्वेषां वा युगपत्प्रणिपतितानां चक्षुषा वैषम्यमुत्पादयतीति। *भे०सं०,शा०* 4/5

[277] बुद्धिर्वैशेषिको नाम यो भ्रुवोर्मध्ये शृङ्गाटकस्थः सुसूक्ष्मानर्थान् आत्मकृतान् गृह्णाति, गृहीतं धारयति, धारितं प्रत्युदाहरति, अतीतं स्मरति, प्रत्युत्पन्नं कृत्वाऽनागतं प्रार्थयति, जातमात्रश्च पुनरुपदिष्टस्वभावं मातुस्तन्यमभिलषति, ध्याने प्रत्याहारे योजनाच्च बुद्धिवैशेष्यमुत्पादयति। *भे०सं०,शा०* 4/5

जिस प्रकार दृष्टिनाड़ी के बगल में फोबिया होता है, क्योंकि यहाँ प्रमुख रूप से शंकु कोष प्राप्त होते हैं। इसको तीक्ष्ण दृष्टि भी कहा जाता है तथा यही रंगों का ज्ञान करवाता है। किनारे की ओर शंकु कोषों की संख्या से शलाका कोषों की संख्या बढ़ती जाती है। शलाका कोषों की अधिकता के कारण गोधूलि प्रकाश दृष्टि होती है। रेटिना पर शंकु कोष 70 लाख एवं शलाका कोष 1250 लाख प्राप्त होते हैं। गण्डिका कोष प्रकाश का संग्रहण नहीं करते। इसलिए दृष्टिनाड़ी के प्रवेश स्थल पर प्रकाश संवेदी कोष न होने पर वह अन्ध बिन्दु कहलाता है। आलोचक पित्त अपनी अग्नि द्वारा विरंजन एवं संश्लिष्ट रासायनिक प्रक्रिया करके वस्तु का रूपदर्शन द्वारा ज्ञान कराते हैं। यह कार्य शलाका एवं शंकु कोशों द्वारा सम्पन्न होता है, जिसे आलोचक पित्त कहा जा सकता है।

प. भ्राजक पित्त :- पित्तदोष के भेदों में अन्तिम भेद भ्राजक पित्त है। यह पित्त त्वचा में विद्यमान होता है। इसका कार्य अभ्यङ्ग, स्वेदन, स्नान, लेपन आदि क्रियाओं में प्रयुक्त द्रव्यों को पकाना अर्थात् उन्हें शरीर के अनुरूप रूपान्तर करके शरीर में पहुँचाना, त्वचा को कान्ति प्रदान करना तथा शरीर की ऊष्मा का नियमन करना है। *सुश्रुतसंहिता* में भ्राजक पित्त को भ्राजकाग्नि नामक संज्ञा प्रदान की गई है-

"यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्नि इति संज्ञा"।[278]

सुश्रुतसंहिता के अनुसार यह पित्त मालिश, सिंचन, स्नान, अवलेपन आदि क्रियाओं द्वारा प्रयुक्त द्रव्यों का पचन करता है एवं यह पाँच प्रकार की छाया को प्रकाशित करता है- **"सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता छायानां च प्रकाशकः"॥**[279] वाग्भट ने भी इस पित्त को त्वचा में विद्यमान स्वीकार किया है। त्वचा को भ्राजित करने के कारण इसे भ्राजक पित्त कहा गया है।

---

[278] *सु॰सं॰, सू॰* 21/10

[279] *सु॰सं॰, सू॰* 21/10

यह अभ्यंग, परिषेक, आलेप आदि क्रियाओं में प्रयुक्त द्रव्यों का त्वचा से शोषण कर पचन करता है और पञ्चविध छाया का प्रकाशन करता है।[280] *अष्टाङ्गहृदय* के टीकाकार इन्दु का मत है कि शरीर अपक्व द्रव्यों को आत्मसात् नहीं कर पाता और उन द्रव्यों का पचन न होने के कारण शरीर में कार्य भी नहीं कर सकते हैं। लोक में अभ्यङ्ग, परिषेक, अवगाहन आदि क्रियाओं में प्रयुक्त द्रव्यों द्वारा त्वचा में राग एवं कठिनता आदि का नाश हो जाता है। त्वचा द्वारा शोषित होने वाले इन द्रव्यों का भ्राजक पित्त द्वारा पचन होता है। यह पित्त पञ्चविध छाया एवं त्वचा की कान्ति को उद्घाटित करता है। *शाङ्गर्धरसंहिता* में लेप, अभ्यंगादि द्वारा प्रयुक्त द्रव्यों का पचन एवं त्वचा को कान्ति देने वाले को भ्राजक पित्त कहा गया है- **त्वचि कान्तिकरं ज्ञेयं लेपाभ्याङ्गादिपाचकम्।**[281] *भेलसंहिता* में भ्राजकपित्त को अधिक स्पष्टरूप से वर्णन किया गया है जो सिर, हाथ, पांव, पार्श्वपृष्ठ, पेट, जंघा, नाखून एवं बालों में प्रतिभा विशेष उत्पन्न करता है अर्थात् कान्ति उत्पन्न करता है, वह भ्राजक पित्त कहलाता है।[282] इसकी पंचविध छाया बताई गई है, जिनका वर्णन इस प्रकार उद्घाटित होती है-

फ. भ्राजकपित्त की पञ्चविध छाया :- आयुर्वेदज्ञों ने भ्राजक पित्त की पञ्चविध छायाओं का नामोल्लेख किया है। छाया के पाँच भेद ये हैं- नाभसी, वायवी, आग्नेयी, जलीय एवं पार्थिव। शरीर के वर्ण पर छाया छा जाती है तथा समीप से दिखाई देती है।

- **नाभसी छाया स्वच्छ, स्निग्ध एवं चमकदार होती है।**
- **वायवीय रूखी, हल्की बैंगनी रंग की एवं प्रभारहित अर्थात् कान्तिविहीन होती है।**
- **आग्नेयी चमकदार, लाल-गुलाबी एवं सुन्दर होती है।**
- **आप्य छाया चिकनी, स्वच्छ एवं पारदर्शक होती है।**

---

280 त्वकस्थं त्वचो भ्राजनाद् भ्राजकम्। तदभ्यङ्गपरिषेकालेपादीन् पाचयति छायाश्च प्रकाशयति। *अ०सं०,सू०* 20/5
त्वकस्थं भ्राजकं भ्राजनात् त्वचः। *अ०हृ०,सू०* 12/14

281 *शा०सं०,पू०* 5/49

282 तत्र भ्राजको नाम यो यस्य शरीरं लक्षणं चोपगमयति, प्राधान्यं प्रदर्शयति, शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरजङ्घाभ्यनखनयनकेशानां च प्रतिभावृद्धिविशेषान् उत्पादयति, भ्राजयतीति भ्राजकः। *भे०सं०,शा०* 4/6

- **पार्थिव छाया स्निग्ध, चमकदार, सफेद तथा काले रंग की होती है।**

सुश्रुतसंहिता के टीकाकार डल्हण ने भ्राजकपित्त को त्वचा के स्तरों में अवभासिनी स्तर[283] में स्वीकृत किया है, जिसे चरक ने उदकधरा नाम से स्वीकार किया है। चरक ने प्रभा के वर्ण को उद्घाटित करने वाला एवं दूर से त्वचा को दीप्त करने वाला कहा है। प्रभा के सात प्रकार हैं- रक्ता, पीता, श्यामा, हरित, श्वेत, कृष्ण एवं पाण्डुर। प्रभा त्वचा में रक्तसंचरण की मात्रा एवं वर्ण पर निर्भर करती है।

ब. भ्राजक पित्त के कर्म :- आयुर्वेदीय संहिताकारों द्वारा भ्राजकपित्त के व्यक्त विवेचन को दृष्टिगत रखने पर निम्नोक्त कार्य संकलित होते हैं-

- ❖ शरीर की कान्ति का उद्घाटन- यह पित्त त्वचा में विद्यमान रहता है और त्वचा में ही कार्य करता है।
- ❖ द्रव्यों का शोषण एवं पचन- त्वचा द्वारा अभ्यङ्ग, लेप, परिषेक, अवगाहन आदि क्रियाओं में प्रयुक्त द्रव्यों का शोषण एवं पाचन करना। इसी कारण औषधी सिद्ध कषाय, दुग्ध आदि से भरे घड़े आदि पर बैठाने से, उन औषधियों का शरीर में अन्तःप्रवेश होता है। त्वचा मृदु एवं काठिन्यादि दोषों को अलग-अलग कर देती है।
- ❖ शरीर के तापक्रम को स्थिर रखना- चक्रपाणि के अनुसार शरीर की ऊष्मा को नियन्त्रित रखना भ्राजक पित्त का ही कार्य है। ऊष्मा की उत्पत्ति आहार द्रव्यों में एक ग्राम कार्बोज से 4.2 किलौरी, प्रोटीन से 4.2 किलौरी और वसा से 9.4 किलौरी ऊर्जा का प्रादुर्भाव होता है, जिसका उपयोग कर मनुष्य विभिन्न कार्यों को करने में समर्थ होता है।
- ❖ शरीर का प्राकृत वर्ण- शरीर का प्राकृत वर्ण त्वचा में स्थित भ्राजकपित्त के अग्निकर्म से उत्पन्न रंजक द्रव्यों से होता है। ये रंजक द्रव्य मेलेनिन, मेलेनाइड, केरोटीन और ऑक्सीहीमोग्लोबिन हैं।

---

[283] त्वचीति अवभासिनीनामधेयायां बाह्यात्वचीत्यर्थः। *सु०सं०, सू०* 21/10 पर *निबन्धसंग्रहटीका*, पृ० 71

❖ शरीर की मृदुता, कान्ति, प्रभा एवं छाया- ये सभी कार्य त्वचागत अग्निकर्म के ही परिणाम हैं। अग्निकर्म द्वारा त्वचा में भास्वर-शुक्लता उत्पन्न होकर चमक आती है। मनुष्य की त्वचा में विद्यमान स्वेद एवं त्वग्वसीय ग्रन्थियों से उत्पन्न स्वेद एवं त्वक् वसा त्वचा का स्नेहन कर मृदु एवं कान्ति युक्त बन जाती है।

3.1.9 पित्तदोष के विकार :- पित्तदोष साम्यावस्था में शरीर को स्वस्थ रखता है। उसके अग्निकर्म से शरीर में स्वस्थ रासायनिक प्रक्रिया चलती रहती है। स्वस्थ मनुष्य में पित्त द्रव्य साम्यावस्था में रहता है। जब पित्त विकृत हो जाता है, तब शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं ; उन्हें ही पैत्तिक विकार कहते हैं। *चरकसंहिता* में पित्त के विकृत होने पर शरीर में अनेक प्रकार की अशुभ भावों का प्रादुर्भाव बताया गया है- सम्पूर्ण शरीर में जलन एवं स्वेद, अग्नि के ताप से झुलसने जैसी स्वेदहीन जलन, पूरे शरीर में सन्ताप, आँखों में दाह, मुख में धुआँ निकलने जैसा अनुभव होना, वक्षःस्थल में पीड़ा और जलन के साथ खट्टी डकार, हाथ-पैर आदि में जलन, उदर आदि में दाह, असंफलक में दाह, शरीर का तापमान बढ़ जाना, अधिक पसीना आना, अंगों से गन्ध निकलना, शरीर के किसी अंग का फटना, रक्त में पतलापन, कालापन या दुर्गन्ध युक्त होना, मांस का सड़ जाना, त्वग्दाह, त्वगवदरण, चर्मावदरण, शरीर में चकत्ते निकलना, शरीर में लाल फफोले पड़ना, रक्तपित्त, रक्तवर्ण के गोल चकत्ते निकलना, नाखूनादि में हरापन आना, नेत्र-मुख-मूत्र आदि का हरित वर्णयुक्त होना, शरीर में नीले वर्ण के दाग होना, कक्षा-कामला-मुख का तीता होना, मुख से रक्त की गन्ध निकलना, मुख से दुर्गन्ध निकलना, अधिक प्यास लगना, अतृप्ति, मुखविपाक, गलपाक, अक्षिपाक, गुदपाक, मूत्रेन्द्रिय का पक जाना, शुद्ध रक्त का निकलना, तमः प्रवेश, नेत्र-मूत्र और पुरीष का हरे वर्ण का पीले वर्ण में परिवर्तित होना।[284] इस प्रकार पित्तदोष के वैकृत होने पर चालीस पित्तविकार उत्पन्न हो जाते हैं।

---

[284] पित्तविकारांश्चत्वारिंशतमत ऊर्ध्वमनुव्याख्यास्यामः ; तमद्या-ओषश्च, प्लोषश्च, दाहश्च, दवथुश्च इति चत्वारिंशत् पित्तविकाराः पित्तविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः। *च०सं०,सू* 20/14

पित्तदोष सत्वगुण प्रधान है और रजोगुण के सम्पर्क में रहकर ही कर्म करता है। जब उसमें तमोगुण प्रवेश होता है, तो वह पित्त के सत्त्वगुण को आच्छादित कर विभिन्न विकारों को उत्पन्न करने लगता है। वाग्भट ने *अष्टाङ्गहृदय* में पित्तविकार के लक्षणों का वर्णन करते हुए स्वेद, दाह, लालिमा, उष्णता का अनुभव, पकना या पकाना, सड़न, स्राव, दुर्गन्धित सड़न, अवसाद, मूर्च्छा, मद, मुख कड़वा तथा अम्ल रस का अनुभव होना तथा पीला एवं लाल वर्ण छोड़कर शरीर का अन्य वर्ण का होना स्वीकार किया है।[285] इस प्रकार सभी आचार्यों ने पित्तदोष के विकृत होने पर अनेक विकार बताए हैं। इन पित्तज विकारों का स्वरूप रूग्णावस्था में दिखाई देता है, जिन्हें वैद्य देखकर उपचार करता है।

3.1.10 पित्तजविकारों का स्वरूप :- शरीर में कहीं भी पित्त की विकृति होने एवं पित्तविकार उत्पन्न होने पर पित्त के निजस्वरूप ही उत्पन्न होते हैं। इन लक्षणों को देखकर पित्तजविकार का निश्चय किया जाता है। पित्त दोष के इन आत्मलक्षणों में तीक्ष्णता, द्रवता, उष्णता, किञ्चित् स्निग्धता, शुक्ल एवं अतिरिक्त अन्य वर्ण, विस्रगन्ध, कटु एवं अम्ल रस और सरता है। ये लक्षण सभी पित्तविकारों में न्यूनाधिक प्रमाण में एकाङ्ग अथवा सर्वाङ्ग में प्राप्त होते हैं। सम्पूर्ण शरीर में विभिन्न स्थानों में प्राप्त ऊष्मा एवं अग्निकर्म पित्त द्वारा ही सम्पादित होते हैं।

क. साम एवं निराम पित्त :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में पित्त सामान्यतः दो प्रकार का पाया जाता है- सामपित्त एवं निरामपित्त। सामपित्त अम्लरसयुक्त, हरित अथवा ईषत् कृष्णवर्ण, दुर्गन्धयुक्त, घन एवं गुरुगुणयुक्त रूप में प्राप्त होता है। यह पित्त आमदोषयुक्त होने पर साम कहलाता है और अम्लोद्गार उत्पन्न करने वाला है। यह पित्त कण्ठ एवं हृदय में जलन उत्पन्न करने वाला है। निरामपित्त किञ्चित् ताम्र वर्ण अथवा पीत वर्ण का, अत्यधिक उष्ण तथा अस्थिर होता है। यह पित्त कटुरस युक्त होता है और भोजन में रुचि उत्पन्न करने वाला, अन्न का पचन करने वाला और बल उत्पन्न करने वाला होता है। सम्पूर्ण शरीर में पित्त परिभ्रमण करता है।

---

[285] पित्तस्य दाहरागोष्मपाकिताः। स्वेदः क्लेदः स्रुतिः कोथः सदनं मूर्च्छनं मदः।
कटुकाम्लौ रसौ वर्णः पाण्डुरारुणवर्जितः॥ *अ०हृ०, सू०* 12/51-52

सर्वशरीर के स्रोतस् इसके माध्यम हैं, जिनमें परिभ्रमण करते हुए प्रकुपित होता है, उस अवस्था में जिस स्थान के स्रोतस् विगुण हो जाते हैं, वहाँ प्रकुपित दोष के अवरोध से पित्तज व्याधि उत्पन्न हो जाती है।

3.1.11 पित्तदोष के प्रकोपक हेतु :- अग्नि सम्बन्धी कार्यों का प्रमुख कारण पित्तदोष है। पित्तदोष में वातावरण के प्रभाव के कारण परिवर्तन होते रहते हैं। सामान्यतः वर्षा ऋतु में पित्तदोष का संचय, शरद् ऋतु में पित्त का प्रकोप एवं हेमन्त ऋतु में पित्तदोष का प्रशमन होता है। इस दोष के संचय के कारणों का उल्लेख करते हुए सुश्रुत का कथन है कि काल के परिणमन से वर्षा ऋतु में औषधि एवं अन्न नूतन होने के कारण अल्पवीर्य होते हैं। पृथिवी के मल से पूर्ण होने से जल कलुषित रहता है। आकाश बादलों से आच्छादित होने से तथा पृथिवी वर्षा के जल से गीली होने के कारण एवं शीत तथा चपल वात से जठराग्नि के विनष्ट होने के कारण प्राणियों के शरीर में दूषित जल एवं अल्पवीर्य औषधियों से अन्न का सम्यक् पाक न होकर विदाह होता है। इसके कारण वर्षा ऋतु में पित्तदोष का संचय हो जाता है। पित्त के संचय के उपरान्त शरद् ऋतु में बादलों के कम होने तथा धरती की कीचड़ के शुष्क होने पर सूर्य की किरणों से पित्त विद्रुत होकर प्रकोप को प्राप्त हो जाता है और पित्तज रोगों का आविर्भाव होता है।[286] अतः वर्षा ऋतु में पित्तदोष का संचय होकर, शरद् ऋतु में प्रकोप हो जाता है, जिनका चित्रांकन निम्नोक्त प्रकार से किया गया है-

पित्तदोष[287] का संचय, प्रकोप एवं परिणाम

दोष	संचय ऋतु	प्रकोपक ऋतु	कारण	परिणाम
पित्त	वर्षर्तु	शरदर्तु	• औषधियाँ- वर्षा ऋतु में	पित्तज विकार

[286] तत्र वर्षास्वोषधस्तरुण्योऽल्पवीर्या आपश्चाप्रशान्ताः क्षितिमलप्रायाः, ता उपयुज्यमाना नभसि मेघावतते जलप्रक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां प्राणिनां शीतवातविष्टम्भिताग्नीनां विदह्यन्ते, विदाहात् पित्तसञ्चयमापादयन्ति ; स सञ्चयः शरदि प्रविरलमेघे वियत्युपशुष्यति पङ्केऽर्ककिरणप्रविलायितः पैत्तिकान् व्याधीञ्जनयति। *सु०सं०, सू०* 6/11

[287] *सु०सं०,* पृ० 51

			अल्पवीर्य। • जल-वर्षा ऋतु में दूषित। • प्राणि-क्लिन्नदेह, विष्टम्भिताग्नि।	

सुश्रुतसंहिता में पित्तदोष के प्रकोपक कारणों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि सूर्य की उष्णता ग्रीष्म ऋतु में अधिक होने के कारण पित्त प्रकुपित होता है। अन्य ऋतुओं में भी अस्वाभाविक उष्णता होने पर अथवा उष्ण आहार-विहार के अधिक सेवन करने से पित्तदोष का प्रकोप हो जाता है। पित्त का प्रकोप अहोरात्रि की दृष्टि से मध्याह्न में एवं अर्द्धरात्रि में, वय की दृष्टि से युवावस्था में तथा आहार की दृष्टि से उसकी अम्लपाक अवस्था में होता है।[288]

कभी-कभी पित्तदोष का संचय अपने स्थानों पर पित्त की वृद्धि से भी होता है। शीत से युक्त, तीक्ष्णता की अधिकता से युक्त द्रव्य पित्त का संचय करते हैं। यदि संचयावस्था में पित्तवृद्धि की चिकित्सा नहीं होती, तब वह वृद्धि को प्राप्त होकर प्रकोप अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। शरीर में पित्तदोष के विशिष्ट कारण भी होते हैं, जिनसे यह कुपित होता है। इनका वर्णन इस प्रकार है-

3.1.12 पित्तदोष के विशिष्ट प्रकोपक कारण :- सुश्रुत ने दोषों के प्रकोपक कारणों का विवेचन करते हुए कहा है कि पित्तदोष के विशिष्ट प्रकोपक कारणों में क्रोध, शोक, भय, श्रम, उपवास, विदग्ध आहार-विहार, मैथुन, कटु-अम्ल-लवण रसयुक्त आहारद्रव्यों का सेवन, उष्ण, लघु, दाहोत्पादक द्रव्यों का सेवन, सरसों, तिलतैल, हरीतक शाक, मछली, गोह, भेड़-बकरी के मांस का सेवन, मट्ठा, दही, कूर्चिका, मस्तु, विभिन्न मद्यपदार्थों के सेवन द्वारा, खट्टे फल इत्यादि हैं।

---

[288] तदुष्णैरुष्णकाले च घनान्ते च विशेषतः। मध्याह्ने चार्धरात्रे च जीर्यत्यन्ने च कुप्यति॥ *सु०सं०,सू०* 21/22
पित्तलस्यापि पित्तप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दौषौ ; तदस्य प्रकोपमापन्नं यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय। *च०सं०,वि०* 6/17

जिनका सेवन करने से पित्तदोष प्रकोप को प्राप्त होता है।[289] तीसटाचार्य ने पित्तदोष को बढ़ाने वाले कारणों में कड़वे एवं अम्ल रसयुक्त द्रव्यों का सेवन, तीष्ण द्रव्यों का अधिक प्रयोग करने के कारण, उष्ण, विभिन्न लवणों का सेवन, विदाही, क्रोधित होने से, उपवास करने से, धूप का सेवन, स्त्री-मैथुन करने से, दही, मादक पदार्थों से, अलसी, सिरका, अचार, काँजी, भोजन करने के उपरान्त तथा आहार के जीर्ण होने पर, ग्रीष्म एवं शरद् ऋतु में तथा मध्याह्न एवं अर्धरात्रि में पित्त दोष प्रकोपावस्था में होता है। इन प्रकुपित कारणों से शरीर में परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देता है।

3.1.14 पित्तप्रकोपक होने से शारीरिक परिवर्तन :- शरीर में पित्तदोष का प्रकोप संचयावस्था के उपरान्त होता है। इसलिए सर्वप्रथम शरीर में इस दोष की संचयावस्था को व्यक्त करना आवश्यक है- पित्तदोष के संचय होने पर नाखून-नेत्र, त्वचा आदि पीतवर्ण के दिखाई देते हैं। शरीर में पित्त प्रकुपित होने पर खट्टी डकार आना, अधिक प्यास लगना एवं देह में दाह होता है।[290] *चरकसंहिता* में प्रतिपादित है कि पित्तदोष अपने स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थानों में प्रसर हो जाने पर ओष अर्थात् जलती भट्टी के पास बैठने के सामान जलन, चोष अर्थात् चूसने की सी दाह युक्त पीड़ा, सम्पूर्ण शरीर में जलन एवं धुएँ से युक्त डकार प्रारम्भ हो जाती है। जो मनुष्य पित्तप्रकृति का होता है उसमें तो पित्त-प्रकोपजन्य विकार उद्भूत हो जाते हैं। पित्तप्रकृति वाले मनुष्य में पित्तप्रकोप होने पर शक्ति, वर्ण, आयु एवं सुख का नाश होने लगता है तथा शरीर में अधिक ऊष्मा की वृद्धि हो जाती है। इसका प्रकोप शरद् ऋतु में अत्यधिक दिखाई देता है और इसका प्रशमन हेमन्त ऋतु में स्वभावतः हो जाता है। शरद् ऋतु में पित्त प्रकुपित होने के कारण, हेमन्त ऋतु पित्तदोष के लिए निर्हरण के लिए उत्तम स्वीकार की गई है।

---

[289] क्रोधशोकभयायासोपवासविदग्धमैथुनोपगमनकट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णलघुविदाहितिलतैलपिण्याककुलत्थसर्षपातसीहरित-शाकगोधामत्स्याजाविकमांसदधितक्रकूर्चिकामस्तुसौवीरकसुराविकाराम्लफलकट्वरप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमाद्यते॥ *सु०सं०,सू०* 21/21

[290] तेषां प्रकोपात् अम्लिकापिपासापरिदाहः जायन्ते। *सु०सं०,सू०* 21/27

इस दोष का शमन करने के लिए विरेचन सर्वोत्तम उपक्रम माना जाता है। यह मधुर एवं शीतल होना आवश्यक है। विरेचन द्रव्य पित्त के संचय स्थानों आमाशय एवं ग्रहणी में प्रवेश करके उसे बाहर निःसरित कर देते हैं। पित्तदोष के शमन के लिए घी का सेवन करना भी सर्वोत्तम उपक्रम बताया गया है। अन्य प्रकारों में मधुर-तिक्त-कषाय रस तथा पृथिवी, अप् तथा वायु महाभूत से उत्पन्न द्रव्य भी पित्त दोष का शमन करते हैं।[291] इस प्रकार शरीर में अनेक परिवर्तन होते हैं, जिनको विरेचन या घी के सेवन से शमन कर सकते हैं। पित्तदोष के प्रकोपक रस एवं शामक रसों को चित्र द्वारा विवेचित किया गया है-

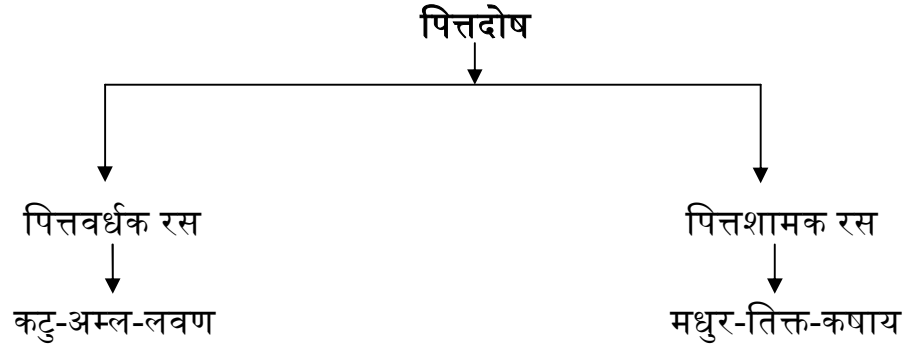

3.1.15 शरीर में पित्तवृद्धि एवं पित्तक्षय के लक्षण :- शरीर में पित्तदोष की वृद्धि पित्तवर्धक द्रव्यों एवं कर्मों से होती है, क्योंकि समान गुणों का अभ्यास करने से वस्तु की वृद्धि होती है। पित्तदोष की वृद्धि होने पर त्वचा, आँख एवं मल-मूत्र पीतवर्णयुक्त हो जाते हैं। शरीर में ऊष्मा एवं दाह में वृद्धि, शीत पदार्थों के सेवन की अधिक इच्छा, अनिद्रा, मूर्च्छा, बलहानि, इन्द्रियों में दुर्बलता के लक्षण दिखाई देते हैं। *सुश्रुतसंहिता* में विवेचित है कि पित्तक्षय के लक्षणों में शरीर की ऊष्मा कम हो जाती है, शरीर में सर्दी का अनुभव होता है, प्रभा एवं कान्ति नष्ट हो जाती है, पित्त के प्राकृतिक गुण एवं कर्मों का ह्रास होना प्रारम्भ हो जाता है।[292] इन लक्षणों से ज्ञात होता है कि शरीर में पित्तदोष का क्षय हो गया है।

---

[291] मधुरतिक्तकाषायास्त्वेनच्छमयन्ति। *च०सं०,वि०* 1/6

[292] पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभता च। *सु०सं० सू०* 15/11

उपर्युक्त प्रकार से इस अध्याय में पित्तदोष के निष्पत्ति को बताकर भेद, गुण, स्थानविशेष, पित्तवृद्धि, पित्तक्षय, पित्तप्रकोप आदि का विस्तृत पर्यालोचन किया गया है। शरीर में पित्तदोष जब विषमावस्था में हो जाता है तो उससे पित्तजनित विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इन पित्तजविकारों के निदान का अग्निम अध्याय में पर्यालोचन किया जाएगा।

चतुर्थ अध्याय

भारतीय साहित्य में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय का बहुत महत्त्व है। इस पुरुषार्थ चतुष्ट्य की पूर्ति के आधारभूत 'आरोग्य' की प्राप्ति के लिए प्रजापति ब्रह्मा ने आयुर्वेद को प्रादुर्भूत किया। कालान्तर में इसे ब्रह्मा ने दैवीय परम्परा द्वारा ऋषिगणों को उपदेश दिया। इसका लक्ष्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना एवं रोगी के रोग का उपचार[293] करना है। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए हेतु, लिङ्ग एवं औषधी सहित त्रिसूत्री आयुर्वेद की कल्पना की गई। इन तीनों सूत्रों में से प्रथम दो व्याधियों को जानने के लिए एवं अन्तिम चिकित्सा के लिए आवश्यक है। अतः *चरकसंहिता* में कहा गया है कि रोग की परीक्षा सर्वप्रथम करनी चाहिए, इसके पश्चात् युक्तिपूर्वक औषधी आदि की व्यवस्था करनी चाहिए।[294]

व्याधि की परीक्षा के लिए रोगी का इतिहास, व्यथा, रोगी की परीक्षा करना आवश्यक होता है। ये सभी उपक्रम रोग की सम्यक् परीक्षा के अन्तर्गत ही सम्मिलित होते हैं। विभिन्न प्रकार के नैदानिक परीक्षण रोग विज्ञान के लिए ही किए जाते हैं। ये सभी उपक्रम पञ्चनिदान की सहायता करते हैं। पञ्चनिदान[295] से निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय एवं सम्प्राप्ति का ग्रहण होता है। यहाँ पर पञ्चनिदान लोक प्रचलित शब्द है। क्योंकि निदान का अर्थ आदिकारण के साथ-साथ रोग निश्चिति[296] से भी है, जो पाँच घटकों से सम्बन्धित है। ये पाँचों अंग अलग-अलग या एक साथ विकारों को जाने में सहायक होते हैं। अतः सर्वप्रथम इन पञ्च निदानों का विवेचन किया जाएगा।

---

293 स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं आतुरस्य विकारप्रशमनम्। *च०सं०, सू०* 30/26

294 रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्। ततः कर्मभिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्॥ *च०सं०,सू०* 20/20

295 तस्योपलब्धिर्निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशयसम्प्राप्तितः॥ *च०सं०,सू०* 1/6

296 निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यतेरव्याधिरनेनेति निदानम्। *मा०नि०,* 1/4 पर मधुटीका, पृ० 5

4.1.1 निदान परिचय :- इस शब्द का मूल अर्थ हेतु अथवा कारण है। आयुर्वेदीय संहिताओं में निदान शब्द के दो अर्थ लिए जाते है- कारण निदान एवं ज्ञापक निदान। निदान के लिए शास्त्रीय दृष्टिकोण से रोगोत्पादक कारण व्यवहारतः अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। रोगों का उद्भव दोषों के प्रकोप से होता है एवं दोष-प्रकोप निदान विशेष से होता है। इसलिए निदान परिवर्जन को चिकित्सा का प्रथम सोपान कहा जा सकता है। इसके दो अर्थों में प्रथम दोषप्रकोप का मूलभूत कारण तथा मिथ्या आहार-विहार आदि तथा द्वितीय रोगविनिश्चय के माध्यम से पूर्वरूप, रूपादि ज्ञापक निदान है। विकार की उत्पत्ति में निदान को निमित्त कारण स्वीकार किया गया है। रोग के शमन के लिए निदान करना आवश्यक है। इसलिए सुश्रुत ने निदान परिवर्जन[297] चिकित्सा का विधान बताया है।

4.1.2 निदान के पर्याय :- आयुर्वेदीय संहिताओं में निदान के निम्नोक्त पर्याय मिलते हैं- निमित्त, हेतु, आयतन, कर्त्ता, कारक, कारण, प्रत्यय, मूल, समुत्थान, मुख, योनि, प्रेरण तथा प्रकृति।[298] आयुर्वेदीय साहित्य में उपर्युक्त पर्यायों के द्वारा रोगोत्पत्ति के कारणरूप जैसे अर्थ का बोधन होता है उसे निदान कहते हैं। यद्यपि शास्त्रों में एक शब्द के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं तथापि उपरोक्त सभी पर्याय समष्टिरूप से एक ही अर्थ 'निदान' का द्योतन कराते हैं।

- **निमित्त-** निमित्त शब्द निदान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। निमित्त का अर्थ यहाँ अपशकुन से है।[299] मनुष्य के साथ कुछ इस तरह के उपद्रव जुड़े रहते हैं जिन्हें निमित्त कहते हैं, जैसे किसी घृणित वस्तु अथवा भयावह दृश्य को देखकर या सुनकर छर्दि रोग उत्पन्न हो जाता है। इसी तरह अपशकुन के कारण ही मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

---

[297] संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्। *सु०सं०, उ०* 1/25

[298] इह खलु हेतुर्निमित्तायतनं कर्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यनर्थान्तरम्। तत्त्रिविधम्-असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति। *च०सं०, नि०* 1/3

निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः। निदानामाहुः पर्यायैः। *अ०हृ०, नि०* 1/2

[299] हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य च। *च०सं०, सू०* 10/11

- **हेतु-** आयुर्वेदीय संहिताओं में निदान के अर्थ में हेतु शब्द प्रयुक्त होता है। वस्तुतः हेतु का अर्थ कारण ही होता है। आचार्यों ने निदान के भेद-उपभेदों का वर्णन करते समय निदान के दो भेद बताए हैं-उत्पादक एवं व्यञ्जक। व्यञ्जक रोग उत्पादकता का प्रमुख कारण हो सकता है। अतः यहाँ पर हेतु शब्द कारण अर्थ में व्यवहृत होता है।
- **आयतन-** आयतन का अर्थ घर या स्थान होता है। घर अथवा स्थान विशेष में कारणत्व होता है। जैसे ओड़ीसा की भूमि रक्तविकारों को जन्म देने वाली होती है। दोषों के अनुसार भी भूमि का विभाजन किया जाता है। जिस प्रकार जांगल देश वातज रोग में कारण होते हैं तथा आनूप देश कफज रोग में कारण होते हैं।
- **समुत्थान-** दोषों, धातुओं, मलों का उद्भव होना। जैसे- शीतपित्त, विषमज्वर के वेग आदि दोष, धातु एवं मलों के उत्थान काल पर ही निर्भर करते हैं।
- **कारण-** अभिशाप आदि भी रोग के कारण स्वीकार किए गए हैं। इस प्रकार अनेक भाव रोग के कारण माने गए हैं। निदान के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए मधुकोशकार का वचन उद्धृत करना जरूरी है। विजयरक्षित ने निदान के दो लक्षण प्रस्तुत किए हैं- **व्याध्युत्पत्तिहेतुर्निदानम्। सेतिंकर्तव्यताको रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्।**[300] अर्थात् रोग की उत्पत्ति-कारण को निदान कहते हैं तथा उपचार जहाँ आवश्यक हो, ऐसे रोग के कारण को निदान कहते हैं। अथवा दोष प्रकोपणादि अनेक कार्यों को करते हुए जो रोग को उत्पन्न करता है, उसे निदान कहते हैं। वस्तुतः निदान अर्थात् रोग उत्पन्न करने वाला मूलभूत हेतु तथा व्याधि विनिश्चय के सन्दर्भ में किए गए सभी उपाय को निदान कहते हैं।

[300] *मा०नि०,* 1/5 पर *मधुकोशटीका*, पृ० 6

4.1.3 निदान के भेद :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में निदान के सर्वप्रथम चार विभाग किए जाते हैं- सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट, व्यभिचारी तथा प्राधानिक।[301]

- **सन्निकृष्ट**- इसमें प्रकोप के लिए संचय की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु यह कहा जाए कि संचय नहीं होता, ऐसा नहीं है। वस्तुतः यहाँ पर संचय काल इतना कम होता है कि वह नगण्य है। जैसे- रात-दिन तथा भोजन का आदि, मध्यम एवं अन्त क्रमशः कफ, पित्त, वायु प्रकोप के कारण है।
- **विप्रकृष्ट**- इसमें दोष-प्रकोप, जिसके प्रकुपित होने से पहले ही संचय की अपेक्षा की जाती है, यथा हेमन्त ऋतु में संचित कफ, बसन्त ऋतु में प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त आचार्यों ने ज्वर का सन्निकृष्ट कारण मिथ्या आहार-विहार एवं विप्रकृष्ट कारण रुद्रकोप को कहा है। जीवाणु रोग भी संचयकाल के पश्चात् होते हैं। अतः इन्हें भी विप्रकृष्ट कारणजन्य स्वीकार कर सकते हैं।
- **व्यभिचारी**- जो अल्पबल होने के कारण रोग की उत्पत्ति करने में समर्थ नहीं होता, वह व्यभिचारी निदान होता है। *चरकसंहिता* के अनुसार अल्पबल वाले दोष-दूष्यों के होने पर रोगोत्पत्ति नहीं हो पाती।[302] इससे पहले आचार्य ने स्पष्टरूप से कहा है कि रोगों की उत्पत्ति में तीन कारण होते हैं- दोष वैषम्य कारक निदान, निदान के परिणामस्वरूप वैषम्य अवस्था वाले दोष, दोषों से दूष्यों की दुष्टि। उपर्युक्त निदानादि कभी रोग को उत्पन्न नहीं करते, कभी निश्चित समय के पश्चात् रोग की उत्पत्ति होती है तथा कभी अल्प मात्रा में रोगोत्पत्ति करते हैं।
- **प्राधानिक**- जो उग्र स्वभाव के कारण शीघ्र दोषों को प्रकुपित कर रोग की उत्पत्ति कर देता है, उसे प्राधानिक हेतु कहा जाता है।

---

[301] सन्निकृष्टविप्रकृष्टव्यभिचारिप्राधानिकभेदाच्चतुर्धा। *मा०नि०,* 1/5 पर *मधुकोशटीका*, पृ० 6

[302] यदा ह्येते त्रयो निदानादिविशेषः परस्परं नानुबध्नन्ति, अथवा कालप्रकर्षादबलीयांसोऽथवाऽनुबध्नन्ति न तदा विकाराभिः निर्वृत्तिः चिराद्वाऽप्यभिनिर्वतन्ते, तनवो वा भवन्ति अयथोक्त सर्वलिङ्गा वा, विपर्यये विपरीताः। *च०सं०, नि०* 4/4

माधवनिदान की टीका में इसके तीन भेद बताए गए है- "**त्रिविधो वा असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग-प्रज्ञापराध-परिणामभेदात्"।**[303] जिनका वर्णन इस प्रकार है-

- **असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग**- विषयों के साथ इन्द्रियों का अयोग, अतियोग एवं मिथ्या योग ही असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग है।
- **प्रज्ञापराध**- *चरकसंहिता* में प्रज्ञापराध का वर्णन करते हुए कहा गया है कि धी, धृति एवं स्मृति के विभ्रंश होने पर व्यक्ति द्वारा किए गए असत् कर्म को प्रज्ञापराध कहते हैं।[304]
- **परिणाम**- यह पारिभाषिक शब्द है एवं *चरकसंहिता* के अनुसार इसका अर्थ काल है।[305] काल के ही अयोग, अतियोग एवं मिथ्यायोग को परिणाम कहा जाता है।

4.1.4 पूर्वरूप :- शरीर में उत्पन्न होने वाले रोग के बोधक लक्षणों को पूर्वरूप कहते हैं। *अष्टाङ्गहृदय* के अनुसार कुछ समय पश्चात् उत्पन्न होने वाली व्याधि वातादि दोषों के बिना जिस लिंग द्वारा पहचानी जाती है, उसे पूर्वरूप कहते है। वाग्भट ने कहा है कि "**उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः। लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीनां तद्यथायथम्"।**[306] इन अवस्थाओं में, क्योंकि रोग शक्ति को प्राप्त नहीं होते, अतः पूर्वरूप अव्यक्त अवस्था में रहते हैं। *सुश्रुतसंहिता* में भी कहा गया है कि दोषवृद्धि की चतुर्थावस्था में स्थानसंश्रय एवं दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना होकर जो तत्काल लक्षण उत्पन्न होते हैं उन्हें पूर्वरूप कहते हैं।[307]

मधुकोशकार का मत है कि जिससे भावी व्याधि के उत्पन्न होने की सूचना प्राप्त हो, उसे पूर्वरूप कहते हैं।[308] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे अव्यक्त अथवा अत्यल्प लक्षण जो भावी रोग की सूचना देते हैं, पूर्वरुप कहलाते हैं। इस अवस्था तक रोग का व्यक्त होना शेष रहता है।

---

303 *मा०नि०,* 1/5 पर *मधुकोशटीका*, पृ० 6

304 धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्। *च०सं०,शा०* 1/102

305 कालः पुनः परिणाम उच्यते। *च०सं०, सू०* 11/42

306 *अ०हृ०, नि०* 1/3-4

307 तत्र पूर्वरूपगतेषु चतुर्थः क्रियाकालः। *सु०सं०, सू०* 21/33

308 संक्षेपस्तु लक्षणं भाविव्याधिप्रबोधकम् एव लिङ्गं पूर्वरूपमिति। *मा०नि०,* 1/5 पर *मधुकोशटीका*, पृ० 10

पञ्चनिदान के अन्तर्गत पूर्वरूप दो प्रकार का बताया गया है- सामान्य पूर्वरूप एवं विशेष पूर्वरूप।

- **सामान्य पूर्वरूप-** *मधुकोशटीका* में कहा गया है कि जिसे उत्पन्न होने वाले रोग के लक्षणों द्वारा जाना जाए, किन्तु लक्षणों के द्वारा किसी दोष विशेष का ज्ञान नहीं होता। इसे आचार्य विजयरक्षित ने स्वीकार किया है। पूर्वरूप उसे कहते है जिससे आगामी रोग विशेष का ज्ञान हो, परन्तु दोष विशेष का नहीं।[309]
- **विशिष्ट पूर्वरूप-** सुश्रुत ने पंचनिदानों का विवेचन करते हुए कहा है कि किसी रोग के विशिष्ट लक्षणों के किञ्चित् व्यक्तावस्था को विशिष्ट पूर्वरूप कहते हैं। जैसे वातज्वर के पूर्वरूपों में वातदोष से जृम्भा, अंगमर्द एवं हृदय में उद्वेग होना। पित्त से आँखों में जलन तथा कफ से अन्नद्वेष होना। ये विशिष्ट पूर्वरूप प्राप्त होते हैं।[310] इस प्रकार शरीर में पूर्वरूप के लक्षण अव्यक्त अवस्था में होते हैं, जिन्हें कुछ समय पश्चात् स्पष्टतया देखा जा सकता है।

4.1.5 रूप/लिङ्ग :- जब व्यक्त अवस्था में पूर्वरूप प्राप्त हो जाते है अर्थात् वातादि त्रिविधदोष जब अपने व्यक्त कर्मों से अभिव्यक्त होने लगते हैं तब इन्हीं पूर्वरूपों को रूप अथवा लिङ्ग की संज्ञा दी जाती है। *चरकसंहिता* में रूप के पर्यायवाचक शब्दों का वर्णन मिलता है-

"प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिङ्गम्। तत्र लिङ्गमाकृतिलक्षणम्।

चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनम्। रूपमित्यनर्थान्तरम्"॥[311]

---

[309] पूर्वरूपं नाम येन भाविव्याधिविशेषो लक्ष्यते न तु दोषविशेषः। *मा०नि०,* 1/5 पर *मधुकोशटीका*, पृ० 10

[310] सामान्यतो विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थः समीरणात्। पित्तान्नयनयोर्दाह, कफान्नान्नाभीनन्दनम्॥ *सु०सं०, उ०* 39/27

[311] *च०सं०,नि०* 1/9 ; तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते। संस्थानं व्यञ्जनं लिङ्गं लक्षणं चिह्नमाकृतिः॥ *अ०हृ०, नि०* 1/5

यहाँ पर यह विचारणीय विषय है कि पूर्वरूप अवस्था के सम्पूर्ण लक्षण व्यक्त होते हैं या कुछ। यदि पूर्वरूपावस्था के सम्पूर्ण लक्षण प्रकट हो जाते हैं तो रोग असाध्य हो जाएगा। क्योंकि *चरकसंहिता* में स्पष्ट निर्देश मिलता है कि यदि रोग के पूर्वरूपावस्था के सभी लक्षण व्यक्त हो जाए तो रोग असाध्य हो जायेगें और यदि कुछ ही लक्षण व्यक्त होते हैं जैसे वातज्वर के पूर्वरूप[312] में जृम्भा का आना, पित्त के ज्वर के नेत्रों में दाह इत्यादि तो पूर्वरूप और रूप में विभेद ही नहीं रह जाएगा। *माधवनिदान* के टीकाकार विजयरक्षित के अनुसार रोग का स्वरूप जब अव्यक्त रहता है तो पूर्वरूप और जब व्यक्त हो जाता है तो रूप अर्थात् रोग कहा जाता है।[313] परन्तु इस प्रकार स्वीकार करने से रूप तथा व्याधि के परस्पर भेद समझने में कठिनाई हो जाएगी। अतः इस अवस्था में विकार के लक्षण स्पष्ट शरीर पर दिखाई देते हैं, जिन्हें आहार-विहार, औषधियों द्वारा शान्त किया जाता है। यदि रोगी विकार को बढ़ाने वाले आहार-विहार का सेवन करता है, तब विकार की वृद्धि हो जाती है एवं विकार असाध्यावस्था तक पहुँच जाता है।

4.1.5 उपशय :- उपशय का अर्थ सात्म्य होता है। चिरकाल तक सुख देने वाले को उपशय कहा जाता है अर्थात् जो शरीर में सुख का उत्पादन करे वह उपशय है। *अष्टाङ्गहृदय* में पञ्चनिदान का विवेचन करते हुए उपशय को परिलक्षित किया गया है- हेतु, रोग, हेतु एवं रोग दोनों के विपरीत तथा हेतु विपरीतार्थकारी, व्याधि विपरीतार्थकारी, हेतु-व्याधि उभय विपरीतार्थकारी जो औषधी अन्न, विहार का सुख उत्पादक उपयोग होता है उसे उपशय कहते हैं।[314]

---

[312] पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया। यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः॥ *च०सं०, नि०* 5/4

[313] व्याधेः स्वरूपं अव्यक्तं पूर्वरूपं, यद् व्यक्तं तद्रूपम्। *मा०नि०* 1/7 पर *मधुकोशटीका*, पृ०12

[314] हेतुव्याधिविपर्ययस्तविपर्ययस्तार्थकारिणाम्। औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम्॥
विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः॥ *अ०हृ०, नि०* 1/6-7

अतः सुखकारक वस्तु को उपशय कहा गया है। परन्तु दाह एवं तृष्णा से युक्त ज्वर में शीतल जलपान परिणाम में तत्काल सुखदायक होते हुए भी कालान्तर में दुखकारक होने के कारण वह परिणामतः उपशय नहीं हो सकता। आयुर्वेदीय साहित्य में उपशय के छः भेद हैं- हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतु-व्याधि उभय विपरीत, हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधिविपरीतार्थकारी एवं हेतु व्याधि उभय विपरीतार्थकारी। इसके औषधि, अन्न एवं विहार से अवान्तर रूप के अठारह भेद कहे गए हैं।

अनुपशय- यदि उपशय के लिए प्रयुक्त औषधियाँ रोग को बढ़ा देती हैं, तब उसे व्याध्यसात्म्य कहते हैं। इसे ही अनुपशय कहते हैं। यह भी उपशय की भान्ति छः प्रकार एवं अठारह अवान्तर भेदों में औषधि, आहार-विहार द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि अव्यक्त लक्षण वाले रोग का ज्ञान उपशय-अनुपशय के द्वारा करना चाहिए।[315] निदान की तरह अनुपशय भी रोग को बढ़ाने वाला है इसीलिए इसका ग्रहण निदान वर्ग में किया जाता है। निदान रूप में स्वीकृत आहार, आचार, काल आदि अनुपशयात्मक है। अतः वैद्य को रोगी के विकार का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि एक कुशल चिकित्सक ही विकार के कारणों को जानकर ही रोगी का पूर्णतः उपचार कर सकता है।

4.1.6 सम्प्राप्ति :- शरीर में रोग की सम्यक् प्राप्ति ही सम्प्राप्ति है। दोष किस प्रकार, किस निदान से दूषित होकर त्रिविध गति के अनुसार शरीर में गति करते हुए, किस दूष्य को दूषित कर, किस प्रकार से रोग उत्पन्न करता है, इस प्रकार के सम्पूर्ण व्यापार के नाम को सम्प्राप्ति कहते हैं।[316] इसी व्यापार के अनुसार व्याधि के पथ आदि को ज्ञात करके शोधन आदि उपक्रम किए जाते हैं। दोष के दूषित होने से लेकर रोगोत्पत्ति होने तक की सम्पूर्ण श्रृंखला को सम्प्राप्ति कहा जाता है।

---

[315] गूढलिङ्गव्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत्॥ *च०सं०, वि०* 4/8

[316] यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पः। निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः॥ *मा०नि०* 1/8

सुश्रुतसंहिता में सम्प्राप्ति की छः अवस्थाओं का वर्णन किया गया है- **संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति एवं भेद।**[317] उपरोक्त दोषवृद्धि की अवस्था में संचय, प्रकोप, प्रसर मात्र दोषों का होता है। चतुर्थावस्था में ही दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना होती है। इस चतुर्थावस्था से ही रोग की उत्पत्ति में दोषों के साथ-साथ दूष्यों अर्थात् धातु, मलों एवं स्रोतस् का कर्तृत्व प्रारम्भ हो जाता है, इन दोषवृद्धि की अवस्थाओं का द्वितीय अध्याय में वर्णन किया जा चुका है।

चरकसंहिता में सम्प्राप्ति के पाँच भेदों का वर्णन किया गया हैं- "**सा संख्याप्राधान्यविधिविकल्पबलकालविशेषैर्भिद्यते"।**[318] अर्थात् संख्या, प्राधान्य, विधि, विकल्प, बल एवं काल विशेष भेद से सम्प्राप्ति के पाँच भेद हैं। *चरकसंहिता* में बल एवं काल सम्प्राप्ति का एक साथ वर्णन किया गया है अतः सम्प्राप्ति के पाँच ही भेद हैं। परन्तु आचार्य वाग्भट्ट ने *चरकसंहिता* में बताए गए विधि सम्प्राप्ति का संख्या सम्प्राप्ति में अन्तर्भाव किया है तथा बल एवं काल को अलग-अलग स्वीकार किया है।[319] उनके अनुसार- संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल एवं काल सम्प्राप्ति भेद हैं। जिनका विवेचन इस प्रकार है-

- **संख्या सम्प्राप्ति**- रोगों के भेदों की संख्या ही संख्या सम्प्राप्ति है। *चरकसंहिता* में सामान्यज रोगों के भेदोपभेद एवं उनकी संख्या का उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे- "**अष्टौ ज्वराः, पञ्च गुल्माः, सप्त कुष्ठान्येवमादिः"॥**[320] ये रोगों की प्राथमिक संख्याएँ हैं।
- **प्राधान्य सम्प्राप्ति**- आयुर्वेदज्ञों ने सम्प्राप्ति का विवेचन करते हुए कहा है कि रोगों के स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य दृष्टिकोण से रोगों के स्वरूप का निर्णय करना प्राधान्य सम्प्राप्ति कहलाता है।[321] रोग की स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य से तात्पर्य यह है कि शास्त्रोक्त जिस दोष के

---

[317] सञ्चयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्। व्यक्ति भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक्॥ *सु०सं०, सू०* 21/36

[318] *च०सं०, नि०* 1/11

[319] संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः। *अ०हृ०, नि०* 1/9

[320] *च०सं०, नि०* 1/12

सा भिद्यते, यथाऽत्रैव वक्ष्येऽष्टौ ज्वरा इति। *अ०हृ०, नि०* 1/9

[321] स्वातन्त्र्यपारन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत्। *अ०हृ०, नि०* 1/10

प्रशमनार्थ, जिन उपक्रमों का वर्णन किया गया है, उनके उपयोग से दोष का प्रशमन हो जाना तथा प्रमुख दोष की चिकित्सा करने से अप्रधान दोष का भी शमन हो जाता है।

- **विधि सम्प्राप्ति**- विधि का अर्थ प्रकार या भेद है। तात्पर्य यह है कि रोगों के कितने भेद हैं, कौन से रोग साध्य, कौन से रोग असाध्य होते हैं, इनका नैदानिक दृष्टिकोण से रोग परीक्षा में बहुत महत्त्व है। *चरकसंहिता* में विधि सम्प्राप्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्रकार भेद से दो प्रकार के रोग हैं निज एवं आगन्तुक। त्रिविध दोष होने से वातिक, पैत्तिक एवं श्लैष्मिक रोग हैं एवं साध्य, असाध्य, मृदु एवं दारुण भेद से चार प्रकार के रोग हैं।[322] वस्तुतः विधि में रोगों के भिन्न प्रकार से भेदों का वर्णन मिलता है।
- **विकल्प सम्प्राप्ति**- किस रोग में त्रिविध दोषों का सम्मिलित रूप है या वह द्विदोषज या एकदोषज है। चरक ने पृथक् गुणों की अंशांश कल्पना के विचार को विकल्प सम्प्राप्ति कहा है। *चरकसंहिता* में कथित है कि "**समवेतानां पुनर्दोषाणामंशांशबलविकल्पो विकल्पोऽस्मिन्नर्थे**"।[323] रोग के लक्षण एवं उसके बलाबल को देखकर ही यह निश्चय किया जाता है कि इसमें किस दोष के गुण की मात्रा में वृद्धि या कमी हुई है।
- **बल सम्प्राप्ति**- रोग की परीक्षा करते समय रोगारम्भक दोषों एवं उससे सम्बन्धित रोगों के बलाबल पर विचार करना आवश्यक होता है।
- **काल सम्प्राप्ति**- *चरकसंहिता* में सम्प्राप्ति का विवेचन करते हुए कहा गया है कि दिन-रात, ऋतु एवं खाए हुए अन्न के परिणमन काल के अनुसार जब दोष प्रकोपक हो जाता है तब इन तथ्यों को देखकर काल सम्प्राप्ति का निश्चय किया जाता है।[324]

प्राधान्यं पुनर्दोषाणां तरतमाभ्यामुपलभ्यते। तत्र द्वयोस्तरः त्रिषु तम इति। *च०सं०, नि०* 1/12

[322] विधिर्नाम द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन, त्रिविधास्त्रिदोषभेदेन, चतुर्विधाः साध्यासाध्यमृदुदारुणभेदेन॥ *च०सं०, नि०* 1/12

[323] *च०सं०,नि०* 1/12

[324] बलकालविशेषः पुनर्व्याधीनामृत्वहोरात्राहारकालविधिविनयतो भवति। *च०सं०, नि०* 1/12

वस्तुतः यह सम्प्राप्ति दोषों के बल एवं काल परिणमन का परिचय देती है। अतः वातदोष वर्षा ऋतु में, रात्रि के उत्तरार्द्ध में एवं भोजन के पच जाने पर बलकाल विशेष होता है। पित्तदोष का शरद् ऋतु में, मध्यरात्रि में एवं आहार की पच्यमान अवस्था में बलकाल विशेष होता है तथा कफदोष का बसन्त ऋतु में, रात्रि के प्रथम भाग में एवं भोजन के उपरान्त बलकाल की वृद्धि होती है।

इस प्रकार निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय-अनुपशय एवं सम्प्राप्ति द्वारा ही किसी व्याधि के विषय में अधिक स्पष्टतया जाना जा सकता है। इन पञ्चनिदानों द्वारा ही रोगों का पार्थक्य एवं दोषों का संसर्ग बताया जा सकता है। अतः अब पित्तदोष से सम्बन्धित होने वाले विकारों का विवेचन किया जाएगा।

4.2.1 ज्वरविकार परिचय :- आयुर्वेदीय संहिताओं में ज्वरविकार व्याधि-विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। ज्वररोग अनेक रोगों का एक लक्षण है तथा यह सभी संहिताओं में एक स्वतन्त्र विकार के रूप में समुपलब्ध होता है। किसी भी विकार में ज्वर के लक्षण का होना तथा न होना रोगविनिश्चय तथा उपचार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सभी शारीरविकारों में ज्वर की उत्पत्ति सर्वप्रथम स्वीकार की गई है। चरक ने ज्वरविकार का वर्णन करते हुए कहा है कि-

"इह खलु ज्वर एवादौ विकाराणामुपदिश्यते, तत्प्रथमत्वाच्छारीणाम्"।[325]

अतः ज्वरविकार की व्यापकता को ध्यान में रखते हुए आयुर्वेद साहित्य में ज्वरविकार का वर्णन सर्वप्रथम एवं प्रमुखता से किया गया है। ज्वर को व्याधि सामान्य का पर्याय[326] भी बताया गया है।

---

[325] *च०सं०,नि०* 1/16, ज्वरो रोगाणां प्रधानतमः। *च०सं०,सू०* 24/40

[326] तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारो रोग इत्यनर्थान्तरम्। *च०सं०,नि०* 1/5,
ज्वरस्तमोविकार आतङ्कः पाप्मा गदो, व्याधिराबाधो दुःखमामयो यक्ष्मा रोग इत्यनर्थान्तरम्॥ *अ०सं०,नि०* 1/7,

सुश्रुतसंहिता में ज्वररोग[327] को सभी विकारों का राजा स्वीकार किया गया है। ज्वरविकार की उत्पत्ति में पाचन संस्थानगत विकृति का विशेष महत्त्व है। शरीर में ताप उत्पन्न करने के कारण उसे 'ज्वर' कहा गया है। यह बड़ा कठिन विकार है। इसमें बहुत से ऐसे उपद्रव होते हैं, जिनका उपचार करना दुष्कर है। यह सभी प्राणियों के जन्म के समय और मृत्यु के समय विद्यमान होता है। इसलिए सभी प्राणी सज्वर उत्पन्न होते हैं और ज्वर सहित मृत्यु को प्राप्त होते हैं। चरक ने ज्वरविकार को विवेचित करते हुए कहा है कि "**सर्वे प्राणभृतः सज्वरा एव जायन्ते सज्वरा एव म्रियन्ते च"।**[328] अतः जन्म एवं मृत्यु के समय ज्वर का होना और शरीर तथा मन इन दोनों को ही संतप्त करता है। ज्वर महामोह स्वरूप है, जिसके कारण ज्वरग्रस्त प्राणी अपने पूर्वजन्मों में किए हुए कर्मों का कुछ भी स्मरण नहीं कर पाता। इसको देवता एवं मनुष्य के अतिरिक्त कोई भी प्राणी सहन नहीं कर पाते।

चरकसंहिता में ज्वररोग को यमराज के समतुल्य बताया गया है- "**क्षयस्तमो ज्वरः पाप्मा मृत्युश्चोक्ता यमात्मकाः"**[329] अर्थात् ज्वर के यमराज, क्षय, तम, पाप्मा एवं मृत्यु रूप माने गए हैं। यह अनेक प्रकार की तिर्यक् योनियों में भी होता है और विभिन्न नामों से जाना जाता है- **"नानातिर्यग्योनिषु च बहुविधैः शब्दैरभिधीयते"।**[330] हस्त्यायुर्वेद के महारोगस्थान के नवमवें अध्याय में अनेक योनियों में उत्पन्न होने वाले ज्वररोग के विविध नामों को बताया गया है। जैसे- हाथियों में होने वाले ज्वर का नाम पालक, घोड़ों में अभिताप ज्वर, गायों में ईश्वर ज्वर, भेड़-बकरियों में प्रलाप, हाथियों के बच्चों में अलस, भैसों में हारिद्र, हरिणों में मृगरोम, पक्षियों में अभिघात, मछलियों में इन्द्रमद, पतंगों में पक्षपात, व्याघ्रों में अक्षिक, जल में काई, मिट्टी में ऊषर तथा पर्वतों में कोटरज्वर नाम मिलता है।

---

[327] जन्मादौ निधने चैव प्रायो विशति देहिनम्। अतः सर्वविकाराणामयं राजा प्रकीर्तितः॥ *सु०सं०, उ०* 39/10

[328] *च०सं०, नि०* 1/35

[329] *च०सं०, चि०* 3/13

[330] *च०सं०, नि०* 1/35, विविधनामभिः क्रुरो नानायोनिषु वर्तते। *च०सं०, नि०* 1/2

4.2.2 ज्वरविकार का उद्भव :- आयुर्वेदीय संहिताओं में ज्वरविकार की उत्पत्ति के सन्दर्भ में एक बहुत ही रुचिपरक दृष्टान्त मिलता है। *चरकसंहिता* के अनुसार त्रेतायुग में जब भगवान् शंकर एक हजार वर्ष चलने वाले 'अक्रोध' व्रत पर बैठे हुए थे। उसी समय राक्षसों ने ऋषि-मुनियों की तपस्या में विघ्न डालना शुरू कर दिया। इस स्थिति को देखते हुए तथा असुरों का दमन करने में समर्थ होते हुए भी दक्ष प्रजापति ने असुरों का न तो दमन किया, न ही महात्माओं की रक्षा की। दूसरी बात यह हुई कि उन्हीं दिनों दक्ष प्रजापति ने एक यज्ञ प्रारम्भ किया और देवताओं के आग्रह करने के बाद भी यज्ञ में शंकर को उसका भाग नहीं दिया। तृतीय शिव की उपेक्षा यह हुई, कि यज्ञ की सफलता के लिए, जो शंकर भगवान् के प्रार्थना के मंत्र हैं, उनका पाठ नहीं हुआ और न ही शिव को आहुतियाँ दी गई। भगवान् शंकर ने जब अपना व्रत पूरा किया, तब उन्हें दक्ष प्रजापति द्वारा यज्ञ में किए गए नियमों के उल्लंघन का ध्यान आया। फिर तो वह शिव से रुद्र बन गए। उन्होंने अपने मस्तक के तृतीय नेत्र को खोल दिया और उसकी आग से विघ्नकर्ता राक्षसों को नष्ट कर दिया।

तदुपरान्त यज्ञ को नष्ट करने वाले, क्रोध की अग्नि से संतप्त बालक को उत्पन्न किया। उस बालक ने दक्ष प्रजापति के यज्ञ को विध्वंस कर दिया। उस क्रोधाग्नि को देखकर दाह एवं व्यथा से पीड़ित देवता और प्राणिमात्र पागलों के समान इधर-उधर दौड़ने लगे। इस भयावह असह्य दुःस्थिति को देखकर देवताओं ने सप्तऋषियों के साथ, उस व्यापक रौद्ररूप की आराधना की और तब तक आराधना करते रहे, जब तक भगवान् रुद्र अपने कल्याणकारी रूप में नहीं आ गए। जब उस क्रोध के अवतारी बालक ने भगवान् शंकर के शान्त भाव को देखा, तब उसने प्रार्थना की कि हे प्रभु ! अब मैं क्या करूँ ? भगवान् शंकर ने उसे आदेश दिया कि प्राणियों के जन्म एवं मरण के समय तथा जब वे अपथ्य का सेवन करें, तब तुम उनके शरीर में प्रविष्ट होकर 'ज्वर' नाम से प्रसिद्ध हो जाओगे।[331] अतः भगवान् शंकर की क्रोधाग्नि से ज्वर की उत्पत्ति हुई है।

---

[331] *च०सं०, चि०* 3/15-25

उपरोक्त कथा को ज्वरव्याधि का रूपक स्वीकार करके क्रोध से ज्वर की उत्पत्ति के कथन का अभिप्राय यह स्वीकार करना चाहिए कि शरीर में तैजस भाव की वृद्धि के कारण ही ज्वररोग का उद्भव होता है। चरक ने चिकित्सास्थान में कहा है कि **"क्रोधात् पित्तम्"**[332] अर्थात् क्रोध से पित्त की वृद्धि होती है। इसलिए क्रोध को आग्नेय स्वीकार किया गया है। पित्त और अग्नि को अभेद स्वीकार किया है। *सुश्रुतसंहिता* में शरीर के अन्तःसंचार करने वाले पित्त को अग्नि की संज्ञा दी है- **"न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिवर्तमानेष्वग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तरग्निरिति"**।[333] इस सिद्धान्त के अनुसार पित्तवर्धक क्रोध का आग्नेय होना सिद्ध हो जाता है। यदि क्रोध आग्नेय नहीं होता, तब उससे पित्तदोष की वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती। अतः प्रत्येक ज्वरविकार में पित्त को प्रकृतिस्थ रखने वाली चिकित्सा की जाती है। इसी सिद्धान्त को वाग्भट ने भी स्वीकार किया है कि पित्तदोष के बिना ऊष्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती और ज्वर बिना ऊष्मा या ताप के बढ़ नहीं सकता, इसलिए ज्वररोग में पित्तदोष को प्रकुपित करने वाले औषध-आहार-विहार का परित्याग कर देना चाहिए। माधवकर ने दक्ष द्वारा किए गए अपमान से क्रोधित होकर रुद्र के निःश्वास से ज्वरविकार की उत्पत्ति स्वीकार की है। इस सन्दर्भ में दक्ष का अर्थ वायु और रुद्र का अर्थ अग्नि है। वायु की विकृति से अग्नि की विकृति और इन दोनों की विकृति से ज्वरव्याधि का उद्भव होता है। आधुनिक दृष्टि में ज्वर की उत्पत्ति प्रमुख कारणों से होती है- अभिघात, अर्बुद, जीवाणु-संक्रमण, कतिपय चयापयात्मक विकार जैसे वातरक्त, रक्तविकार, रक्तवाहिनीगत विकृति तथा रोगक्षमत्वक् विकार।

क्रोधो दक्षाध्वरध्वंसी रुद्रोर्ध्वनयनोद्भवः॥ *अ०हृ०, नि०* 2/1

[332] *च०सं०,चि०* 3/115

[333] *सु०सं०,सू०* 21/9

आधुनिक विज्ञान में कुछ ज्वर की उत्पत्ति में भावों की सत्ता भी स्वीकार की जाती है। उपर्युक्त हेतुओं से संबद्ध ज्वरोत्पादक भाव से शरीर में आभ्यन्तर ज्वर की उत्पत्ति करने वाले भावों का उद्भव होता है। बाह्य कारकों द्वारा क्रियायित प्रतिरोधक कोशिकाएँ एक विशेष प्रकार की पालीपेप्टाइड्स उत्पन्न करती है जिन्हें इण्टरल्यूकिन कहते हैं। यही आभ्यन्तर पाइरोजेन है, जो मस्तिष्क के अग्र हाइपोथैलमस में प्रोस्टाग्लैण्डिन-ई की वृद्धि करके मस्तिष्क के तापनियामक केन्द्रों को उत्तेजित करते हुए साइक्लिक ए.एम.पी के माध्यम द्वारा ताप के संजनन तथा संवरण द्वारा ज्वर उत्पन्न करता है। यही ज्वर की आधुनिक सम्प्राप्ति है।[334] अतः इस विकार की उत्पत्ति ऋषियों पर अत्याचार, शंकर का अनादर एवं उनके क्रोध से हुई है।

4.2.3 ज्वरविकार के भेद :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में ज्वरविकार के अनेक भेदों का विवेचन किया गया है। यदि ज्वर के भेदों का वर्णन करें तो निज-आगुन्तज ज्वर, धात्वाश्रय ज्वर, विषमज्वर ज्वरविकार के भेद माने गए हैं। निज ज्वर में त्रिविध दोषों से होने वाले ज्वर का वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त ज्वररोग के शारीरिक-मानसिक ज्वर, सौम्य-आग्नेय ज्वर, अन्तर्वेग-बहिर्वेगज्वर, प्राकृत-वैकृतज्वर, साध्य-असाध्य ज्वर भेद भी सभी संहिताओं में प्राप्त होते हैं। इस विकार के इन भेदों में सर्वप्रथम निजज्वर का विवेचन इस प्रकार है।

- **निजज्वरविकार के भेद-** *चरकसंहिता* में निज ज्वर का वर्णन करते हुए आठ भेद स्वीकार किए गए हैं- "**अथ खल्वष्टाभ्यः कारणेभ्यो ज्वरः सञ्जायते मनुष्याणाम्। तद्यथा- वातात्, पित्तात्, कफात्, वातपित्ताभ्यां, वातकफाभ्यां, पित्तकफाभ्यां, वातपित्तकफेभ्यः आगन्तोरष्टमात् कारणात्**"॥[335]

---

[334] *का०चि०, भा० 2*, पृ० 260-261

[335] *च०सं०, नि०* 1/17

तमेवाभिप्रायविशेषाद् द्विविधमाचक्षते, निजागन्तुविशेषाच्च। तत्र निजं द्विविधं त्रिविधं चतुर्विधं सप्तविधं चाहुर्भिषजां वातादिविकल्पात्॥ *च०सं०, नि०* 1/32

अर्थात् मानव के शरीर में आठ कारणों से ज्वरोत्पत्ति होती है- वायु के प्रकोप से, पित्त के प्रकुपित होने से, कफ के कोप से, वात और पित्त दोनों के प्रकुपित होने से, वात एवं कफ के कोप से, पित्त और कफ के प्रकोप से, तीनों दोषों के सन्निपात से और आगन्तुज कारण से। *सुश्रुतसंहिता* एवं *अष्टाङ्गहृदय* में ज्वररोग[336] के इन्हीं आठ कारणों को स्वीकार किया गया है। इसके पश्चात् आगन्तुक ज्वर का विवेचन संहिताओं में किया गया है।

- **आगन्तुज ज्वरविकार के भेद-** शरीर पर बाहरी आघात होने से अर्थात् लकड़ी, पत्थर, शास्त्र के चोट लगने से जिस ज्वर की उत्पत्ति होती है उसे आगन्तुज ज्वर कहा जाता है। इन ज्वरों में पहले विकार होता है तथा बाद में दोषप्रकोप होता है। *सुश्रुतसंहिता* में आगन्तुज ज्वर का परिलक्षित करते हुए कहा गया है कि-

"विविधेनाभिघातेन ज्वरो यः सम्प्रवर्तते। यथादोषप्रकोपं तु तथा मन्येत् तं ज्वरम्"॥[337]

चरकसंहिता में आगन्तुज ज्वर के भेदों में अभिघात अर्थात् किसी प्रकार की चोट से, अभिषंग अर्थात् काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मन आदि मनोविकारग्रस्त से, अभिचार अर्थात् तान्त्रिक प्रयोगों से, अभिशाप से शरीर में सर्वप्रथम वेदना उत्पन्न होती है जिससे आगन्तुज ज्वर की उत्पत्ति होती है।[338] *चरकसंहिता* के चिकित्सास्थान में आगन्तुक ज्वर[339] के भेदों का वर्णन मिलता है। वह ज्वर कुछ समय तक आगन्तुज ज्वर होता है, तदुपरान्त अपनी प्रकृति के अनुसार दोषों से युक्त हो जाता है।

---

[336] दोषैः पृथक् समस्तैश्च द्वन्द्वैरागुन्तरेव च। अनेककारणोत्पन्नः स्मृतस्त्वष्टविधो ज्वरः॥ *सु०सं०, उ०* 39/14 उ०-15 पू० स जायतेऽष्टधा दोषैः पृथङ्मिश्रैः समागतैः आगुन्तश्च। *अ०हृ०, नि०* 2/3

[337] *सु०सं०, उ०* 39/ 75-76

[338] अभिघाताभिषङ्गाभिचाराभिशापेभ्य आगन्तुर्हि व्यथापूर्वोऽष्मो ज्वरो भवति। *च०सं०, नि०* 1/30

[339] आगन्तुरष्टमो यस्तु स निर्दिष्टश्चतुर्विधः। अभिघाताभिषङ्गाभ्यामभिचाराभिशापतः॥ *च०सं०, चि०* 3/111

इनमें अभिघातज ज्वर दुष्ट रक्त में आश्रित वायु से, अभिषङ्गज वात-पित्त के संसर्ग से तथा अभिचार ज्वर एवं अभिशाप ज्वर त्रिविध दोषों से सम्बद्ध होते हैं।[340] *अष्टाङ्गहृदय* में वाग्भट ने आगन्तुज ज्वर के इन्हीं चार भेदों को स्वीकार किया है।[341] परन्तु *सुश्रुतसंहिता* में विषकृत ज्वर, औषधिगन्धज ज्वर, कामजज्वर, भयजन्य ज्वर, अभिचार ज्वर, अभिशाप ज्वर, भूताषिङ्गजज्वर ज्वरविकार के भेद बताए गए हैं।[342] सुश्रुत ने इन आगन्तुज ज्वरों के विषकृत ज्वर, औषधिगन्धज ज्वर, कामज्वर एवं भयजन्यज्वर बताए हैं, इन भेदों को चरक एवं वाग्भट अभिषङ्ग ज्वर के भेद के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। इन ज्वरविकार के भेदों के अतिरिक्त भेद भी ग्रन्थों में समुपलब्ध होते हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार है-

- **धात्वाश्रय ज्वर-** *चरकसंहिता* के निदानस्थान में धात्वाश्रय ज्वर का वर्णन नहीं मिलता परन्तु चिकित्सास्थान में ज्वर के भेदों का वर्णन करते हुए धात्वाश्रय ज्वर के भेदों का वर्णन प्राप्त होता है- "**पुनराश्रयभेदेन धातूनां सप्तधा मतः"**[343] अर्थात् सात धातुओं के आश्रयभेद से ज्वररोग सात प्रकार का स्वीकार किया जाता है। यें रसज, रक्तज, मांसज, मेदोज, अस्थिज, मज्जागत एवं शुक्रगत हैं। *सुश्रुतसंहिता* में धात्वाश्रय[344] के भेद स्वीकृत हैं परन्तु वहाँ उत्तरखण्ड में सप्तधातुज ज्वरों के लक्षण बताए गए हैं भेदों के नामाल्लेख प्राप्त नहीं होते। *अष्टाङ्गहृदय* में धात्वाश्रय ज्वरों का वर्णन प्राप्त नहीं होता। अतः चरक ने इस विकार के भेदों का वर्णन किया है, परन्तु सुश्रुत ने लक्षण मात्र बताए एवं वाग्भट ने स्वीकार नहीं किया।

---

[340] तत्राभिघातो वायुना दुष्टशोणिताधिष्ठानेन, अभिषङ्गजः पुनर्वातपित्ताभ्याम्, अभिचाराभिशापजौ तु सन्निपातेनानुबध्येते॥ *च०सं०, नि०* 1/30

[341] आगन्तुरभिघाताभिषङ्गशापाभिचारतः चतुर्धा॥ *अ०हृ०,नि०* 2/38

[342] *सु०सं०, उ०* 39/76-79

[343] *च०सं०,चि०* 3/35

[344] *सु०सं०,उ०* 39/83-90

- **विषमज्वर-** इसमें ज्वररोग के वेग की प्रकृति के आधार पर पाँच भेद माने गए हैं। *चरकसंहिता* में ज्वररोग के भेदों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "**पुनः पञ्चविधो दृष्टो दोषकालबलाबलात्। सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ"**॥[345] अर्थात् दोष के कालानुसार सबल और निर्बल होने से ज्वर पाँच प्रकार का दिखाई देता है- सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक एवं चतुर्थक। *सुश्रुतसंहिता* में विषमज्वर को विस्तारपूर्वक बताया गया है- जो मनुष्य शारीरिकरूप से दुर्बल है और मिथ्या आहार-विहार का सेवन करते हैं। जो ज्वररोग से मुक्त है पर वर्जित आहार-विहार का सेवन करते हैं, उनमें स्वल्प दोष भी वायु द्वारा प्रेरित होकर मनुष्य में वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं और वह दोष यथासंख्य कफस्थान विभागानुसार सततक, अन्येद्युष्क, तृतीयक, चतुर्थक एवं प्रलेपक नामक विषम ज्वर की उत्पत्ति करता है।[346] चरक विषमज्वरों में जहाँ सन्तत ज्वर को एक भेद मानते हैं वहीं सुश्रुत प्रलेपक नामक एक अन्य भेद स्वीकार करते हैं। वही *अष्टाङ्गहृदय* में त्रिविधदोषों के बलाबल के कारण विषम ज्वर के पाँच भेद स्वीकार किए गए हैं- "**ज्वरः पञ्चविधः प्रोक्तो मलकालबलाबलात्॥ प्रायशः सन्निपातेन भूयसा तूपदिश्यते। सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ"**॥[347] अर्थात् मल अथवा त्रिविध दोष, इनके अपने-अपने वृद्धिकाल में इनका बलयुक्त होना और अन्य कालों में बलहीन होना- इन परिस्थियों के कारण यह ज्वर पाँच प्रकार का होता है। वह सन्तत, सतत, अन्येद्यु, तृतीय एवं चतुर्थक नाम से जाना जाता है। इस प्रकार ज्वरविकार के निज एवं आगन्तुक, धात्वाश्रय एवं विषमज्वर भेद आचार्यों ने बताए हैं।

---

[345] *च०सं०,चि०* 3/34

[346] कृशानां ज्वरमुक्तानां मिथ्याहारविहारिणाम्। दोषः स्वल्पोऽपि संवृद्धो देहिनामनिलेरितः॥
सततान्युद्युष्कव्याख्यचातुर्थान् सप्रलेपकान्। कफस्थानविभागेन यथासंख्यं करोति हि॥ *सु०सं०, उ०* 39/51-52

[347] *अ०हृ०,नि०* 2/56-57

4.2.4 ज्वररोग के निदान :- आयुर्वेदीय संहिताओं में निजज्वर को ज्वररोग के कारणों में शामिल किया गया है। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि- "**निदाने कारणान्यष्टौ पूर्वोक्तानि विभागशः"**[348] अर्थात् निदानस्थान में कहे गए वात, पित्त, कफ, वातपित्त, वातकफ, पित्तकफ, वातपित्तकफ एवं आगन्तुक आठ कारण ही ज्वरविकार के हेतु हैं। अन्य आचार्य भी ज्वररोग के निदान में इन्हीं आठ कारणों को स्वीकार करते हैं। *सुश्रुतसंहिता* में ज्वररोग के अन्य कारण बताए गए हैं- स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन आदि का अच्छी तरह से प्रयोग न करने से अथवा अत्यधिक प्रयोग करने से, शस्त्र, लोष्ट्र आदि के विविध चोट के कारण, पस्क के पक जाने पर और अधिक श्रम करने पर, राजयक्ष्मा, अजीर्ण तथा विष के कारण ज्वररोग हो जाता है। दोषों के सात्म्य के विपरीत स्थिति से, ऋतुपरिवर्तन से, पुष्पों की गन्ध से, शोकग्रस्त होने से, ग्रहों की प्रतिकूल दशा से, अभिचार, अभिशाप, मनोऽभिषङ्ग, भूताभिषङ्ग से, अपप्रजाता स्त्रियाँ अर्थात् जिसका प्रसव सम्यक् प्रकार से नहीं हो पाया, अहितकर आहार-विहार का सेवन करने वाली गर्भिणी और स्तनों में प्रथम बार दूध आने की स्थिति में दोषप्रकोप होकर ज्वररोग की उत्पत्ति होती है।[349] इस प्रकार ज्वरविकार के निज एवं आगन्तुक अनेक कारण हैं, जिनसे शरीर में इस विकार की उत्पत्ति होती है।

4.2.5 ज्वरविकार के पूर्वरूप :- आयुर्वेदीय संहिताओं में ज्वररोग के सामान्य एवं विशिष्ट पूर्वरूपों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। ज्वररोग के विशिष्ट पूर्वरूपों त्रिविध दोष के अनुसार है। अतः सर्वप्रथम सामान्य पूर्वरूप का वर्णन किया जाएगा, तदुपरान्त दोषानुसार पूर्वरूप का वर्णन किया जाएगा।

---

[348] *च०सं०,चि०* 3/27

[349] *सु०सं०,उ०* 39/19-22

सामान्य पूर्वरूप- *चरकसंहिता* में ज्वरविकार का विवेचन करते हुए वर्णित है कि यह ज्वररोग होने से पहले की शरीरावस्था होती है, इसमें मनुष्य के मुख का स्वाद फीका रहता है, शरीर में भारीपन महसूस होता है, भोजन करने की इच्छा नहीं होती, नेत्र व्याकुल होते हैं, नींद अधिक आने लगती है, शरीर में बेचैनी रहती है, जम्भाई आनी प्रारम्भ हो जाती है, शरीर झुका हुआ एवं कांपने लगता है, चक्कर, थकावट, व्यर्थ की बातें करना, अनिद्रा, रोमाञ्च और दाँतों में खट्टापन लगने लगता है, आवाज भारी, ठण्डक महसूस होना, वायु का प्रवाह और धूप सहन करने में असमर्थता आ जाती है। अरुचि, भोजन न पचना, दुर्बलता, अंगों में पीड़ा, अवसाद, मनोबल कम होना, किसी कार्य को करने में अधिक समय लगाना, सुस्ती एवं शरीर में आलस्य छाया रहता है। मनुष्य को जिस कार्य का अभ्यास होता है उसे भी ठीक से न कर पाना, अपने कार्यों को भी सही तरह से न कर पाना, विद्वानों के वचनों में दोष निकालना, बच्चों से द्वेष करना, धार्मिक कार्यों की चिन्ता न करना, माला धारण करने, चन्दन आदि लगाने और भोजन करने में भी क्लेश का अनुभव करना एवं मधुर आहार से भी खिन्नता प्रकट करना आदि लक्षण ज्वरविकार के पहले दिखाई देते हैं। उसे खट्टे, नमकयुक्त एवं कड़वे पदार्थ अधिक अच्छे लगते हैं।[350] *सुश्रुतसंहिता* में ज्वररोग के पूर्वरूप[351] में होने वाले यहीं लक्षण दिखाई देते हैं। *अष्टाङ्गहृदय* में ज्वररोग के इन पूर्वरूपों के अतिरिक्त प्यास का अधिक लगना, बातचीत सुनना, आग सेकना, शीतवायु, जल, छाया तथा धूप आदि के सेवन की बार-बार इच्छा होना और बार-बार इनके प्रति द्वेष होता रहता है।[352] अतः मनुष्य में अनेक लक्षण पूर्वरूप में दिखाई देते हैं। यें लक्षण अव्यक्त अवस्था में होते हैं।

---

[350] *च०सं०,नि०* 1/33

[351] *सु०सं०,उ०* 39/25-26

[352] द्वेषः स्वादुषुभक्ष्येषु तथा बालेषु तृड्भृशम्। शब्दाग्निशीतवाताम्बुच्छायोष्णेष्वनिमित्ततः॥ इच्छा द्वेषश्च। *अ०हृ०,नि०* 2/9-10

विशिष्ट पूर्वरूप- ज्वररोग के विशिष्ट पूर्वरूप लक्षणों का *सुश्रुतसंहिता* में स्पष्टतया वर्णन किया गया है- **"विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात्। पित्तान्नयनयोर्दाहः, कफान्नान्नाभिनन्दनम्॥ सर्वलिङ्गसमवायः सर्वदोषप्रकोपजे। द्वयोर्द्वयोस्तु रूपेण संसृष्टं द्वन्द्वजं विदुः"॥**[353] अर्थात् ज्वर होने से पहले यदि वायु का बाहुल्य हो तो जम्भाइयाँ अधिक आती हैं, यदि पित्त की अधिकता हो तो आँखों में जलन होती है और कफदोष के प्रकुपित होने पर भोजन करने की इच्छा नहीं होती। यदि तीनों ही दोष प्रकुपित हो जाए तो तीनों के पूर्वरूप लक्षण शरीर में दिखाई देते हैं। द्वन्द्वज विकार हो तो दो दोषों के पूर्वरूप सम्मिलित रूप से शरीर में उपस्थित होते हैं। *चरकसंहिता* एवं *अष्टाङ्गहृदय* में ज्वररोग के पूर्वरूप लक्षणों में ही विशिष्ट लक्षणों का वर्णन कर दिया है वहाँ पर दोषानुसार विशिष्ट लक्षण नहीं बताए गए हैं। यदि ध्यानपूर्वक ज्वररोग के सामान्य पूर्वरूप लक्षणों को पढ़े, तो ये लक्षण वहाँ दिखाई देंगे। वस्तुतः इस विकार में जो लक्षण पूर्वावस्था में अव्यक्त होते हैं, वे लक्षण अब शरीर में स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार है-

4.2.6 ज्वरविकार के लक्षण :- *चरकसंहिता* में ज्वरविकार का विवेचन करते हुए कहा गया है कि ज्वररोग के पाँच लक्षण शरीर में प्रत्यक्ष दिखाई देने लगते हैं- **सन्तापः सारुचिस्तृष्णा साङ्गमर्दो हृदि व्यथा।**[354] अर्थात् शरीर, मन एवं इन्द्रियों में सन्ताप होना, भोजन में अरुचि होना, प्यास अधिक लगना, अंगों में दर्द और हृदय में व्यथा ये लक्षण प्रत्यक्षतः शरीर में दिखाई देते हैं। चरक ने अन्यत्र चिकित्सास्थान पर ज्वररोग के लक्षण बताए गए हैं- मन में विक्षिप्तता होना, मन का कहीं न लगना और मन में खिन्नता का होना, यें मन सन्ताप के लक्षण हैं।

---

[353] *सु०सं०, उ०* 39/27-28

[354] *च०सं०,चि०* 3/26

जब इन्द्रियों में विकार उत्पन्न होता है तो इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होती, अतः इन्द्रियों में भी ज्वररोग के लक्षण दिखाई देते हैं।[355] *सुश्रुतसंहिता* में ज्वररोग के लक्षणों का विस्तृत वर्णन किया गया है कि-

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा। विकारा युगपद्यस्मिन् ज्वरः स परिकीर्तितः॥[356]

अर्थात् शरीर में पसीना न आना, मन एवं इन्द्रियों में सन्ताप तथा सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा होना, ये लक्षण शरीर में दिखाई देते हैं। जिस रोग में एक साथ ये तीनों लक्षण उपस्थित होते हैं, उसे ज्वर कहते हैं। इनका अलग-अलग अर्थात् एक साथ न पाया जाना ज्वररोग का लक्षण नहीं है। ये लक्षण अकेले पृथक्-पृथक् कई अन्य विकारों के लक्षण होते हैं। प्रायः पैत्तिक ज्वरविकार को छोड़कर अन्य ज्वरों में ज्वर चढ़ने पर पसीना नहीं आता है। स्वेद के रूकने पर शरीर में ताप की वृद्धि हो जाती है। द्वितीय कारण यह है कि रक्त में परिभ्रमण करने वाले ज्वरजनक विष के कारण तापनियन्त्रक केन्द्र के अवसादित हो जाने से परिसरीय केशिकाओं का विस्फार नहीं होता, जिससे स्वेदजनक ग्रन्थियों को रक्त प्रचुरमात्रा में नहीं प्राप्त होता। अतः वे स्वेद की उत्पत्ति करना बन्द कर देती है। इसी प्रकार खाद्य की कमी तथा आमदोष की प्रचुरता के कारण भी स्वेदजनक ग्रन्थियाँ अपना कार्य स्थगित कर देती है। शरीर में ज्वरावस्था में बढ़े हुए ताप का अनुभव त्वचा के स्पर्श द्वारा या थर्मामीटर से होता है। रक्त में जीवाणु-विष की अधिकता से उष्णता की अत्यधिक वृद्धि तथा त्वचा, श्वास-प्रश्वास और मूत्रादि द्वारा उसके निर्हरण की अल्पता के कारण सम्मिलित परिणाम को ही संक्षेप में सन्ताप कह सकते हैं। ज्वरविकार के विषय में यह आयुर्वेद की विशेषता है कि काम, क्रोध आदि मानसिक विकार तथा अंशुघात आदि अनौपसर्गिक कारणों से भी ज्वर की उत्पत्ति होती है।

---

[355] वैचित्त्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम्। इन्द्रियाणां च वैकृत्यं ज्ञेयं सन्तापलक्षणम्॥ *च०सं०,चि०* 3/36-37

[356] *सु०सं०,उ०* 39/13-14

इन सभी में तापक्रम-वृद्धि के साथ-साथ अन्य विशिष्ट लक्षण भी विद्यमान रहते हैं। अतः उपचारक द्वारा इन लक्षणों को देखकर रोगी के विकारों का शमन करना चाहिए।

4.2.7 ज्वरविकार की सम्प्राप्ति :- बृहत्त्रयी में ज्वररोग की सम्प्राप्ति का प्रत्यक्षतः वर्णन प्राप्त नहीं होता। *माधवनिदान* में ज्वरोग की सम्प्राप्ति का वर्णन समुपलब्ध होता है-

"मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः"॥[357]

अर्थात् आहार एवं विहार के मिथ्या योग होने पर प्रकुपित एवं आमाशय में स्थित दोष रसधातु का अनुगमन करते हुए कोष्ठाग्नि को बाहर निकालने से ज्वरविकार की उत्पत्ति होती है। सुश्रुत ने कहा है कि वर्षा में वातदोष का प्रकोप, शरद् में पित्तप्रकोप तथा बसन्त में कफदोष प्रकुपित होता है।

इसी प्रकार आयु की दृष्टि से वृद्धावस्था में वात का प्रकोप, मध्य में पित्त का प्रकोप एवं प्रारम्भ बाल्यकाल में कफ का प्रकोप होता है। दिन के प्रारम्भ में कफ का प्रकोप, मध्य में पित्त प्रकुपित और अन्त में वात का प्रकोप होता है। इसी प्रकार भोजन के पच जाने के अन्त में वात, मध्य में पित्त एवं प्रारम्भ में कफ का प्रकोप होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर ज्वर को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार यह अपने कारणों से प्रदूषित हुए आमाशय में पहुँचकर, वहाँ की ऊष्मा के साथ मिलकर पाचकाग्नि या दोषाग्नि या धात्वाग्नि के साथ मिलकर रस के साथ मिश्रित होकर रसवाहक तथा स्वेदवाहक स्रोतसों के मार्ग को रोककर जठराग्नि को मन्द कर देता है। उस अग्नि को पक्तिस्थान से बाहर निकाल कर, उसे सम्पूर्ण शरीर में फैलाकर अपने वातादि प्रकोपक समय में ज्वर को उत्पन्न करते हैं।[358]

---

[357] *मा०नि०* 2/2

[358] दोषाः प्रकुपिताः स्वेषु कालेषु स्वैः प्रकोपणैः। व्याप्य देहमशेषेण ज्वरमापादयन्ति हि॥
दुष्टाः स्वहेतुभिर्दोषाः प्राप्यामाशयमूष्मणा। सहिता रसमागत्य रसस्वेदप्रवाहिणाम्॥
स्रोतसां मार्गमावृत्य मन्दीकृत्य हुताशनम्। निरस्य बहिरूष्माणं पक्तिस्थानाच्च केवलम्॥

वायु प्रकुपित होकर आमाशय में प्रविष्ट होता हुआ वहाँ की ऊष्मा के साथ मिलकर, आहारपाक से उत्पन्न रस नामक धातु में मिश्रित होकर रस और स्वेदवाहक स्रोतसों को अवरुद्ध कर देता है। वह पाचकाग्नि को नष्ट कर, उसे पक्तिस्थान से बाहर निकाल देता है और सम्पूर्ण शरीर में फैलकर ज्वरविकार की उत्पत्ति होती है।

ज्वररोग की सम्प्राप्ति[359]

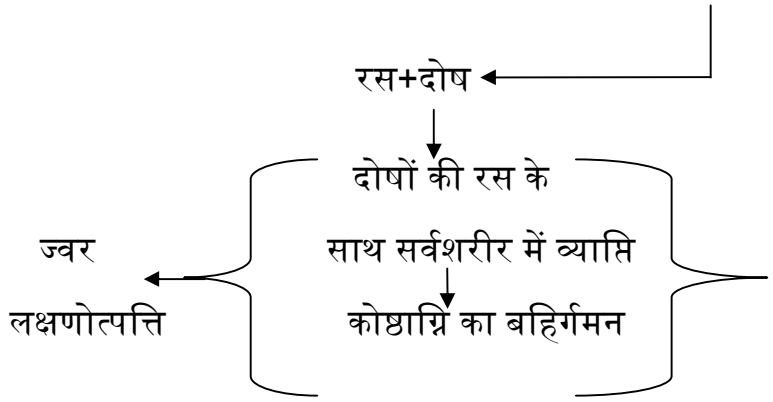

अष्टाङ्गहृदय में ज्वररोग की सम्प्राप्ति[360] में उपरोक्त मत को स्वीकार किया गया है। जब शरीर का ताप 99* फा० से 105* फा० तक हो जाता है जो ज्वर कहलाता है। जब वह 107* फा० से अधिक हो जाता है तो अतिताप कहलाता है। जब शरीर में ताप की वृद्धि होती है तब उष्णता-नियामक संयन्त्र की व्यवस्था से परिवर्तित हो जाती है। ज्वर में उष्णता का उत्पादन अधिक होता और व्यय कम।

शरीरं समभिव्याप्य स्वकालेषु ज्वरागमम्। जनयन्त्यथ वृद्धिं वा स्ववर्णञ्च त्वगादिषु॥ *सु०सं०, उ०* 39/15-18

[359] *च०सं०*, भाग-2 पृ०90

[360] *अ०हृ०,नि०* 2/3-5

4.2.8 ज्वरविकार का प्राकृतत्व-वैकृतत्व :- आयुर्वेदीय संहिताओं में त्रिविध दोषों का ऋतु के अनुसार सञ्चय, प्रकोप एवं प्रशम क्रियाकाल बताया गया है। ज्वरविकार की दृष्टि से सामान्यतः वर्षा, शरद् एवं बसन्त ऋतु में क्रमशः वातिक, पैत्तिक एवं कफज ज्वर प्राकृत रूप से होते हैं, इन्हें ही प्राकृत ज्वर कहते हैं। इसके विपरीत क्रम से होने वाले ज्वर को वैकृत ज्वर कहा गया है। *अष्टाङ्गहृदय* में इस व्याधि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि-

"वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात्। वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्रायश्च प्राकृतोऽनिलात्"॥[361] अर्थात् वर्षा ऋतु में वातदोष से, शरद् ऋतु में पित्तदोष से तथा बसन्त ऋतु में कफदोष की स्वाभाविक वृद्धि से जिस ज्वर की उत्पत्ति होती है, उसे प्राकृत ज्वर कहते हैं। ये प्राकृत ज्वर सुखसाध्य होते हैं। प्राकृतज्वर से जो दूसरा विपरीत ज्वर होता है, उसे वैकृत कहते हैं, उसे कष्टसाध्य कहा गया है। वस्तुतः वातज प्राकृत ज्वर भी कष्टसाध्य ही होता है, क्योंकि वातिक ज्वर में प्राकृत दोष के प्रकोप के अतिरिक्त अन्य पित्त-कफ दोषों का प्रकोप भी साथ रहता है। वातिक ज्वर में जठराग्नि दौर्बल्य एवं उपवास सहन करने की शक्ति कम होती है। अतः उपचार व्यवस्था में कठिनाई होती है।

वर्षा ऋतु में वातदोष के कुपित होने के कारण जिस ज्वर का उद्भव होता है, उसके सहायक पित्त एवं कफदोष होते हैं। शरद् ऋतु में पित्तदोष के प्रकुपित होने के कारण जिस ज्वर की उत्पत्ति होती है, उसका सहायक केवल कफदोष होता है। इस पित्तजज्वर में उपवास या लघुभोजन करने पर कोई कष्ट नहीं होता है, क्योंकि बढ़े हुए पित्त-कफदोष स्वभाव से ही लंघनों को सहन कर सकते हैं। वर्षा एवं शरद् ऋतु में विसर्गकाल होता है, जो स्वाभाविक रूप से प्राणियों के बल की वृद्धि करता है। बसन्त ऋतु में कफदोष कुपित होकर ज्वर की उत्पत्ति करता है। उसके सहायक वात एवं पित्त दोष होते हैं।[362]

---

[361] *अ०हृ०, नि०* 2/50

[362] वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तेश्लेष्मान्वितो ज्वरम्। कुर्यात् पित्तं च शरदि तस्य चानुबलं कफः॥
तत्प्रकृत्या विसर्गाच्च तत्र नानशनाद्भयम्। कफो वसन्ते तमपि वातपित्तं भवेदनुः॥ *अ०हृ०, नि०* 2/51-52

चरक ने ज्वररोग की प्राकृत-वैकृत अवस्था को अधिक विस्तार से समझाया है। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि जिस ऋतु में जिस दोष का प्रकोप होता है, उस ऋतु में उस दोष से होने वाला रोग प्राकृत कहलाता है। जिस प्रकार बसन्त में कफज और शरद् में पैत्तिज ज्वर प्राकृत ज्वर हैं। ये दोनों ही ज्वर सुखसाध्य होते हैं। पित्तदोष उष्ण स्वभाव वाला होने के कारण उष्ण स्वभाव वाले पदार्थों के सेवन से एवं धूप लगने से शरद् ऋतु में प्रकुपित हो जाता है। इसी तरह शीत स्वभाव वाला संचित कफ बसन्त ऋतु में सूर्य के सन्ताप से द्रवित होकर प्रकुपित हो जाता है-

"प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः। उष्णमुष्णेन संवृद्धं पित्तं शरदि कुप्यति॥

चितः शीते कफश्चैवं वसन्ते समुदीर्यते"।[363]

सुश्रुतसंहिता में केवल इतना ही वर्णन मिलता है कि दोष अपने-अपने समय और स्वप्रकोपक कारणों से कुपित होकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाते है और ज्वर नामक विकार की उत्पत्ति होती है-

"दोषाः प्रकुपिताः स्वेषु कालेषु स्वैः प्रकोपणैः"॥[364]

यहाँ पर काल से अभिप्राय ऋतुएँ, दिन-रात, भोजन एवं मनुष्य की आयु से है, क्योंकि दोषप्रकोपादि इनसे ही सम्बन्धित है। सभी संहिताओं में त्रिविध दोष के जो प्रकोपक काल है, तत्जन्य ज्वरों का प्रकोप भी उन्हीं ऋतुओं में होता है, जिन्हें निम्न सारणी के माध्यम से स्पष्ट किया जा रहा है-

---

[363] *च०सं०, चि* 3/42-43

[364] *सु०सं०, उ०* 39/15

ऋत्वानुसार प्रकोप काल, प्राकृत दोष एवं ज्वरप्रवृत्ति

प्रकोपक काल	प्राकृतदोष प्रकोप	ज्वरप्रवृत्ति
वर्षा ऋतु, अन्नपरिपाक, अपराह्न काल	वातदोष का प्रकोप	वातज्वर की प्रवृत्ति
शरद्, ग्रीष्म ऋतु, मध्याह्न, अर्धरात्रि	पित्तदोष का प्रकोप	पित्तज्वर की प्रवृत्ति
शिशिर, बसन्त ऋतु, प्रातःकाल	श्लेष्मदोष का प्रकोप	कफज्वर की प्रवृत्ति

इस प्रकार कह सकते हैं कि वर्षा, शरद् एवं बसन्त ऋतु में दोषानुसार प्राकृत ज्वर और इसके विपरीत ऋतु में वैकृत ज्वरविकार की उत्पत्ति होती है।

4.2.9 ज्वरविकार का अधिष्ठान :- आयुर्वेदीय संहिताओं में जब ज्वररोग का वर्णन किया गया है, तब वहाँ पर मन एवं शरीर को ज्वर का अधिष्ठान स्वीकार किया गया है। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि "**केवलं समनस्कं च ज्वराधिष्ठानमुच्यते शरीरं**"[365] अर्थात् मन सहित सम्पूर्ण शरीर ज्वररोग का आश्रयस्थान है। वस्तुतः किसी भी रोग में एक दोष प्रधान एवं अन्य दोष गौण होते हैं। दोष की प्रधानता एवं गौणता ऋतु के अनुसार, कालानुसार एवं मनुष्य की अवस्थानुसार होती है। अतः अब पित्तदोष से सम्बद्ध ज्वरविकार का पर्यालोचन किया जाएगा।

4.2.10 पैत्तिक ज्वरविकार का निदान :- पैत्तिक ज्वरविकार निदान का सन्दर्भ आयुर्वेदीय साहित्य में केवल *चरकसंहिता* में ही उपलब्ध होता है। चरक ने ज्वररोगनिदान में कहा है कि उष्ण, खट्टा, नमकयुक्त, क्षार तथा कटु रसयुक्त पदार्थों का अधिक सेवन करने से, अजीर्ण होने पर भी भोजन करने से और तीक्ष्ण धूप शरीर पर लगने से, आग की निकट रहने से, अधिक श्रम करने से, क्रोधित होने से एवं असमय भोजन करने से पित्तदोष प्रकुपित हो जाता है।[366]

---

[365] *च०सं०,चि०* 3/30

[366] उष्णाम्ललवणक्षारकटुकाजीर्णभोजनेभ्योऽतिसेवितेभ्यस्तथा तीक्ष्णातपाग्निसन्तापश्रमक्रोधविषमाहारेभ्यः पित्तं प्रकोपमापद्यते॥ *च०सं०, नि०* 1/22

विजयरक्षित ने पैत्तिक निदान के विषय में कहा है कि कटुरस द्रव्य, अम्लद्रव्य, उष्णद्रव्य, विदाही द्रव्य, स्त्रियों से अधिक सहवास करने से, अधिक नमकयुक्त भोजन करने से, तीक्ष्ण द्रव्य, क्षारीय द्रव्य, सरसों का तेल, तिल तैल, तीसी का तेल, तिलकुट, दही, शराब, काञ्जी, अजीर्ण में भोजन एवं आहार-नियम के विपरीत प्रकार से भोजन करने आदि मिथ्याहार से पित्तदोष प्रकुपित हो जाता है।[367] यद्यपि सभी ज्वरों में पित्तदोष की उपस्थिति रहती है और बिना पित्त के ज्वर हो ही नहीं सकता। परन्तु पित्तज्वर में पित्त की प्रचुरता होने के कारण वेग तीक्ष्ण स्वरूप का होता है।

4.2.11 पैत्तिक ज्वरविकार का पूर्वरूप :- आयुर्वेदज्ञों ने पैत्तिक ज्वर के लक्षणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। चरक ने ज्वररोग का वर्णन करते हुए कहा है कि इसमें एक साथ सम्पूर्ण शरीर में ज्वर की उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है। मुख्यतया भोजन के समय, मध्यरात्रि में, मध्याह्न में और शरद् ऋतु में यह ज्वर होता है और वृद्धि करता है। इसके होने पर मुख का स्वाद कड़वा रहता है ; नाक, मुख, कण्ठ, ओठ एवं तालु पक जाते हैं, अधिक प्यास लगती है, चक्कर और मूर्च्छा आती है ; पित्त की ऊल्टी आती है, दस्त प्रारम्भ हो जाते हैं, अन्न अच्छा नहीं लगता, शरीर में बिना कार्य किए थकावट रहती है, पसीना और लाल रंग के शरीर पर चकत्ते निकलने प्रारम्भ हो जाते हैं, व्यर्थ की बातें करता है। नाखून, आँख, मुख, मूत्र, मल और त्वचा का रंग हरा या हल्दी जैसा पीला हो जाता है। शरीर का ताप बहुत बढ़ जाता है, जलन बढ़ जाती है और शीतवस्तुएँ अच्छी लगने लगती हैं। इस प्रकार पैत्तिकज्वर के लक्षण शरीर में कुछ-कुछ दिखाई देने लगते हैं, परन्तु ये लक्षण अव्यक्तावस्था में होते हैं, कुछ समय पश्चात् लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं।

---

[367] कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातपस्त्रीसम्पर्कतिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभिः।
भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनां मध्याह्ने च तथाऽर्धरात्रिसमये पित्त प्रकोपं व्रजेत्॥
मा०नि०, 2/10-11 पर *मधुकोशटीका*, पृ० 30

4.2.12 पैत्तिकज्वर के लक्षण :- आयुर्वेदीय साहित्य में ज्वररोग के आठ भेदों में पैत्तिक ज्वर का विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। ज्वररोग मुख्यतः पित्तज रोग है, इसलिए इसमें अग्नि अपने स्थान से च्युत होकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है और शरीर का ताप बढ़ा देती है। *सुश्रुतसंहिता* के ज्वरविकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि पैत्तिकज्वर में ज्वर का वेग तीव्र, अतिसार, अनिद्रा, वमन होना, गला, होंठ, नाक का पकना, अधिक स्वेद आना, व्यर्थ की बातें करना, मुख में कटुता आना, बेहोशी, जलन, नशा, तृष्णा, मूत्र-मल-आँखों में पीलापन और चक्कर आदि लक्षण शरीर में दिखाई देते हैं।[368] *चरकसंहिता* में पैत्तिक ज्वरविकार के लगभग यही लक्षण स्वीकार किए गए हैं। इस संहिता में सर्वप्रथम ज्वर के बढ़ने एवं बलाबल का वर्णन मिलता है उसके बाद ज्वरविकार के लक्षणों का विवेचन किया गया है- पैत्तिक ज्वरविकार की सम्पूर्ण शरीर में एक साथ आगमन एवं वृद्धि होती है। विशेषकर भोजनोपरान्त पाचन के समय, दोपहर में, आधी रात एवं शरद् ऋतु में इस ज्वर की वृद्धि होती है। इस ज्वरविकार में मुँह का स्वाद कड़वा हो जाता है, मुख, नाक, कण्ठ, होंठ और तालु पक जाते हैं, अधिक प्यास लगती है, हल्का सा नशा छाया रहता है, चक्कर और मूर्च्छा आती है। पीड़ित मनुष्य को पित्त की उल्टी, अतिसार प्रारम्भ एवं अन्नद्वेष से हो जाता है। शरीर में बिना कार्य किए थकावट, पसीना और शरीर पर लाल रंग के चकत्ते बन जाते हैं। शरीर के नख, नेत्र, मुख, मूत्र, मल और त्वचा का रंग हरा या हल्दी जैसा पीला हो जाता है। शरीर का ताप बहुत बढ़ जाता है, जलन प्रारम्भ हो जाती है और शीतयुक्त चीजें खाने का मन करता है।[369]

---

[368] वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्वं तथा वमिः। कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते॥
प्रलापः कटुता वक्त्रे मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा। पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च॥ *सु०सं०,उ०* 39/31-32

[369] तद्यथा- युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा, भुक्तस्य विदाहकाले मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे शरदि वा विशेषेण कटुकास्यता, घ्राणमुखकण्ठौष्ठतालुपाकः, तृष्णा, मदो, भ्रमो, मूर्च्छा, पित्तच्छर्दनमतीसारोऽन्नद्वेषः, सदनं, स्वेदः, प्रलापः, रक्तकोठाभिनिर्वृत्तिः शरीरे, हरितहारिद्रत्वं नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थमूष्मणस्तीव्रभावोऽतिमात्रं दाहः, शीताभिप्रायता, पित्तज्वरलिङ्गानि भवन्ति॥ *च०सं०, नि०* 1/24

माधवनिदान में पैत्तिक ज्वरव्याधि[370] के उपरोक्त लक्षणों को विवेचित किया गया है। वाग्भट ने पैत्तिक ज्वरविकार में उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त लक्षण बताए हैं। पैत्तिक ज्वररोग[371] होने पर ठण्डे स्थान पर रहने की इच्छा, उसके थूक में रक्त का निकलना, खट्टी डकार आना, दुर्गन्धयुक्त श्वास आदि लक्षण दिखाई देते हैं। इस प्रकार शरीर में ज्वरविकार के स्पष्ट लक्षण दिखाई देते हैं, जिन्हें वैद्य जानकर शमन कर देता है, नहीं तो यह विकार धीरे-धीरे असाध्य बन जाता है।

4.2.13 पैत्तिकज्वर की सम्प्राप्ति :- उपरोक्त कारणों से प्रकुपित हुआ पित्तदोष आमाशय से ऊष्मा को साथ लेकर आहार के परिणामस्वरूप उत्पन्न आद्य रस नामक धातु से मिलकर एवं स्वेदवह स्रोतसों को बन्द कर देता है। यह द्रव होने के कारण अग्नि को नष्ट कर देता है और पाकस्थली को अग्नि से बाहर निःसरित कर पीड़ा उत्पन्न करता हुआ समस्त शरीर में व्याप्त हो जाता है, तब पित्तज्वर की उत्पत्ति हो जाती है। चरक ने पैत्तिक ज्वरविकार का विवेचन करते हुए कहा है कि

"तद्यदा प्रकुपितमामाशयादूष्माणमुपसृज्याद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधाय द्रवत्वादग्निमुहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्यप्रपीडयत् केवलं शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति"॥[372]

अष्टाङ्गहृदय[373] में इस विकार को परिलक्षित करते हुए कहा गया है कि अपने-अपने काल में त्रिविध दोष क्रमशः वातज्वर, पित्तजज्वर तथा कफज्वर की वृद्धि होती है। अतः अग्नि बाहर निकलकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है, जिससे इसकी अनुभूति सारे शरीर में होती है।

---

[370] वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्वं तथा वमिः। कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते॥
प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा। पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च॥ *मा०नि०* 2/10-11

[371] *अ०हृ०,नि०* 2/19-20

[372] *च०सं०,नि०* 1/23

[373] काले यथास्वं सर्वेषां प्रवृत्तिर्वृद्धिरेव वा। *अ०हृ०,नि०* 2/23

4.2.14 पैत्तिक ज्वर में उपशय-अनुपशय :- आयुर्वेदीय साहित्य में कहा गया है कि जिस रोग में जो निदान होते है वे ही उस रोग के अनुपशय होते हैं और निदान के विपरीत सभी ऋतुचर्या, आहार-विहार एवं भाव उस रोग के उपशय होते हैं। *अष्टाङ्गहृदय* में वर्णित है कि "**निदानोक्तानुपशयो विपरीतशायिता**"।[374] यही वर्णन चरक ने पैत्तिक ज्वरविकार के सन्दर्भ में किया है "**निदोक्तानुपशयो विपरीतोपशयचेति पित्तज्वरलिङ्गानि भवन्ति**"[375] अर्थात् पैत्तिकज्वर के कारण में स्वीकार किए गए पदार्थ हानिकारक और उनके विपरीत पदार्थों से लाभ होता है। *सुश्रुतसंहिता* में पैत्तिक ज्वररोग में उपशय-अनुपशय के पदार्थों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। ज्वररोग में पित्तदोष के साथ वात एवं कफ का संसर्ग भी होता है अतः उनके संसर्ग में दोनों दोषों के विकार भी आते हैं। इन्हें द्वन्द्व ज्वरविकार कहा जाता है। अतः पित्तदोष के साथ वात एवं कफदोष से सम्बन्धित निदान का विवेचन किया जाएगा। इसमें वातपित्तज ज्वर, कफपित्तज्वर, सान्निपातिक ज्वर का पर्यालोचन किया जाएगा।

4.2.15 वातपित्तज्वर के लक्षण :- आयुर्वेदज्ञों ने निजज्वर में द्वन्द्वज्वर का विस्तृतरूप से विवेचन किया है। *चरकसंहिता* में द्वन्द्वज ज्वरव्याधि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वात एवं पित्तदोष इन दोनों दोषों से होने वाले ज्वरव्याधि के होने पर सिर में दर्द, जोड़ों में टूटने जैसी व्यथा, शरीर में दाह, रोमाञ्च होना, कण्ठ और मुख का सूखना, उल्टी होना, अधिक प्यास लगना, बेसुध होना, चक्कर जैसे लगना, भोजन में अरुचि। अनिद्रा, बिना किसी बात के व्यर्थ की बातें करना एवं जम्भाई आदि लक्षण दिखाई देते हैं।[376]

---

[374] *अ०हृ०,नि०* 2/23

[375] *च०सं०,नि०* 1/24

[376] शिरोरुक् पर्वणां भेदो दाहो रोम्णां प्रहर्षणम्। कण्ठास्यशोषो वमथुस्तृष्णा मूर्च्छा भ्रमोऽरुचिः॥
स्वप्ननाशोऽतिवाग् जृम्भा वातपित्तज्वराकृतिः। *च०सं०,नि०* 3/85-86

सुश्रुतसंहिता एवं *अष्टाङ्गहृदय* में वातपित्त द्वन्द्वज ज्वर[377] के इन लक्षणों को स्वीकार किया गया है। अतः इस व्याधि में दोनों दोषों के लक्षण शरीर में दिखाई देते हैं, इसलिए दोनों दोषों को ध्यान में रखकर वैद्य को चिकित्सा करनी चाहिए।

4.2.16 कफपित्तज्वर के लक्षण :- *चरकसंहिता* के अनुसार कफपित्त से होने वाले द्वन्द्वज ज्वर से शरीर में जलन का बार-बार होना, ठण्ड बारम्बार लगना, बारम्बार पसीना रूकना, खाँसी, भूख न लगना, मूच्र्छा आना, प्यास लगना, कफ एवं पित्तयुक्त उल्टी आना, मुख के अन्दर कफ का लेप लगा हुआ-सा प्रतीत होना एवं तन्द्रा लक्षण दिखाई देते हैं।[378] *सुश्रुतसंहिता* में पित्तश्लैष्मिक ज्वर के उपर्युक्त लक्षण बताए गए हैं। *अष्टाङ्गहृदय* में इन लक्षणों के साथ-साथ शरीर के अवयवों में जकड़न एवं जम्भाईयाँ लक्षण भी कफपित्तज्वरव्याधि के बताए गए हैं। उपरोक्त लक्षण विकृतिविषमसमवायारब्ध है, क्योंकि इनमें से कतिपय लक्षण वात तथा पित्त के हैं, शेष लक्षणों में वैचित्र्य है ; जैसे रोमाश्च तथा अरुचि ये दोनों न तो वात के लक्षण है न ही पित्त के। पित्त-कफज्वर में अनवस्थित शीतता एवं जलन, सान्निपातिक ज्वरविकार के होने से नेत्रों में मलिनता, अश्रुपूर्णता तथा सिर को इधर-उधर फेंकना आदि लक्ष्षण अपने निदान के कुपित समवेत दोष के कारण उत्पन्न हुए प्रतीत नहीं होते हैं इसलिए इन्हें विकृतिविषमसमवाय जन्य लक्षण स्वीकार करना चाहिए।

4.2.17 सन्निपातज ज्वरविकार :- शरीर में वात-पित्त-श्लेष्म प्रकोपक मिथ्या आहार-विहार के एक साथ होने से तीनों दोषों का एक साथ ही प्रकोप हो जाता है और वे उपरोक्त ज्वरों की तरह स्वकारणों से कुपित होकर 'रस' नामक धातु में अनुगमन कर पाचकाग्नि को उसके स्थान से निःसरित करके शरीर के ताप में वृद्धि कर देते हैं।

---

[377] तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहः स्वप्ननाशः शिरोरुजा॥
कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तथा। पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः॥ *सु०सं०,उ०* 39/47-48
शिरोऽर्तिमूर्च्छावमिदाहमोहकण्ठास्यशोषारतिपर्वभेदाः। उन्निद्रतातृड्भ्रमरोमहर्षा जृम्भाविवाक्त्वं च चलात्सपित्तात्॥ *अ०हृ०, नि०* 2/24

[378] मुहुर्दाहो मुहुः शीतं स्वेदस्तम्भो मुहुर्मुहुः। मोहः कासोऽरुचिस्तृष्णा श्लेष्मपित्तप्रवर्तनम्॥
लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः। इत्येते द्वन्द्वजाः प्रोक्ताः॥ *च०सं०,चि०* 3/88-89

शरीर की ऊष्मा बढ़ जाने पर संपूर्ण शरीर में उष्णता आ जाती है और देह के संताप को ही ज्वरविकार कहते हैं। इस ज्वर की उत्पत्ति में तीनों दोषों के प्रकोपक कारण सम्मिलित होते हैं, अतः इसमें त्रिविधदोषों के मिश्रित लक्षण होते हैं। अतएव यह त्रिदोषज ज्वर या सन्निपात ज्वर कहलाता है। इसलिए वैद्य द्वारा त्रिविध दोषों को ध्यान में रखकर उपचार करना होगा।

4.2.18 सन्निपातजज्वर की साध्यासाध्यता :- *चरकसंहिता* में वर्णित है कि जब दोष शरीर के बाहर निःसरित न होकर अन्दर ही बँध जाते हैं और जठराग्नि की क्रिया मन्द या नष्ट हो जाती है तथा सन्निपातज्वर के सभी लक्षण पीड़ित मनुष्य में विद्यमान हो जाते है, तब वह रोग असाध्य हो जाता है। जब दोष शरीर से बाहर निकलते रहते हैं और जठराग्नि अपनी क्रिया सम्यक् रूप से करती रहती है तथा सन्निपातज्वर के कुछ ही लक्षण विद्यमान रहते हैं, वह सन्निपातज्वर कृच्छ्रसाध्य होता है।[379] अतः असाध्य ज्वर में उपचार करने से कोई लाभ नहीं होता व कृच्छ्रसाध्य में उपचार करते हुए रोगी स्वस्थ रहता है, लेकिन पूर्णरूप से स्वस्थ नहीं हो पाता। इसलिए असाध्य व कृच्छ्रसाध्य होने से पहले ही साध्यावस्था में उपचार करना चाहिए।

4.2.19 समत्रिदोषज सन्निपातज ज्वर के लक्षण :- आयुर्वेदीय साहित्य में ज्वरविकार का वर्णन करते समय सन्निपातज ज्वरविकार का विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। *चरकसंहिता* में सन्निपात ज्वर का विवेचन करते हुए कहा गया है कि सन्निपातज ज्वर में बार-बार देह में जलन होना, बार-बार सर्दी लगना, हड्डियों-जोड़ों तथा सिर में दर्द होना, नेत्रों में आँसूओं का भरा रहना एवं आँखें मलिन रहना तथा नेत्रों का कुछ टेढ़ा हो जाना, कानों में साँय-साँय की आवाज सुनाई देना और पीड़ा होना, गले में गेहूँ-जौ आदि का टूण फँसा हुआ-सा महसूस होना, तन्द्रा होना, मूर्च्छित हो जाना, प्रलाप करना, खाँसी, श्वास, अरुचि, भ्रम होना, जीभ जली हुई जैसी दिखाई देना, स्पर्श खुरदरा प्रतीत होना, अंगों में अत्यधिक ढ़ीला होना, कफयुक्त रक्त और पित्त का थूकना, सिर को घुमाते रहना, तृष्णा, अनिद्रा, हृदय में जलन होना।

---

[379] दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः॥

सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्यस्ततोऽन्यथा। *च०सं०,चि०* 3/109-110

स्वेद-मूत्र-मल का देरी से आना एवं अल्प मात्रा में निकलना, निरन्तर कबूतर की भाँति गले से अस्पष्ट शब्द का निकलते रहना, चमड़ी पर श्याम या लाल रंग के मण्डलों का दिखाई देना और चकत्ते निकलना, बोलने में रूकावट, मुख आदि स्रोतों का पक जाना, पेट का भारयुक्त हो जाना और चिरकाल में दोषों का पाक होना लक्षण दिखाई देते हैं।[380]

सुश्रुतसंहिता[381] एवं *अष्टाङ्गहृदय*[382] में उपरोक्त सन्निपातज ज्वर के लक्षणों का वर्णन किया गया है। *सुश्रुतसंहिता* में इन लक्षणों के साथ-साथ उन्माद एवं दाँतों का कृष्ण वर्णयुक्त होना भी बताया है। *अष्टाङ्गहृदय* में इन लक्षणों के अतिरिक्त दिन में पर्याप्त सोना, रात में नींद न आना भी बताया है। सान्निपातिक ज्वर के उपरोक्त लक्षण आधुनिक टाइफाइड ज्वर के समान ज्ञात होते हैं। इसमें त्रिविध दोष समानरूप से ज्वरोत्पत्ति में कारण होते हैं। इसलिए त्रिविध दोष को समान रखने के लिए इसकी चिकित्सा करनी होगी।

4.2.20 विषम त्रिदोष सन्निपातज ज्वरविकार :- दोषों के बलाबल तथा तदोत्पन्न लक्षण की दृष्टि से सान्निपातिकज्वर वातोल्बण, पित्तोल्बण या कफोल्बण हो सकता है। *चरकसंहिता* में अन्यत्रस्थान पर तेरह प्रकार के सन्निपात का वर्णन मिलता है, तदनुसार सन्निपात ज्वर भी तेरह प्रकार का हो सकता है।

---

[380] सन्निपातज्वरस्योर्ध्वमतो वक्ष्यामि लक्षणम्। क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजाः॥
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने। सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः॥
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः। परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम्॥
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च। शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा॥
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः। कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम्॥
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम्। मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च॥
चिरात् पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः॥ *च०सं०, चि०* 3/103-109

[381] *सु०सं०, उ०* 39/35-39

[382] *अ०हृ०, नि०* 2/27-33

दूसरी ओर माधवकर ने हीन, मध्य आदि बारह भेदों का वर्णन करके केवल समान मात्रा में अपने प्रमाण में बढ़े हुए त्रिविध दोषों से उत्पन्न सन्निपात ज्वर के लक्षणों का ही विवेचन किया है। *सुश्रुतसंहिता* में केवल अभिन्यास नामक एक ही सन्निपात ज्वर का वर्णन मिलता है। *चरकसंहिता* में वर्णित बारह प्रकार के सन्निपातज्वर[383] निम्नोक्त हैं-

- **वातपित्तोल्बण तथा हीनकफ सन्निपात ज्वरविकार।**
- **वातकफोल्बण तथा हीनपित्त सन्निपात ज्वरविकार।**
- **पित्तकफाधिक तथा हीनवात सन्निपात ज्वरविकार।**
- **वाताधिक हीनपित्त तथा हीनकफ सन्निपात ज्वरविकार।**
- **पित्ताधिक हीनवातपित्त सन्निपात ज्वरविकार।**
- **कफाधिक हीनवातपित्त सन्निपात ज्वरविकार।**
- **हीनवात मध्यमपित्त तथा श्लेष्माधिक सन्निपात ज्वरविकार।**
- **हीनवात, मध्यमकफ तथा पित्ताधिक सन्निपात ज्वरविकार।**
- **हीनपित्त, मध्यमकफ तथा वाताधिक सन्निपात ज्वरविकार।**
- **हीनपित्त, मध्यमवात तथा कफाधिक सन्निपात ज्वरविकार।**
- **हीनकफ, मध्यमवात तथा पित्ताधिक सन्निपात ज्वरविकार।**
- **हीनकफ, मध्यमपित्त तथा वाताधिक सन्निपात ज्वरविकार।**

अतः इस विकार में एक दोष की वृद्धि एवं अन्य दोनों दोष हीन होकर ज्वरोत्पत्ति होती है तथा दो दोषों में वृद्धि एवं एक दोष का क्षय होकर भी विकार की उत्पत्ति होती है।

4.2.21 अभिन्यास सन्निपात ज्वरविकार :- यह सन्निपात ज्वरविकार का ही एक प्रमुख भेद है। प्रकुपित वातादि त्रिदोष उरःस्रोत का अनुगमन करते हुए आमदोष की अत्यधिक वृद्धि से ग्रथिक होकर मन सहित ज्ञानेन्द्रियों को प्रभावित करके महाघोर अभिन्यास ज्वर को उत्पन्न करते हैं।

---

[383] *च०सं०, चि०* 3/90-102

सुश्रुतसंहिता में अभिन्यास ज्वरविकार के रोगी में निम्नोक्त लक्षण[384] बताए गए हैं- रोगी के अंग स्पर्श करने पर सामान्य ताप जैसे प्रतीत होना, अल्पचेतनायुक्त, पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से रहित, आवाज बैठी हुई, जीभ खुरदरी, सुखा हुआ गला, स्वेदरहित, मल-मूत्र का त्याग नहीं होता, आँखे आंसूओं से युक्त, हृत्प्रदेश कठोर, भोजन में अरुचि, मुखमण्डल आभाहीन, श्वास लेता हुआ तथा गिरा हुआ-सा लेटता है, प्रलाप जैसे उपद्रवों वाला रोगी अभिन्यास नामक सन्निपातज्वर से आक्रान्त होता है। वाग्भट ने समदोष सन्निपातज ज्वरविकार के लक्षणों से युक्त जिस ज्वर में ओजधातु की क्षीणता दिखलाई देती है उसे अभिन्यास सन्निपातज्वर[385] स्वीकार किया है। कुछ आयुर्वेदज्ञ अभिन्यास रोग को 'हतौजस' भी कहते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि यह रोग कृच्छ्रसाध्य है और अन्य आचार्य इसे असाध्य स्वीकार करते हैं। *सुश्रुतसंहिता* में कहा गया है कि-

"निद्रोपेतमभिन्यासं क्षीणमेनं हतौजसम्। संन्यस्तगात्रं संन्यासं विद्यात्सर्वात्मके ज्वरे"॥[386]

अर्थात् यदि उपर्युक्त लक्षणों से युक्त पीड़ित मनुष्य को नींद अधिक आती है तो इस रोग को **'अभिन्यास'** नामक सन्निपात ज्वर जानना चाहिए और इन लक्षणों के साथ क्षीणता अर्थात् शरीर में कमजोरी अधिक आती है तो इसे हतौजस सन्निपात ज्वरव्याधि समझनी चाहिए। इसी प्रकार यदि ऐसे रोगी के अंग-प्रत्यंग ढ़ीले हो गए हों, तब इस अवस्था में यह **'संन्यास'** नामक सन्निपात ज्वर जानना चाहिए।

4.2.22 सन्निपात ज्वर की समय सीमा :- *सुश्रुतसंहिता* एवं *माधवनिदान*[387] में सन्निपात ज्वरविकार की निम्नोक्त काल मर्यादा का उल्लेख किया गया है एवं रोग के तीव्र मारक या प्रकृति स्थापक लक्षण का निर्धारण उपस्थित किया है-

---

[384] नात्युष्णशीतोऽल्पसंज्ञो हतस्वरः। खरजिह्वः शुष्ककण्ठः स्वेदविण्मूत्रवर्जितः॥
सास्रो निर्भुग्नहृदयो भक्तद्वेषी हतप्रभः। श्वसन् निपतितः शेते प्रलापोपद्रवायुतः॥
तमभिन्यासमित्याहुर्हतौजसमसमथापरे। सन्निपातज्वरं कृच्छ्रमसाध्यमपरे विदुः॥ *सु०सं०,उ०* 39/39-41

[385] सन्निपातमभिन्यासज्वरं तं ब्रूयाच्च हतौजसम्। *अ०हृ०,नि०* 2/33

[386] *सु०सं०,उ०* 39/42

[387] सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा। एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च॥ *मा०नि०* 2/ 34

"सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा। पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा"॥[388]

अर्थात् वायु सर्वाधिक बलशाली होने के कारण वात प्रधान सन्निपात ज्वरव्याधि का मलपाक होने पर सात दिन में शान्त हो जाता है, परन्तु धातुपाक होने पर यह त्रिदोषज ज्वर के इस अवधि में रोगी की मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार मध्यश्रेणी बल वाले पित्त की प्रमुखता वाला त्रिदोषज ज्वर का मलपाक होने पर दस दिन में प्रशमन हो जाता है, लेकिन धातुपाक होने पर इस अवधि में रोगी की मृत्यु हो जाती है। मन्द बल वाला होने के कारण कफदोष की प्रधानता वाला त्रिदोष ज्वर मलपाक होने पर बारह दिन में स्वस्थ हो जाता है और यदि धातुपाक हो जाए तो इस अवधि में रोगी की मृत्यु हो जाती है। अतः सन्निपातज ज्वर का सात, दस एवं बारह दिन में वात, पित्त एवं कफविकार का शमन हो जाता है, लेकिन धातुओं में ज्वर विद्यमान होने पर मृत्यु हो जाती है। इसलिए ज्वरव्याधि को धातुओं में पहुँचने से पहले उपचार करना चाहिए।

4.3.1 रक्तपित्तविकार परिचय :- आयुर्वेदीय संहिताओं एवं संग्रहग्रन्थों में रक्तपित्तविकार का प्रमुखता से वर्णन किया गया है। शरीर के किसी भी मार्ग द्वारा **'दुष्ट पित्त'** से दूषित रक्त के साथ निःसरित होना रक्तपित्तविकार कहलाता है। इस विकार की तुलना हम आधुनिक रक्तस्कन्दन दोष वाले रक्तस्राव के साथ कर सकते हैं। शरीर के किसी भी प्रकार से निःसरित होने वाले रक्तस्राव को रक्तपित्त नहीं स्वीकार किया जा सकता। रक्तपित्त में रक्त दूषित होता है। वस्तुतः रक्तपित्त पित्तदोष की वैषम्यता से होने वाला विकार है। जिन व्याधियों में शुद्ध रक्त का निःसरण होता है, उन व्याधियों के नाम से पहले रक्त शब्द लगाया जाता है- रक्तार्श, रक्तातिसार, रक्तवमन, रक्तष्ठीवन आदि। किसी भी रक्तस्रावी विकार में जब तक रक्त पित्तदोष से दूषित नहीं होगा, तब तक उसे रक्तपित्त नहीं कह सकते। अतः यह कहा जा सकता है कि दुष्टपित्त का प्रवृद्ध रक्त के साथ शरीर से बाहर निकलना रक्तपित्त विकार है।

---

[388] *सु०सं०, उ०* 39/45-46

4.3.2 रक्तपित्त की निरुक्ति :- 'रक्तपित्त' शब्द की निरुक्ति दो प्रकार से की जाती है- **रक्तं च पित्तं च** (द्वन्द्व समास) एवं **रक्तं च तत् पित्तम्** (कर्मधारय समास)। **'रक्तपित्त'** उस विकार का नाम है, जिसमें दुष्ट पित्त के संसर्ग से दूषित रक्त शरीर के किसी मार्ग से बाहर निकलता है। इस रोग में रक्त दूषित होता है। *चरकसंहिता* में रक्तपित्त का वर्णन करते हुए कहा गया है कि-

संसर्गाल्लोहितप्रदूषणाल्लोहितगन्धवर्णानुविधानाच्च पित्तं लोहितपित्तमित्याचक्षते॥[389]

अर्थात् रक्त के साथ मिल जाने से, शुद्ध रक्त को दूषित कर देने से, रक्त की गन्ध एवं वर्ण के समान गन्ध एवं वर्ण वाला होने से पित्तदोष को ही रक्तपित्तविकार कहते हैं। *चरकसंहिता* के टीकाकार चक्रपाणि ने रक्तपित्त शब्द की निरुक्ति तीन प्रकार से बताई है-

- **रक्तयुक्तं पित्तं रक्तपित्तम्** अर्थात् रक्त के साथ पित्तदोष संयुक्त रहने से इसे रक्तपित कहते हैं।
- **रक्ते दूष्ये पित्तम्** इति रक्तपित्तम् अर्थात् पित्तदोष रक्त दूष्य/धातु में मिलकर रक्त को दूषित करता है इसलिए इसे रक्तपित्त कहते हैं।
- **रक्तवत् पित्तं रक्तपित्तम्** अर्थात् रक्त के संसर्ग से पित्तदोष भी गन्ध वर्ण में रक्त के समान हो जाता है, इसलिए इस विकार को रक्तपित्त कहते हैं।[390]

चरकसंहिता के चिकित्सास्थान में उपरोक्त तीन कारणों के आधार पर रक्तपित्त नाम रखे जाने का स्पष्ट वर्णन समुलब्ध होता है-

"संयोगाद् दूषणात्तु सामान्याद् गन्धवर्णयोः। रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः"॥[391]

---

[389] *च०सं०, नि०* 2/5

[390] *च०सं०, नि०* 2/5 पर *आयुर्वेदीपिका* टीका, पृ० 1268

[391] *च०सं०, चि०* 4/9

- **संयोगात्**- इस विकार में पित्तदोष रक्त के साथ संयुक्त होता है अर्थात् रक्त और पित्तदोष परस्पर मिल जाते हैं।
- **दूषणात्**- इसमें पित्तदोष के द्वारा रक्त की दुष्टि होती है।
- **गन्धवर्णयोः सामान्यात्**- रक्त और पित्त समान गन्ध वर्ण के होते हैं। दोष और दूष्य में गन्ध एवं वर्ण की समानता होती है।

4.3.3 रक्तपित्तविकार का निदान :- आयुर्वेदीय साहित्य में इसके हेतुओं में अनेक आहार-विहारादि कारण बताए गए हैं। *चरकसंहिता* में रक्तपित्त के निदान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जब मनुष्य जई (जौ), वनकोदो और कोदो आदि अन्नों का अधिक मात्रा में सेवन करता है और बहुत अधिक गर्म तथा तीक्ष्ण अन्न को सेम, उड़द, कुलथी की दाल एवं क्षार के साथ सेवन करता है। यदि मनुष्य दही, दही का पानी, मट्ठा, मक्खन निकाला हुआ मट्ठा और काञ्जी के साथ भोजन करता है। भैंस, भेड़, सूअर, मछली, गोमांस, तिल की खली, आलू तथा सूखे शाकों के साथ मिलाकर भोजन करता है। मूली, सरसों, लहसुन, करञ्ज, सहिजन, मीठा सहिजन, कढ़ी, काली तुलसी, तुलसी, चटनी का भी अधिक मात्रा में सेवन करता है। सुरा, सौवीर, तुषोदक, मेदक, मधूलक, सिरका, बड़ी बेर एवं खट्टी बेर को अनुपान के रूप में प्रयोग करता है। चावल या दालों को पीसकर बने हुए पदार्थों का सेवन करने के बाद अनुपानरूप में सुरा आदि का प्रयोग करता है। गर्मी से व्याकुल होकर अधिकतर या बार-बार कच्चे दूध का सेवन करता है या वह दूध के साथ रोहिणी मछली की सब्जी का सेवन करता है या सरसों के तेल में क्षार के साथ पका हुआ जंगली कबूतर के मांस का सेवन करता है। तिल की खली, कुलथी, जामुन या बड़हल के पके हुए फलों के साथ या सिरका के साथ उष्णता से आक्रान्त स्थिति में दूध पीता है, तब उस मनुष्य का पित्त प्रकुपित हो जाता है और रक्त के परिमाण को बढ़ा देता है।[392]

[392] *च०सं०,नि०* 2/4

चरकसंहिता के चिकित्सास्थान में उपरोक्त कारणों से रक्तपित्तविकार का उद्भव स्वीकार किया गया है-

"तस्योष्णं तीक्ष्णमम्लं च कटूनि लवणानि च। घर्मश्चान्नविदाहश्च हेतुः पूर्वं निदर्शितः"॥[393]

अर्थात् इस रक्तपित्त विकार के उष्ण पदार्थ, तीक्ष्ण पदार्थ, अम्ल एवं कड़वे पदार्थ, लवण, धूप तथा विदाह कारक कारण हैं, जिनसे पित्त रक्त को दूषित करता है। इस अग्नि के समान शीघ्र विनाशकारी, तीव्र वेगवाले महाविकार रक्तपित्तरोग का अतिशीघ्र उपचार करना चाहिए। *सुश्रुतसंहिता* में रक्तपित्त विकार के उपर्युक्त कारणों को स्वीकार किया गया है तथा इसके साथ ही भय, क्रोध, श्रम से रक्तपित्तविकार का उद्भव होता है, ऐसा स्वीकृत है-

"क्रोधशोकभयायासविरुद्धान्नातपानलान्। कट्वम्ललवणक्षारतीक्ष्णोष्णातिविदाहिनः"॥[394]

अर्थात् रक्तपित्तरोग में क्रोध, शोक, भय, श्रम, विरुद्ध आहार, धूप का अधिक सेवन, अग्नि के समीप अधिक रहना, कड़वा, खट्टा, लवण, क्षार, तीक्ष्ण उष्णवीर्य एवं अतिविदाही पदार्थों का सेवन कारण हैं। वाग्भट ने *अष्टाङ्गहृदय* में रक्तपित्तविकार[395] के उपरोक्त कारण स्वीकार किए हैं। चरक ने रक्तपित्तविकार का एक विशेष कारण स्वीकार किया है। चरकानुसार प्रायः स्निग्ध और ऊष्णता युक्त आहार-विहार एवं अन्नपान का सेवन ऊर्ध्व रक्तपित्त का कारण होता है तथा रूक्ष, उष्ण आहार-विहार एवं अन्नपान करना अधोमार्ग रक्तपित्त का हेतु होता है-

"स्निग्धोष्णमुष्णरूक्षं च रक्तपित्तस्य कारणम्। अधोगस्योत्तरं प्रायः पूर्वं स्यादूर्ध्वगस्य तु"॥[396]

इस प्रकार विषम भोजन का सेवन करने पर रक्तपित्तविकार का उद्भव होता है व वर्जित विहार को ग्रहण करने के कारण भी विकार की उत्पत्ति सम्भव है।

---

393 *च०सं०,चि०* 4/6

394 *सु०सं०,उ०* 45/3

395 भृशोष्णतीक्ष्णकट्वम्ललवणादिविहाहिभिः। कोद्रवोद्दालकैश्चान्नैस्तद्युक्तैरतिसेवितैः॥ *अ०हृ०,नि०* 3/1

396 *च०सं०, चि०* 4/23

4.3.4 रक्तपित्तविकार के पूर्वरूप :- आयुर्वेदीय संहिताओं में रक्तपित्तव्याधि के अनेक पूर्वरूपों की विवेचना की गई है। *चरकसंहिता* में इस विकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसके पूर्वरूपों में प्रथमतया मनुष्य को भोजन करने की इच्छा नहीं होती, यदि वह भोजन कर भी लेता है तब अन्न का विदाह हो जाता है और गले में जलन आरम्भ हो जाती है, सिरके जैसी खट्टी और वैसी ही गन्धवाली डकार आती है। उसे बार-बार उल्टी आती है, उल्टी करते समय आँखे तिरछी हो जाती है एवं आँख-नाक से पानी निकलना प्रारम्भ हो जाता है तथा मुँह से लार टपकती हुई चेहरा भयानक दिखाई देता है। शरीर के सम्पूर्ण अंगों में जलन हो जाती है। उसके मुख से लोहा, रक्त, मछली और अपक्व अन्न जैसी गन्ध आती है। शरीर के हाथ-पैर आदि अंग, मल-मूत्र-स्वेद-थूक-नाक का मल, मुख-कान का मल, आँख का मल और त्वचा पर उठने वाली फुन्सियाँ लाल रंग की हरी या हल्दी के रंग की होती है। शरीर के अंगों में दर्द रहने लगता है। उसके स्वप्न में बारम्बार लाल, पीले या काले रंग वाले रूप या प्रज्वलित अग्नि की ज्वाला दिखाई देती है।[397] *सुश्रुतसंहिता* में रक्तपित्तविकार में पूर्वोक्त पूर्वरूपों के अतिरिक्त ठण्डी पदार्थों के सेवन की इच्छा, गले से धूएँ की सी उल्टी की पीड़ा वाले लक्षण दिखाई देते हैं-

"सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः॥ लोहगन्धिश्च निःश्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति"।[398]

अष्टाङ्गहृदय में पूर्वोक्त लक्षणों को स्वीकार किया गया है इन लक्षणों के अतिरिक्त मनुष्य को उल्टी निकले हुए पदार्थों का घृणाजनक होना, कास-श्वास की वृद्धि, चक्कर आना, सुस्ती आदि लक्षण भी दिखाई देते हैं।[399] इस प्रकार शरीर में अनेक लक्षण अव्यक्तावस्था में होते हैं, जो कुछ क्षण पश्चात् स्पष्ट दिखाई देते हैं।

---

[397] *च०सं०, नि०* 2/6

[398] *सु०सं०, उ०* 45/ 7-8

[399] शिरोगुरुत्वमरुचिः शीतेच्छा धूमकोऽम्लकः।
छर्दिश्छर्दितवैभत्स्यं कासः श्वासो भ्रमः क्लमः। लोहलोहितमत्स्यामगन्धास्यत्वं स्वरक्षयः॥
रक्तहारिद्रहरितवर्णता नयनादिषु। नीललोहितपीतानां वर्णानामविवेचनम्॥

4.3.5 रक्तपित्तविकार के उपद्रव :- *चरकसंहिता* के निदानस्थान में रक्तपित्तविकार के अनेक उपद्रवों का वर्णन समुलब्ध होता है **"उपद्रवास्तु खलु दौर्बल्यारोचकाविपाकश्वासकासज्वरातीसारशोफशोषपाण्डुरोगाः स्वरभेदश्च"** अर्थात् मनुष्य के रक्तपित्तविकार से पीड़ित होने पर दुर्बलता, भोजन में अरुचि, अपचन, श्वास, खाँसी, ज्वर, दस्त, सूजन, शोष, पाण्डुरोग एवं स्वरभेद उपद्रव होते हैं।[400] *सुश्रुतसंहिता* में रक्तपित्त विकार के उपर्युक्त उपद्रवों को स्वीकार किया गया है। पूर्वोक्त उपद्रवों के अतिरिक्त सुपारी खाने की-सी मत्तता, तन्द्रा, खाने के बाद जलन, असन्तोष, हृदय में असाधारण पीड़ा, अधिक प्यास लगना, गले में भेदन सदृश वेदना, सुख का अभाव आदि लक्षण होते हैं।[401] वाग्भट ने *अष्टाङ्गहृदय* के शारीरस्थान में रक्तपित्तविकार के उपद्रवों का वर्णन किया है, इसके होने पर रक्त यदि अत्यधिक लाल हो या अत्यधिक काला हो या इन्द्रधनुष के समान अनेक वर्णों वाला हो अथवा ताम्रवर्ण का हो या हल्दी के वर्ण का हो या हरे रंग का हो। जिसके कारण रक्तपित्तविकार से पीड़ित व्यक्ति को सभी वस्तुएँ लाल दिखाई देती है।[402]

4.3.6 रक्तपित्तविकार की सम्प्राप्ति :- उपर्युक्त कारणों से बढ़ा हुआ पित्त जब अपने स्थान से निकलकर रक्त धातु में मिल जाता है, तब वह पित्त रक्त से ही उत्पन्न होने के कारण उस रक्त में जाकर और अधिकरूप में बढ़ जाता है और उसे दूषित कर देता है। उस पित्त की ऊष्मा से मांस आदि धातुओं से रक्त में द्रवांश का खिंचाव होता है, जिससे रक्तवाहिनियों में रक्त की वृद्धि होती है।

स्वप्ने तद्वर्णदर्शित्वं भवत्यस्मिन् भविष्यति। *अ०हृ०, नि०* 3/4-7

[400] *च०सं०, नि०* 2/7

[401] दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदास्तन्द्रितादाहमूर्च्छा भुक्ते चान्ने विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा।
तृष्णा कण्ठस्य भेदः शिरसि च दवनं पूतिनिष्ठीवनं च द्वेषो भक्तेऽविपाको विरतिरपि रते रक्तपित्तोपसर्गाः॥
सु०सं०, उ० 45/9

[402] रक्तपित्तं भृशं रक्तं कृष्णमिन्द्रधनुष्प्रभम्। ताम्रहारिद्रहरितं रूपं रक्तं प्रदर्शयेत्॥ *अ०हृ०, शा०* 4/74

पित्तदोष सामान्य प्रमाण से अधिक रक्त होने के कारण गौरव तथा तनावयुक्त रक्तवहस्रोतों को रोककर विकृति उत्पन्न कर देता है, जिसके कारण सिरा-धमनी तथा कोशिकाओं के फटने से रक्तपित्त विकार की उत्पत्ति हो जाती है। *चरकसंहिता* में रक्तपित्त की सम्प्राप्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उपर्युक्त कारणों से रक्त की मात्रा बढ़ने पर कुपित पित्तदोष सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है और यकृत् एवं प्लीहा से उत्पन्न होने वाले रक्त को बहाने वाले स्रोतों के रक्त के प्रवाह से भरे होने पर भारी हुए मुखों तक पहुँचकर उन्हें अवरुद्ध कर देता है, तब वही पित्तदोष रक्त को दूषित कर देता है।[403] इसी बात को चरक चिकित्सास्थान में अधिक स्पष्टरूप से कहते हैं। पूर्वोक्त में स्वीकृत उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल आदि कारणों के सेवन से आमाशय में चलायमान दूषित पित्त रक्तधातु में सम्मिलित हो जाता है। समानयोनि होने से पित्तदोष जब रक्त में जाता है तब वह रक्त को दूषित कर देता है। अतः रक्त की उष्णता पित्त के संसर्ग में आने से बढ़ जाती है और ऊष्मा के प्रभाव से अन्य मांस आदि धातुओं से द्रवरूप रक्तधातु क्षरित होने लगता है तथा रक्त की ऊष्मा के स्वेदन से मांसादि धातुगत पित्तरूपी द्रवांश बढ़कर रक्त में आने से रक्त की वृद्धि हो जाती है।[404]

सुश्रुतसंहिता में वर्णित है कि क्रोधादि एवं कड़वे-अम्लादि के प्रतिदिन भोजन रूप में लेने से मनुष्य की रसधातु विकारग्रस्त होकर पित्त को प्रकुपित कर देता है। इस प्रकार विदग्ध हुआ पित्तदोष तीक्ष्ण, उष्ण आदि अपने गुणों से रक्त को प्रदूषित कर देता है। इससे रक्त अधो एवं ऊर्ध्व मार्ग से निःसरित होने लगता है-

"नित्यमभ्यसतो दुष्टो रसः पित्तं प्रकोपयेत्। विदग्धं स्वगुणैः पित्तं विदहत्याशु शोणितम्॥

---

[403] तस्मिन् प्रमाणातिवृत्ते पित्तं प्रकुपितं शरीरमनुसर्पद्यदेव यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवहानां च स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखान्यासाद्य प्रतिरुन्ध्यात् तदेव लोहितं दूषयति॥ *च०सं०,नि०* 2/4

[404] तैर्हेतुर्भिः समुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रपद्यते। तद्योनित्वात् प्रपन्नं च वर्धते तत् प्रदूषयत्॥
तस्योष्णा द्रवो धातुर्धातोः प्रसिच्यते। स्विद्यतस्तेन संवृद्धिं भूयस्तदधिगच्छति॥ *च०सं०, चि०* 4/7-8

ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा"।[405]

अष्टाङ्गहृदय में उपरोक्त कारणों से रक्तपित्तविकार की सम्प्राप्ति होती है- "**कुपितं पित्तलैः पित्तं द्रवं रक्तं च मूर्च्छिते। ते मिथस्तुल्यरूपत्वमागम्य व्याप्नुतस्तनुम्"॥**[406] पित्तवर्धक उष्णवीर्य द्रव्यों के अधिक सेवन करने से पित्त कुपित हो जाता है और वह द्रवीभूत होकर रक्तधातु के साथ मिलकर समानरूपता को पाकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है अर्थात् ऊर्ध्व एवं अधो मार्ग से बाहर निकलता रहता है। अतः यह विकार सम्पूर्ण शरीर में फैलकर ऊपर व नीचे के मार्गों से बाहर निकलने लगता है। इसलिए वैद्य द्वारा अधिक समय न व्यतीत करते हुए उपचार करना चाहिए।

रक्तपित्तविकार सम्प्राप्ति[407]

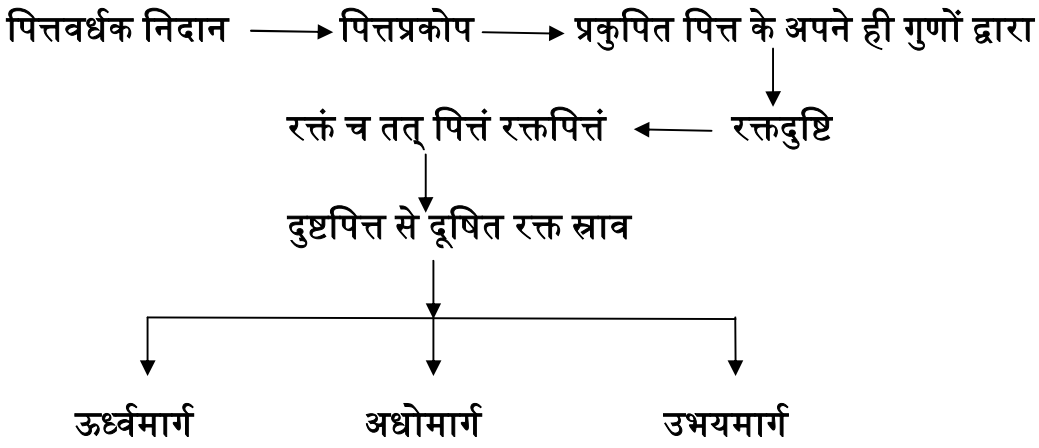

4.3.7 रक्तपित्तविकार के भेद :- आयुर्वेदीय संहिताओं में रक्तपित्तव्याधि के सात भेदों का वर्णन प्राप्त होता है। इन्हें दोषानुसार स्रावित कर इसके गुणों के आधार पर विभक्त किया गया है। *चरकसंहिता* में इस विकार के भेदों का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम स्रावित गुणों को आधार बनाया है।

---

[405] *सु०सं०,उ०* 45/4-5

[406] *अ०हृ०, नि०* 3/2

[407] *च०सं०,* भाग-1, पृ० 485

चरक ने कहा है कि जब रक्तपित्त में निकलने वाला रक्त गाढ़ा, पीतवर्ण युक्त, स्नेहसहित एवं चिपचिपा हो, तब उसे कफदोष से युक्त रक्तपित्तविकार समझना चाहिए। जब रक्तपित्त में निःसरित होने वाला रक्त स्याही के समान लाल, झागयुक्त, पतला और रूखा दिखाई दे, तब उसे वातज रक्तपित्तव्याधि समझना चाहिए और जब रक्तपित्त में शरीर से निकलने वाला रक्त गैरिकवर्ण, श्यामवर्ण, गोमूत्र के वर्ण सदृश, मेचक वर्ण, घर के धुएँ के रंग के समान वर्ण या अञ्जन जैसी आभा से युक्त हो, तब उसे पैतिक रक्तपित्तविकार जानना चाहिए। द्वन्द्वज रक्तपित्त दो दोषों के संसर्ग से एवं तीनों दोष के योग से सान्निपातिक रक्तपित्तविकार समझना चाहिए।[408]

सुश्रुतसंहिता में रक्तपित्तविकार के उपरोक्त भेदों को स्वीकार किया गया है- वातदोष से दूषित हुआ रक्त फेनयुक्त, अरूणवर्ण, काला, पैच्छिल्य रहित, पतला, जल्दी निकलने वाला और न जमने वाला होता है, पित्तदोष से प्रदूषित हुआ रक्त नीला, पीतवर्ण, हरा, श्याव, अपक्व गन्धयुक्त होता है जो चींटियों और मक्खियों को अच्छा नहीं लगता तथा वह जमता नहीं है। कफदोष द्वारा दूषित हुआ रक्त गेरू के पानी जैसा स्निग्ध, ठण्ड़ा, घना, चिपचिपा और चिरस्रावी होने से मांसपेशी की तरह दिखाई देता है। द्वन्द्वज रक्तपित्तविकार में दो दोषों द्वारा दूषित रक्त सम्मिलित लक्षणों वाला होता है एवं सान्निपातिक रक्तपित्तविकार त्रिविध दोषों से दूषित होता हुआ रक्त, उपरोक्त सभी लक्षणों से युक्त, काञ्जी समान और विशेषकर दुर्गन्ध युक्त होता है।[409] अतः इस प्रकार इसके सात भेद हैं, जिनमें रक्त का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसके विभिन्न प्रकार का होने के कारण स्पष्टतया समझा जा सकता है कि इसमें कौन से दोष की वृद्धि हुई है।

---

[408] सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम्। श्यावरुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम्॥
रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसन्निभम्। मेचकागारधूमाभसभमञ्जनाभं च पैत्तिकम्॥
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम्। *च०सं०,चि०* 4/11-13

[409] *सु०सं०,सू०* 14/22

4.3.8 रक्तपित्तविकार की गतियाँ :- जब मनुष्य के शरीर में पित्तदोष की अभिवृद्धि होती है तब बढ़ा हुआ पित्तदोष रक्त में वृद्धि करके उसे शरीर से बाहर निकाल देता है। शरीर में रक्त अधो एवं ऊर्ध्वमार्ग से बाहर निकलता है जिसे आयुर्वेद में गति कहा गया है। *चरकसंहिता* में रक्तपित्तविकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि-

"गतिरूर्ध्वमधश्चैव रक्तपित्तस्य दर्शिता। ऊर्ध्वा सप्तविधद्वारा द्विद्वारा त्वधरा गतिः॥

सप्तच्छिद्राणि शिरसि, द्वे चाधः"।[410]

अर्थात् रक्तपित्त की ऊर्ध्व एवं अधोगति बताई गई है। ऊर्ध्वगति के सात मार्ग एवं अधोगति के दो मार्ग होते हैं। सिर में सात छिद्र दो आँख, दो कान, दो नाक एवं एक मुख और नीचे के एक गुदा मार्ग एवं मूत्रमार्ग अधोमार्ग हैं। जब शरीर के सभी छिद्रों एवं रोमकूपों से भी रक्तपित्त निकलने लगता है तब इस अवस्था में रक्तपित्त की असंख्य गतियाँ होती हैं और यह मार्ग जीवन को समाप्त कर देता है। इन गतियों से रक्त दोषानुसार ही बाहर निकलता है। कफदोष के संसर्ग से ऊपर उठता हुआ रक्तपित्त कान, नाक, आँख एवं मुख से निकलने लगता है। जिस शरीर में वात अधिक बढ़ जाता है उसमें वायु के संसर्ग द्वारा नीचे के मार्ग में पहुँचकर मूत्र एवं मल के मार्गों से बाहर निकलना प्रारम्भ कर देता है। जिस मनुष्य के शरीर में पित्तदोष के साथ-साथ वात एवं कफदोष दोनों की वृद्धि हो जाती है, उसमें दोनों दोषों के संसर्ग से ऊपर एवं नीचे के मार्गों से रक्तपित्त निकलता है एवं साथ ही रोमकूपों से निकलना प्रारम्भ हो जाता है। *सुश्रुतसंहिता* में केवल ऊर्ध्व, अधो एवं उभयमार्ग का उल्लेख मिलता है परन्तु इन दोनों मार्ग में कौन-कौन से छिद्र हैं उसका वर्णन प्राप्त नहीं होता। यह वर्णन भी साध्य, याप्य एवं असाध्य के सन्दर्भ में मिलता है "**ऊर्ध्वं साध्यमधोयाप्यमसाध्यं युगपद्गतम्**"।[411]

---

[410] *च०सं०,नि०* 4/15-16

[411] *सु०सं०, उ०* 45/7

अष्टाङ्गहृदय में वाग्भट ने चरकोक्त रक्तपित्तव्याधि की गतियाँ स्वीकार की है यह विकार ऊर्ध्वगामी नासिका के छिद्रों से, नेत्रों से, कानों से तथा मुँह से बाहर निकलता है। अधोगामी रक्तपित्त मूत्रमार्ग एवं गुदा मार्ग से निकलता है। जब रक्तपित्त अधिक प्रकुपित हो जाता है तब दोनों मार्गों से निकलने के साथ-साथ शरीर के सम्पूर्ण रोमकूपों से भी निकलने लगता है।[412] अतः इसकी ऊर्ध्व एवं अधो गतियों के साथ-साथ सम्पूर्ण रोएँ भी गतियाँ हैं।

4.3.9 रक्तपित्तविकार की साध्यासाध्यता :- आयुर्वेदीय साहित्य में ऊर्ध्वमार्ग को साध्य स्वीकार किया गया है क्योंकि उसकी चिकित्सा सुविधापूर्ण होती है। इस मार्ग के लिए विरेचन द्वारा उपचार किया जा सकता है तथा इसकी चिकित्सा में उपयोग के लिए औषधियाँ भी बहुत उपलब्ध हो जाती है। अधोमार्ग से निःसरित होने वाले रक्तपित्तव्याधि को याप्य कहा जा सकता है क्योंकि इसमें मनुष्य पूर्णरूप से स्वस्थ नहीं होता। इसमें जब तक मनुष्य औषधियों का सेवन करता रहता है, तब तक स्वस्थ रहता है। इस मार्ग द्वारा निकलने वाले रक्तपित्त की वमन द्वारा प्रशमन किया जाता है। इसके लिए औषधियाँ भी कम मात्रा में प्राप्त होती है। जिस मनुष्य के शरीर से रक्तपित्त दोनों मार्गों से निकलता है, वह असाध्य रोग होता है, क्योंकि उसकी चिकित्सा न तो वमन से की जा सकती है और न ही विरेचन से हो सकती है तथा इसकी कोई विशेष औषधी भी उपलब्ध नहीं होती। आयुर्वेद साहित्य में साध्य रोग उसे ही स्वीकार किया गया है जिसमें रोगी बलवान् हो, रक्तस्राव का वेग अधिक नहीं हुआ हो, रोग नूतन हो, रोग हेमन्त या शिशिर ऋतु में हो, रक्त किसी एक मार्ग से आ रहा हो, कोई उपद्रव नहीं हुआ हो। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि **"तत्र यदूर्ध्वभागं तत् साध्यं, विरेचनोपक्रमणीयत्वाद् बह्वौषधत्वाच्च ; यदधोभागं तद् याप्यं, वमनोपक्रमणीयत्वादल्पौषधत्वाच्च। यदुभयभागं तदसाध्यं वमनविरेचनायोगित्वादनौषधत्वाच्चेति"॥**[413]

---

[412] ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैर्मेढ्रयोनिगुदैरधः॥ कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्तते। *अ०हृ०, नि०* 3/7-8

[413] *च०सं०,नि०* 2/9

सुश्रुतसंहिता एवं *अष्टाङ्गहृदय* में उपरोक्त रक्तपित्तविकार[414] की साध्यासाध्यता स्वीकार की गई है। अतः इस विकार में ऊर्ध्वगामी विकार साध्य, अधोमार्गी याप्य एवं दोनों मार्गी असाध्य है जिसका उपचार करने से कोई लाभ पीड़ित को नहीं होता।

4.4.1 पाण्डुविकार परिचय :- आयुर्वेदीय संहिताओं एवं अन्य ग्रन्थों में पाण्डु तथा कामला रोग का साथ-साथ एक अध्याय में वर्णन किया गया है। शरीर की त्वचा में रक्ताल्पाजन्य पाण्डुता एवं कामलाजन्य पीतता को विशेष महत्त्व देने के कारण ही त्वचा की वर्ण विकृति के कारण आयुर्वेदज्ञों ने पाण्डु एवं कामला रोग का वर्णन एक साथ किया है। शास्त्रकारों ने कामला व्याधि को पाण्डु का उपद्रव स्वीकार कर **'परतंत्र कामला'** की कल्पना की, जो केवल अंशतः ही सत्य द्योतित होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से पाण्डु एवं कामलाविकार की दो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होते हुए भी कई प्रकार के कामला रोग पाण्डु के अन्तर्गत परतंत्र स्वीकार किए जा सकते हैं। वस्तुतः पाण्डु तथा कामलाव्याधि में रक्त की विकृति प्रधान होती है तथा दोनों रोगों में पित्तदोष प्रधान होता है। पाण्डुविकार के कारणों में **'मृत्तिका भक्षण'** एवं **'कृमिकोष्ठता'** का आयुर्वेदीय संहिताओं में उल्लेख अत्यन्त समीचीन है। पाण्डुविकार में शोथ तथा अतिसार जैसे लक्षणों का सम्बन्ध भी रोग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वाग्भट ने *अष्टाङ्गहृदय* के निदानस्थान में पाण्डु एवं शोथविकार का एक ही अध्याय में साथ-साथ वर्णन किया है। वर्तमान समय में भी पाण्डुविकार से पीड़ित व्यक्ति में शोथ देखने को मिलता है। कभी-कभी जीर्ण अतिसार के कारण पोषण के अभाव में पाण्डु तथा शोथविकार एक साथ विद्यमान रहते हैं। आयुर्वेदीय संहिताओं में पाण्डु एवं कामला व्याधि की चिकित्सा समान कही गई है। इनकी चिकित्सा में लौह एवं मण्डूर के योगों का प्रचुरमात्रा में प्रयोग किया गया है, जिससे पुरातन आचार्यों के औषधीय ज्ञान में वैज्ञानिकता की झलक मिलती है और ऐसा मालूम होता है कि आयुर्वेदज्ञों को रक्त-निर्माण की प्रक्रिया तथा उसमें लौह धातु के योगदान का सम्यक् रूप से ज्ञान था।

---

[414] *सु०सं०,उ०* 45/7, *अ०हृ०,नि०* 3/9,11,13

पाण्डुरोग को आधुनिक चिकित्सक अनीमिया व्याधि के रूप में स्वीकार करते हैं। यह रक्त की कमी से होने वाला रोग है। रक्त का निर्माण कम होने पर शरीर में पाण्डुता पाई जाती है। भोजन में लौह तत्त्व की कमी, विटामिन-सी की कमी, थाईरॉक्सीन की कमी आदि भी इसके प्रमुख कारण स्वीकृत हैं। मनुष्य के शरीर में संक्रमण की उपस्थिति, एक्स-रे, रेडियम के दुष्प्रभाव के कारण भी अस्थिमज्जा का रक्तकण-निर्माण प्रभावित हो जाता है। शरीर में ल्यूकीमिया आदि विकारों की विद्यमानता, रक्तसंलयन जैसे अन्तर्वाहिका विनाश आदि पाण्डुव्याधि के कारण हैं।

4.4.2 पाण्डुविकार का निदान :- आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में पाण्डुरोग के निदानों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। *चरकसंहिता* में पाण्डुविकार का निदानस्थान में वर्णन नहीं प्राप्त होता, किन्तु चिकित्सास्थान में विस्तारपूर्वक उल्लेख मिलता है। चरक ने इस विकार का वर्णन करते हुए कहा है कि क्षार, अम्ल, लवण, अधिक गर्म, परस्पर विरुद्ध एवं प्रकृति विरुद्ध तथा अहितकर आहार का सेवन करने से ; उड़द, सेम, तिल की खली एवं तिल के तेल का सेवन करने से ; भोजन के विदग्धाजीर्ण की स्थिति में व्यायाम या मैथुन करने से, दिन में सोने के कारण, वमन-विरेचन आदि के व्यतिक्रम से, ऋतुओं की विषमता से, मल-मूत्र के वेगों को अधिक समय तक रोकने के कारण, काम-चिन्ता-क्रोध या शोकग्रस्त होने से हीन मनोबल वाले मनुष्य के हृदय में विद्यमान साधक पित्त की वृद्धि हो जाती है और वायु के प्रबल वेग से पित्त हृदय से सम्बद्ध दस धमनियों में पहुँच जाता है। तत् पश्चात् पित्त सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर त्वचा एवं मांस में स्थानसंश्रय करता है।[415] शरीर का वर्ण आहार पर निर्भर करता है। इसलिए आहार का सन्तुलित होना तथा खाए हुए अन्न का शरीर द्वारा भली प्रकार उपयोग करना जरूरी है।

---

[415] क्षाराम्ललवणात्युष्णविरुद्धासात्म्यभोजनात्। निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात्॥
विदग्धेऽन्ने दिवास्वप्नाद् व्यायामान्मैथुनात्तथा। प्रतिकर्मर्तुवैषम्याद्वेगानां च विधारणात्॥
कामचिन्ताभयक्रोधकोपहतचेतसः। समुदीर्णं यदा पित्तं हृदये समवस्थितम्॥
वायुना बलिना क्षिप्तं सम्प्राप्य धमनीर्दश। प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसान्तरमाश्रितम्॥ *च०सं०, चि०* 16/7-10

उपरोक्त कारणों में से कुछ का भोजन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और कुछ पाचन सम्बन्धी विकार उत्पन्न कर शरीर में पाण्डुता लाते हैं। *सुश्रुतसंहिता* में पाण्डुरोग के उपरोक्त कारणों को स्वीकार किया गया है तथा मिट्टी खाने के कारण भी इस रोग की उत्पत्ति बताई गई है-

"व्यवायमम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम्।

निषेवमाणस्य विदूष्य रक्तं कुर्वन्ति दोषास्त्वचि पाण्डुभावम्"॥[416]

अर्थात् मैथुनकार्य अधिक मात्रा में करने से, अम्ल पदार्थ, लवण, मद्य, मिट्टी का सेवन, दिन में सोना, तीक्ष्ण द्रव्यों का अत्यधिक सेवन करने से प्रकुपित दोष रक्त को दूषित करके त्वचा में पाण्डुता ला देते हैं। वाग्भट ने पाण्डुव्याधि में आहार एवं विहार को स्पष्टरूप से तो वर्णन नहीं किया है परन्तु उन्होंने कहा है कि पित्तदोष प्रधान वातादि दोषों को जब कुपित करते हैं, तब उन सभी में वातदोष द्वारा प्रेरित किया गया पित्तदोष अपने आश्रयस्थान से बाहर आकर हृदयप्रदेश में उपस्थित हो जाता है और वहाँ से दस धमनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में पहुँचकर तथा फैलकर कफ, त्वचा, रक्त एवं मांस धातु को दूषित कर देता है। इस प्रकार त्वचा एवं मांस के बीच में स्थित होकर अनेक प्रकार के पाण्डु, हल्दी के समान अर्थात् हरे वर्ण शरीर में दिखाई देने लगते हैं।[417] अतः अनियमित आहार-विहार के सेवन करने से इस विकार की उत्पत्ति होती है तथा कुछ प्रदेशों में महिलाएँ व छोटे बच्चे चूल्हे की मिट्टी, मुल्तानी मिट्टी खाते हैं इससे भी पाण्डुविकार की उत्पत्ति होती है।

---

416 *सु०सं०, उ०* 44/3

417 पित्तप्रधानाः कुपिता यथोक्तैः कोपनैर्मलाः। तत्रानिलेन बलिना क्षिप्तं पित्तं हृदि स्थितम्॥
धमनीर्दश सम्प्राप्य व्याप्नुवत्सकलां तनुम्। श्लेष्मत्वग्रक्तमांसानि प्रदूष्यान्तरमाश्रितम्॥
त्वङ्मांसयोस्तत्कुरुते त्वचि वर्णान् पृथग्विधान्। पाण्डुहारिद्रहरितान् पाण्डुत्वं तेषु चाधिकम्॥ *अ०हृ०,नि०* 13/1-3

4.4.3 पाण्डुविकार के पूर्वरूप :- *चरकसंहिता* में पाण्डुविकार का विवेचन करते हुए इसके पूर्वरूपों का इस प्रकार वर्णन किया गया है- मनुष्य के शरीर में रूक्षता आ जाती है, हृदय की गति बढ़ जाती है, पसीना नहीं आता एवं शरीर में थकावट महसूस होती है "**तस्य लिङ्गं भविष्यतः। हृदयस्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः श्रमस्तथा"॥**[418] यदि पीड़ित व्यक्ति का शरीर शिथिल हो गया हो, परिश्रम करने पर उथला सांस लेता हो, त्वचा में स्पष्टतया पीलापन और हीमोग्लोबीन की कमी दिखाई देती हो, तो यह अवस्था रक्तन्यूनता जाननी चाहिए। चरकोक्त पाण्डुविकार के पूर्वरूपों को *सुश्रुतसंहिता* में भी स्वीकृत हैं तथा इनके अतिरिक्त पूर्वरूप स्वीकार किए हैं-**"त्वक्स्फोटनं ष्ठीवनगात्रसादौ मृद्भक्षणं प्रेक्षणकूटशोथः। विण्मूत्रपीतत्वमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि"॥**[419] अर्थात् पाण्डुविकार के होने पर त्वचा का फटना, थूकना, शरीर में शैथिल्य, मिट्टी खाने की इच्छा, नेत्रों में सूजन, मल का मटमैला होना, मूत्र का पीलापन एवं खाए हुए आहार का सम्यक् रूप से पाचन न होना, ये पूर्वरूप हैं। *अष्टाङ्गहृदय* में पूर्वोक्त लक्षण[420] शरीर में दिखाई देते हैं। इस प्रकार शरीर में व्याधि के लक्षण धीरे-धीरे दिखाई देने लगते हैं तथा कुछ समय पश्चात् यें लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं।

4.4.4 पाण्डुविकार के रूप :- आयुर्वेदग्रन्थों में पाण्डुविकार के होने पर अनेक लक्षण प्रत्यक्षतः शरीर में दिखाई देते हैं। *चरकसंहिता* में विवेचित है कि इस व्याधि के उत्पन्न होने पर सभी प्रकार के रोगियों को कानों में सायँ-सायँ ध्वनि सुनाई देती है, उनकी जठर अग्नि नष्ट हो जाती है। वह दुर्बल हो जाता है तथा शरीर में थकावट, भोजन के प्रति अरुचि, श्रम तथा भ्रम से ग्रस्त हो जाता है। इस व्याधि से ग्रस्त व्यक्ति के अङ्गों में पीड़ा, ज्वर, श्वास, भारीपन और अरुचि से युक्त होता है।

---

[418] *च०सं०, चि०* 16/12

[419] *सु०सं०, उ०* 44/5

[420] प्राग्रूपमस्य हृदयस्पन्दनं रूक्षता त्वचि। अरुचिः पीतमूत्रत्वं स्वेदाभावोऽल्पवह्निता॥
सादः श्रमो। *अ०हृ०,नि०* 13/8-9

यथा- उसके शरीर के अंगों को मसल दिया गया हो, दबा दिया गया हो या मथ दिया गया हो, ऐसी पीड़ा उस रोगी को होती है। अक्षिकूट में सूजन, त्वचा के रंग में हरापन, रोमों का गिरना, शरीर की कान्ति का नाश होना, अकारण क्रोध आना, शीतल वस्तुओं से द्वेष करना, अधिक सोना और बार-बार थूकते रहना, ये सभी लक्षण पाण्डुविकार के होने पर दिखाई देते हैं। इस व्याधि से पीड़ित व्यक्ति कम बोलता है, उसकी पिण्डलियों में ऐंठन हो जाती है, उसकी कमर, उरु प्रदेश और पैरों में दर्द होता है और ऊँचे स्थान पर चढ़ने से आयास तथा थकावट का अनुभव होता है।[421]

सुश्रुतसंहिता में इस रोग के पूर्वोक्त लक्षणों को स्वीकार किया गया है तथा इनके अतिरिक्त लक्षण बताए गए हैं- इस विकार से पीड़ित व्यक्ति की भोजन में अरुचि, प्यास, वमन, ज्वर, सिरदर्द, मन्दाग्नि, कंठगत सूजन, निर्बलता, थकान एवं हृदय में पीड़ा होने लगती है।[422] वाग्भट ने चरकोक्त लक्षणों को स्वीकार किया है। *अष्टाङ्गहृदय* के निदानस्थान में इस विकार का विवेचन करते हुए कहा गया है कि इस व्याधि के होने पर शरीर में भारीपन का अनुभव होता है, रस आदि धातुओं में शिथिलता आ जाती है, ओज धातु के बल, वर्ण आदि गुणों का ह्रास होने लगता है। तदुपरान्त रक्त एवं मेद धातु क्षीण होने लगती है, शारीरिक बल घट जाता है, इसलिए उसकी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे शरीर के अंगों को कोई मसल रहा हो, इस प्रकार की पीड़ा होती है और हृदय में धड़कन बढ़ने लगती हैं, नेत्रों में सूजन आ जाती है, स्वभाव क्रोधी हो जाता है। वह बार-बार थूकता रहता है, कम बोलता है, भोजन में रूचि नहीं रहती, ठण्ड़ी वस्तुओं से उसे द्वेष होता है, रोम गिर जाते हैं।

---

[421] सम्भूतेऽस्मिन् भवेत् सर्वः कर्णक्ष्वेडी हतानलः। दुर्बलः सदनोऽन्नद्विट्श्रमभ्रमनिपीड़ितः॥
गात्रशूलज्वरश्वासगौरवारुचिमान्नरः। मृदितैरिव गात्रैश्च पीड़ितोन्मथितैरिव॥
शूनाक्षिकूटो हरितः शीर्णलोमा हतप्रभः। कोपनः शिशिरद्वेषी निद्रालुः ष्ठीवनोऽल्पवाक्॥
पिण्डिकोद्वेष्टकठ्यूपादरुक्सदनानि च। भवन्त्यारोहणासैर्विशेषश्चास्य वक्ष्यते॥ *च०सं०, चि०* 16/13-17

[422] उपद्रवास्तेष्वरुचिः पिपासा छर्दिज्वरो मूर्धरुजऽग्निसादः।
शोफस्तथा कंठगतोऽबलत्वं मूर्च्छा क्लमो हृद्यवपीडनं च॥ *सु०सं०, उ०* 44/13

अग्नि क्षीण हो जाती है, टाँगों में वेदना होती है, ज्वर, श्वास तथा कानों में सायँ-सायँ की आवाज आने लगती है, चक्कर आना एवं बिना कार्य के थकावट हो जाती है।[423] अतः इस अवस्था में विकार के लक्षण शरीर में स्पष्ट देखे जा सकते हैं, जिन्हें पहचान कर वैद्य रोगी का उपचार कर सकता है।

4.4.5 पाण्डुविकार के भेद :- आयुर्वेद के ग्रन्थों में पाण्डुविकार के चार एवं पाँच भेद बताए गए हैं। चरक एवं वाग्भट इसके पाँच भेद स्वीकार करते हैं एवं सुश्रुत ने चार भेद स्वीकार किए हैं। *चरकसंहिता* में इस विकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि

"पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः। चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः"॥[424]

अर्थात् वातज, पित्तज और कफज ये तीन भेद हैं तथा इनके अतिरिक्त त्रिविध दोषों के संसर्ग से सन्निपातज एवं मिट्टी खाने से मृदभक्षणजन्य पाण्डुरोग होता है। *अष्टाङ्गहृदय* में पूर्वोक्त भेद[425] स्वीकार किए हैं। *सुश्रुतसंहिता* में मृत्तिकाभक्षणजन्य पाण्डुविकार को स्वीकार नहीं किया गया है अन्य भेद चरकानुसार ही हैं।

4.4.6 पाण्डुविकार की सम्प्राप्ति :- जब स्वप्रकोपक निदानों से प्रकुपित पित्त का सञ्चय और प्रकोप होकर, उसका प्रसर होता है, तब हृदय में स्थित साधक पित्त की वृद्धि हो जाती है। जब प्रबल वायु द्वारा वह पित्त प्रक्षिप्त होकर दस धमनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है और कफ-वात-रक्त-मांस एवं त्वचा को प्रदूषित करता है। तब शरीर की त्वचा एवं मांस के आभ्यन्तर स्थानसंश्रय करके त्वचा में पाण्डु आदि अनेक वर्णों का उद्भव हो जाता है, अतः इस व्याधि की उत्पत्ति होती है। *चरकसंहिता* में कहा गया है-

---

[423] *अ०हृ०, नि०* 13/4-7

[424] *च०सं०, चि०* 16/3

[425] स पञ्चधा पृथग्दोषैः समस्तैर्मृत्तिकादनात्।। *अ०हृ०, नि०* 13/7

"समुदीर्णं यदा पित्तं हृदये समवस्थितम्॥

वायुना बलिना क्षिप्तं सम्प्राप्य धमनीर्दश। प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसान्तरमाश्रितम्॥

प्रदूष्य कफवातासृक्त्वङ्मांसानि करोति तत्। पाण्डुहारिद्रहरितान् वर्णान् बहुविधांस्त्वचि"॥[426]

इस रोग के पूर्वरूप एवं रूप में बताए गए लक्षण प्रत्यक्ष रूप से शरीर में दिखाई देते हैं। मनुष्य द्वारा व्यवायादि के अतिसेवन करने से रक्त प्रदूषित हो जाता है तथा त्वचा को पाण्डु वर्ण का कर देता है। *सुश्रुतसंहिता* एवं *अष्टाङ्गहृदय* में सम्प्राप्ति के पूर्वोक्त लक्षण स्वीकार किए गये हैं। इस विकार की सम्प्राप्ति को सारणी द्वारा सरलतया समझाया जा सकता है।

पाण्डुविकार की सम्प्राप्ति[427]

(क्षार-अम्ल-लवण आदि निदान) ⟶ पित्त प्रधान वातादि दोषप्रकोप

↓

वायु द्वारा सम्पूर्ण देह में पित्त का प्रसर

↓

कफ-वात-रक्त आदि दूषण

↓

रक्त की कमी

↓

पाण्डुविकार ⟵ त्वचा का श्वेतपीत वर्ण, विवर्णता

4.4.7 पित्तजपाण्डुविकार के लक्षण :- आयुर्वेदानुसार जब पित्तप्रकृति का व्यक्ति पित्तप्रकोपक आहार-विहार का अधिक सेवन करता है, तब पित्त संचित होकर रक्त, त्वचा एवं मांस को दूषित करके **'पाण्डुरोग'** को उत्पन्न करता है। *चरकसंहिता* के अनुसार पित्तजपाण्डुविकार के निम्नोक्त लक्षण दिखाई देते हैं पित्तज पाण्डु से पीड़ित व्यक्ति पीला या हरित आभायुक्त होता है।

---

[426] *च०सं०, चि०* 16/9-11

[427] *च०सं०*, भाग-2, पृ० 396

वह ज्वर, दाह, पिपासा और तृष्णाजनित मूर्च्छा से आक्रान्त रहता है और उस व्यक्ति का मूत्र एवं मल भी पीले वर्ण का हो जाता है। उसे अधिक पसीना आता रहता है, वह ठण्डक पसन्द करता है और उसकी भोजन करने में अरुचि रहती है। उसके मुख का स्वाद कड़वा रहता है। उसे गर्म पदार्थ और अम्ल रसयुक्त पदार्थ अच्छे नहीं लगते। उसे खट्टी डकारें आती हैं और अन्न के विदग्धाजीर्ण होने से पेट और शरीर में जलन होती है। उसके शरीर से दुर्गन्ध, मल में पतलापन, दुर्बलता और नेत्रों के सामने अँधेरा छा जाता है।[428]

सुश्रुतसंहिता एवं *अष्टाङ्गहृदय* में पूर्वोक्त लक्षणों[429] को स्वीकार किया गया है। सभी पाण्डुविकार पैत्तिक होते हैं, अतः पैत्तिक पाण्डु का पुनः पृथकतः उल्लेख पित्तज अर्थ से किया है। पैत्तिक पाण्डु के लक्षण कामला व्याधि से साम्य रखते हैं। कामला तथा पित्तज पाण्डु दोनों के लक्षणों में समानता है, विशेषतः शरीर में पीत वर्ण का होना। यदि किसी पीड़ित व्यक्ति को जॉण्डिस है और एनीमिया बिल्कुल नहीं है तो उसे पैत्तिक पाण्डु नहीं स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार पैत्तिक मनुष्य द्वारा पित्त प्रकुपित आहार-विहार का सेवन करने पर, इस विकार के शरीर में अनेक लक्षण दिखाई देते हैं।

4.4.8 मृत्तिकाभक्षणजन्य पाण्डुविकार :-चरक ने मृत्तिकाभक्षणजन्य पाण्डुविकार का उल्लेख तथा इसका कृमिकोष्ठता के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। इसकी तुलना प्रायः अंकुश कृमिजन्य पाण्डु से की जाती है। जबकि अंकुश कृमियों के आन्त्र में पहुँचने के लिए मातृकाभक्षण आवश्यक नहीं होता। ये कृमि पादत्वक् के संपर्क में आने पर अन्तःप्रवेश करती हैं। *चरकसंहिता* में मृत्तिकाभक्षणजन्य विकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मिट्टी खाने की आदत वाले मनुष्य के शरीर के वात-पित्त-कफ में से कोई एक दोष प्रकुपित हो जाता है।

---

[428] स पीतो हरिताभो वा ज्वरदाहसमन्वितः। तृष्णामूर्च्छापिपासार्तः पीतमूत्रशकृन्नरः॥
स्वेदनः शीतकामश्च न चान्नमभिनन्दति। कटुकास्यो न चास्योष्णमुपशेतेऽम्लमेव च॥
उद्गारोऽम्लो विदाहश्च विदग्धेऽन्नेऽस्य जायते। दौर्गन्ध्यं भिन्नवर्चस्त्वं दौर्बल्यं तम एव च॥ *च०सं०, चि०* 16/20-22

[429] *सु०सं०, उ०* 44/8 ; *अ०हृ०, नि०* 13/8

जैसे- कषायरस की मिट्टी वायु को, ऊषर मिट्टी पित्तदोष को और मधुररस की मिट्टी का सेवन करने से कफदोष कुपित होता है। मिट्टी अपनी रूक्षता के कारण किए गए अन्न को और रसादि धातुओं को रूक्ष बना देती है। यह पचती नहीं है, इसलिए रस-रक्तादि वहन करने वाले स्रोतों को रोक देती है, जिसके कारण धातुओं का सम्यक् रूप से पोषण नहीं हो पाता। वह दोष को कुपित कर इन्द्रियों की शक्ति एवं शरीर के तेज, वीर्य और ओज का नाश करके बल, वर्ण तथा जठराग्नि का नाश करने वाले पाण्डुरोग को शीघ्र ही उत्पन्न कर देती है। मृत्तिकाभक्षणजन्य पाण्डुव्याधि से पीड़ित व्यक्ति के कपोलस्थल, नेत्रकूट और भौंह तथा पाँव, नाभि एवं मूत्रेन्द्रिय में सूजन आ जाती है। उसके कोष्ठ में क्रिमियाँ पड़ जाती है और वह रक्त तथा कफ मिश्रित मल के अतिसार से ग्रस्त होता है।[430] *अष्टाङ्गहृदय* में भी मृत्तिकाभक्षणजन्य पाण्डुविकार[431] के पूर्वोक्त लक्षण स्वीकार किए गए हैं। अतः मनुष्य द्वारा मिट्टी का सेवन करने पर शरीर में अनेक लक्षण प्रत्यक्षतः देखे जा सकते हैं।

4.5.1 कामलाविकार परिचय :- वर्तमान समय में जॉण्डिस व्याधि का अत्यन्त विकसित वर्णन **'कामला'** नाम से आयुर्वेदीय साहित्य में समुपलब्ध होता है। कामला पूर्णतः शुद्ध पैत्तिक विकार है। इसमें पाण्डुविकार के समान ही रक्त की दुष्टि प्रधान होती है। इस आधारभूत साम्य के अतिरिक्त दोनों व्याधियों में पीड़ित व्यक्ति में लक्षणों की प्रतीति मुख्यरूप से त्वचा में दिखाई देती है। अतः आयुर्वेदज्ञों ने दोनों विकारों को परस्पर सम्प्राप्ति की दृष्टि से स्वीकार करके, इनका एक साथ वर्णन संहिताओं में किया है। आयुर्वेद साहित्य में किसी भी संहिता में कामला रोग का स्वतन्त्ररूप में विवेचन नहीं किया गया। सभी ग्रन्थों में कामलाव्याधि का वर्णन पाण्डुरोगाध्याय में ही उपलब्ध होता है। चरक ने पाण्डुरोग की विशेष प्रवर्धमान स्थिति को ही कामलाविकार स्वीकार किया है-

---

[430] *च०सं०, चि०* 16/27-30

[431] *अ०हृ०, नि०* 13/13-15

"पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते। तस्य पित्तमसृग्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते"॥[432]

अर्थात् पाण्डुव्याधि से पीड़ित व्यक्ति पित्तवर्धक पदार्थों का अत्यधिक मात्रा में प्रयोग करता है। उसका प्रवृद्ध पित्तदोष रक्त और मांस को जलाकर कामला व्याधि को उत्पन्न करता है। *अष्टाङ्गहृदय* में भी कामला विकार[433] के पूर्वोक्त निदान को बताया गया है।

सुश्रुतसंहिता में पाण्डुरोग एवं अन्यरोग के कारण स्वस्थ होने पर अम्लरस प्रधान भोजन के सेवन के उपरान्त कामलाविकार की उत्पत्ति बताई गई है। जो मनुष्य पाण्डुव्याधि अथवा किसी अन्य विकार से ग्रस्त होने के उपरान्त ठीक हो जाने पर अम्लरस प्रधान भोजन एवं अन्य अपथ्यकर पदार्थों का भोजन करता है, उसका पित्तदोष कुपित होकर कामलाविकार की उत्पत्ति होती है। इसमें तन्द्रा एवं बल क्षीण हो जाता है।[434]

वस्तुतः सुश्रुत ने पाण्डुरोग के कामला, पानकि, कुम्भाह्वय, लाघरक, अलस पर्यायवाची बताए हैं। यह एक रक्तसंलायी कामला है जिसे लाल रक्तकण से अधिक विध्वंस का परिणाम माना गया है। इसमें रक्तप्लाविका में बिलीरुबीन की मात्रा 10.5 मिलीग्राम प्रति 100 मिलीलीटर प्लाज्मा से अधिक हो जाती है।

---

[432] *च०सं०, चि० 16/34*

[433] यः पाण्डुरोगी सेवेत पित्तलं तस्य कामलाम्॥ कोष्ठशाखाश्रयां पित्तं दग्ध्वाऽसृङ्मांसमावहेत्। *अ०हृ०, नि०* 13/15-16

[434] यो ह्यामयान्ते सहसाऽन्नमम्लमद्यादपथ्यानि च तस्य पित्तम्। करोति पाण्डुं वदनं विशेषात् पूर्वेरितौ तन्द्रिबलक्षयौ च॥ *सु०सं०, उ०* 44/10

कामलाविकार का निदान[435]

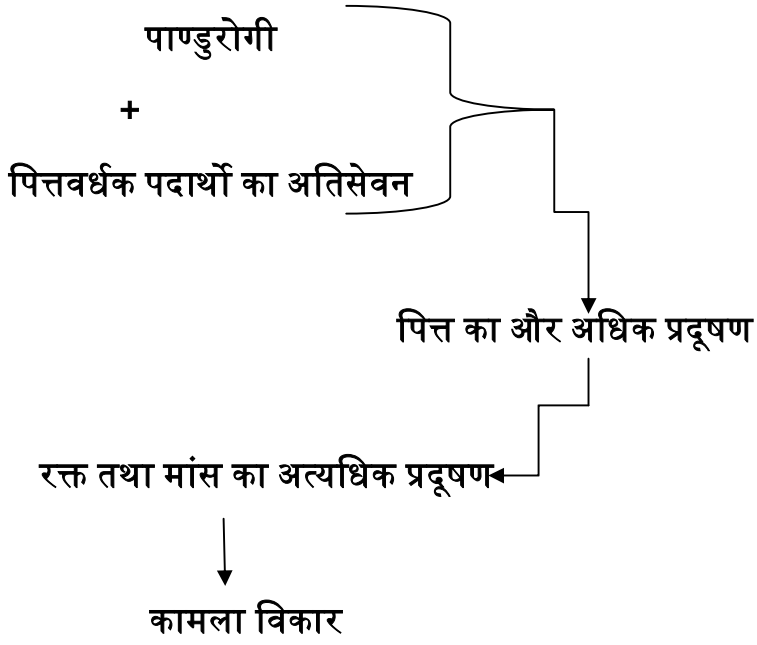

4.5.2 कामलाविकार के लक्षण :- आयुर्वेदीय संहिताओं में इस व्याधि का विस्तृतरूप से वर्णन पाण्डुरोगाध्याय में प्राप्त होता है। चरक ने कहा है कि कामलाविकार से ग्रस्त व्यक्ति की आँखें हल्दी वर्ण के समान पीले रंग की हो जाती हैं। उसके शरीर की त्वचा, नाखून एवं मुँह हल्दी के रंग के सदृश पीले होते हैं। उसका मूत्र लाल-पीला आता है। इस रोग के कारण पीड़ित का वर्ण पीला दिखाई देता है जैसे बरसात में पीले मेंढ़क दिखाई देते हैं। उसकी सभी इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होती। वह व्यक्ति जलन, अपचन, दुर्बलता, शरीर की थकावट और अरुचि से ग्रस्त रहता है।[436]

---

[435] *च०सं०*, भाग-2, पृ० 399

[436] हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः। रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः॥
दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः। *च०सं०, चि०* 16/35-36

अष्टाङ्गहृदय में पूर्वोक्त लक्षण[437] स्वीकृत हैं एवं इनके अतिरिक्त वाग्भट ने अधिक प्यास लगना भी एक अन्य लक्षण बताया है। कभी-कभी शरीर में कामला विकार बिना पाण्डुरोग के लक्षणों के देखा जाता है। यह विकार मनुष्य के शरीर में पित्तदोष की अधिक वृद्धि होने पर दिखाई देता है- "**भवेत्पित्तोल्बणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च"।**[438] अतः इस व्याधि के अनेक लक्षण शरीर में प्रत्यक्षतः देखे जा सकते हैं।

4.5.3 कामलाविकार के भेद :- आयुर्वेदीय संहिताओं में कामलाविकार दो प्रकार का बताया गया है- कोष्ठाश्रित एवं शाखाश्रित कामला।[439] उनमें कोष्ठ से महास्रोत का ग्रहण होता है तथा शाखा शब्द से रक्तादि धातुओं और त्वचा का ग्रहण होता है। किसी भी कारण से जब रक्तादि धातुओं में अथवा महास्रोत आदि कोष्ठों में रहने वाले रक्त में पित्त रञ्जक द्रव्यों की उपस्थिति होती है, तो कामलाविकार की उत्पत्ति होती है। इस स्थिति में नेत्रकला और त्वचा में पीलापन दिखाई देता है। पित्तवर्धक पदार्थों के सेवन से पित्तदोष की वृद्धि होती है। इस व्याधि से पीड़ित व्यक्ति के नेत्र-मूत्र-त्वचा हल्दी के रंग के और मल तिलकल्क के समान सफेद रंग का हो जाता है, यह शाखाश्रित कामला है। इस प्रकार शाखाश्रित कामला में पित्त कफदोष से अवरुद्ध रहता है। कोष्ठाश्रित कामला वह है जब शाखा में अधिक पित्तदोष की वृद्धि हो जाती है, तो कफ के आवरण को तोड़कर कोष्ठ में चला जाता है। शाखाश्रित कामला प्रायः स्वतन्त्र होता है एवं पाण्डुविकार के बाद पित्तज पदार्थों के सेवन से होने वाला कामला परतन्त्र होता है। वाग्भट ने जो अन्य विकारों के उपद्रवस्वरूप कामला की उत्पत्ति स्वीकार की है, वह आधुनिक समय में रक्तविषमजन्य कामला के अन्तर्गत आ सकती है।

---

[437] *अ०हृ०,नि०* 13/16-17

[438] *च०सं०, चि०* 13/17

[439] कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता। *च०सं०, चि०* 16/36

कुम्भकामलाविकार :- यह कामलाव्याधि का ही एक अवान्तर भेद है। जब पाण्डुविकार अधिक समय तक रहता है तथा समस्त धातुओं में रूक्षता हो जाने के कारण **'कुम्भकामला'** व्याधि का आविर्भाव होता है। यह कष्टसाध्य व्याधि है। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि-**"कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भकामला"।**[440] इस व्याधि से पीड़ित व्यक्ति के पुरीष, मूत्र का रंग कृष्ण-पीत वर्ण का हो जाता है तथा साथ ही शरीर में अत्यधिक सूजन हो जाती है। *माधवनिदान* में कुम्भकामला व्याधि का वर्णन करते हुए इसे असाध्य रोग कहा गया है। उस कुम्भकामला व्याधि से पीड़ित की मृत्यु हो जाती है, जो वमन, अरोचक, जी मिचलाना, ज्वर, बिना श्रम किए थकावट होना, श्वास तथा अतिसार से पीड़ित होता है।[441] सुश्रुत ने शोथ और पर्वभेद कुम्भकामला का लक्षण बताया है "**भेदस्तु तस्याः खलु कुम्भसाह्वः शोफो महांस्तत्र च पर्वभेदः"।**[442] वाग्भट ने *अष्टाङ्गहृदय* में कामला की उपेक्षा करने से कुम्भकामला का आविर्भाव बताया है और उसमें शोथ की प्रधानता होती है।[443] इन तीनों लक्षणों का विचार करने से कामला रोग की उपेक्षा करने पर जब शरीर में रूक्षता, शोथ एवं सन्धियों में भेदन के समान वेदना होने लगती है, तो उसे कुम्भकामला रोग कहते हैं।

हलीमकविकार :- जब पाण्डुविकार से ग्रस्त मनुष्यों का वर्ण हरा, श्याव तथा पीले रंग का हो जाए, शक्ति-उत्साह नष्ट हो जाए, तन्द्रा, मन्दाग्नि, मैथुन में असमर्थता, अङ्गमर्द, श्वास, तृष्णा, भोजन में अरुचि और भ्रम उत्पन्न हो जाए तब उसे हलीमक व्याधि कहा जाता है। वात एवं पित्त की प्रधानता से हलीमक रोग का आविर्भाव होता है। *चरकसंहिता* में कामलाविकार का विवेचन करते हुए कहा गया है कि-

---

[440] *च०सं०, चि०* 16/37

[441] छर्द्यरोचक-हृल्लास-ज्वर-क्लमनिपीडितः। नश्यति श्वास-कासार्तो विड्भेदी कुम्भकामली॥ *मा०नि०* 8/21

[442] *सु०सं०, उ०* 44/11

[443] उपेक्षया च शोफाढ्या सा कृच्छ्रा कुम्भकामला॥ *अ०ह्र०, नि०* 13/18

"यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितश्यावपीतकः। बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः॥

स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः। हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः"।।[444]

इस विकार को सुश्रुत ने लाघवक एवं अलसक[445] नाम दिया है तथा उपरोक्त लक्षणों को स्वीकार किया है। वाग्भट ने हलीमक का वर्णन लोढ़र[446] नाम से किया है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि में हलीमक को अवरोधजन्य पुराण कामला कह सकते हैं। क्योंकि इस अवस्था में भी पीड़ित का वर्ण गहरा हरा या श्यावपीत हो जाता है। कई चिकित्सकों ने इसे क्लोरोसिस नामक रक्त का विकार स्वीकार किया गया है। अतः इस विकार के कुम्भकामला एवं हलीमक दो भेद हैं। जिनके होने पर शरीर में भिन्न-भिन्न लक्षण दिखाई देते हैं।

4.6.1 तृष्णाविकार परिचय :- जब अतिसार, वमन, बहुमूत्र, स्वेद, रक्तस्राव आदि के कारण शरीर में तरल की कमी हो जाती है तब रोगी को अधिक प्यास लगती है। उसके मुख में लालास्राव से तरावट बनी रहती है। इन उपरोक्त कारणों से मुख सूख जाता है, तो जिह्वा के पृष्ठभाग में तन्त्रिकान्त उत्तेजित हो जाते हैं जिसके कारण प्यास लगने लगती है। *सुश्रुतसंहिता* में तृष्णाविकार का वर्णन करते हुए कहा गया है "**सततं यः पिबेद्वारि न तृप्तिमधिगच्छति। पुनः काङ्क्षति तोयं च तं तृष्णार्दितमादिशेत्**"[447] अर्थात् यदि मनुष्य जल निरन्तर पीते हुए भी तृप्त नहीं होता और जिसे पुनः पानी पीने की इच्छा बनी रहती है, तब उस अवस्था में मनुष्य को प्यास से ग्रस्त मानना चाहिए। सामान्यतः तृष्णा शब्द का अर्थ लोभ, लिप्सा, इच्छा, लालच, लालसा, इत्यादि के लिए होता है, परन्तु यहाँ तृष्णा का अर्थ जल पीने की इच्छा है।

---

444 *च०सं०, चि०* 16/132-133

445 ज्वराङ्गमर्दभ्रमसादतन्द्राक्षयान्वितो लाघरकोऽलसाख्यः।
तं वातपित्ताद्धरित्पीतनीलं हलीमकं नाम वदन्ति तज्ज्ञाः॥ *सु०सं०, उ०* 44/12

446 लोढरं तं हलीमकम्। *अ०हृ०, नि०* 13/19

447 *सु०सं०, उ०* 48/3

शरीर के लिए जल की आवश्यकता निरन्तर जल के पीने से पूरी होती है, लेकिन जब जल की कमी शरीर में हो जाए तो तृष्णाव्याधि की उत्पत्ति होती है।

तृष्णा को आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में Thirst कहते हैं। इसकी उत्पत्ति के विषय में निश्चित मत नहीं है "The mechanism of production of thirst is not fully understood but reference may be made to suggestive observations". यह सभी स्वीकार करते हैं कि शरीर में 65-70 प्रतिशत जल की मात्रा है। आहार-द्रव्य से उत्पन्न महत्त्वपूर्ण द्रव्यों को मूत्र, स्वेद, श्वास, वाष्प और मल द्वारा बाहर निकालने का कार्य जल का ही है। इसलिए यह भी निश्चित है कि जब शरीर में रस के सञ्चार में बाधा उत्पन्न होने, मलों की अधिक उत्पत्ति एवं सञ्चय होने से अथवा किसी कारण से स्वेद, मूत्र आदि द्वारा अस्वाभाविक रूप में जल बाहर निकल जाएगा। आहार द्वारा ऐसे पदार्थ शरीर में प्रवेश कर जाएगें, जो शरीर के लिए हितकारी नहीं है और उन्हें घोलकर निर्बल करना तथा बाहर निकालना होगा तो उस समय भी जल की आश्यकता अधिक मात्रा में होगी। अतः मुख, तालु आदि अवयवों में जलीयांश की कमी के कारण शोष तथा अन्य सार्वदैहिक लक्षणों की उत्पत्ति होती है। इसे ही तृष्णाविकार कहा गया है।

4.6.2 तृष्णाविकार का निदान :- आयुर्वेदीय संहिताओं में तृष्णाविकार का चरक एवं *सुश्रुतसंहिता* में एक स्वतन्त्र अध्याय के रूप में एवं *अष्टाङ्गहृदय* में राजयक्ष्मा अध्याय के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। *चरकसंहिता* में इस व्याधि का निदान बताते हुए कहा गया है कि मनुष्य के अत्यधिक गतिशीलता के कारण या मन की उद्विग्नता से, डर के कारण, थकावट होने से, शोक से, क्रोध से, उपवास से, शराब पीने के कारण, क्षार-अम्ल-लवण-कटु रस के सेवन से, गर्म, रूक्ष और सूखे अन्नों के सेवन से, धातुओं की निर्बलता से, व्याधि के कारण दुर्बलता से, वमन-विरेचन आदि के अत्यधिक प्रयोग करने से तथा सूर्य की किरणों के ताप के कारण शरीर में पित्त तथा वातदोष अधिक प्रकुपित एवं प्रवृद्ध हो जाते हैं।

शरीर की जलीय धातुओं का शोषण कर देते हैं।[448] *सुश्रुतसंहिता* में तृष्णाविकार के पूर्वोक्त कारणों[449] को स्वीकार किया गया है। *अष्टाङ्गहृदय* में इसके होने का प्रमुख कारण वात एवं पित्तदोष को स्वीकार किया गया है- **वातपित्ते तु कारणं सर्वासु**।[450] प्रायः तृष्णा मानसिक भी होती है- **इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात्प्रवर्तते।** परन्तु यहाँ पर जो तृष्णा विकार का वर्णन किया जा रहा है वह शारीरिक तृष्णा है। सभी को जो प्रतिदिन स्वाभाविक तृष्णा लगती है उसमें भी पित्त-वात ये ही दोनों दोष कारण है। किन्तु वह तृष्णा उचित द्रवपान द्वारा शान्त हो जाती है। अतः उस तृष्णा का यहाँ पर विचार नहीं किया गया है।

4.6.3 तृष्णाविकार का पूर्वरूप :- मुख का सूखते रहना एवं तृष्णा के सभी लक्षणों का अव्यक्त या अल्पमात्रा में रहना, ये तृष्णाविकार के पूर्वरूप हैं। चरक ने चिकित्सास्थान में कहा है कि- **प्राग्रूपं मुखशोषः, स्वलक्षणं सर्वदाऽम्बुकामित्वम्**।[451] सुश्रुत ने इस विकार के पूर्वरूपों को अधिक विस्तृतरुप से व्यक्त किया है तृष्णाव्याधि के उत्पन्न होने से पहले तालु, होंठ, गला तथा मुख में विशेष दाह होना, सन्ताप, चित्तविकृत्ति, भ्रम और विविध प्रकार का प्रलापक लक्षण दिखाई देते हैं।[452] वाग्भट ने भी इस विकार के पूर्वोक्त लक्षण स्वीकार किए हैं एवं इनके अतिरिक्त संपूर्ण शरीर में कम्पकम्पी को पूर्वरूपों में इंगित किया है "**सर्वदेहभ्रमोत्कम्पतापतृड्दाहमोहकृत्**"।[453]

---

[448] क्षोभाद्भयाच्छ्रमादपि शोकात् क्रोधाद्विलङ्घनान्मद्यात्। क्षाराम्ललवणकटुकोष्णरूक्षशुष्कान्नसेवाभिः॥
धातुक्षयगदकर्षवमनाद्यतियोगसूर्यसन्तापैः। पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान् धातूंश्च शोषयतः॥ *च०सं०, चि०* 22/4-5

[449] संक्षोभशोकश्रममद्यपानाद्रूक्षाम्लशुष्कोष्णकटूयोगात्। धातुक्षयाल्लङ्घनसूर्यतापात् पित्तं च वातश्च भृशं प्रवृद्धौ॥
सु०सं०,उ० 48/4

[450] *अ०हृ०, नि०* 5/46

[451] *च०सं०, चि०* 22/8

[452] ताल्वोष्ठकण्ठास्यविशेषदाहाः सन्तापमोहभ्रमविप्रलापाः। *सु०सं०, उ०* 48/7

[453] *अ०हृ०, नि०* 5/47

अर्थात् वात-पित्तदोष के कुपित हो जाने के कारण रस आदि सौम्य धातुओं का शोषण हो जाने से शरीर में मूर्च्छा, कंपकंपी, सन्ताप, पिपासा, दाह एवं बेहोशी के लक्षण दिखाई देते हैं। अतः इस विकार में अनेक लक्षण शरीर पर दिखाई देते है जो प्रारम्भिक अवस्था में अव्यक्त होते हैं, लेकिन इन लक्षणों का आभास मनुष्य को हो जाता है।

4.6.4 तृष्णाविकार के रूप :- *चरकसंहिता* में तृष्णाव्याधि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सदा प्यास का बना रहना ही तृष्णारोग की पहचान है "**तृष्णानां सर्वासां लिङ्गानां लाघवमपायः"**।[454] सुश्रुत ने कहा है कि तृष्णा की उत्पत्ति हो जाने पर पूर्वोक्त लक्षण विशेषरूप से बढ़ जाते हैं।

4.6.5 तृष्णाविकार के भेद :- आयुर्वेद साहित्य में इस व्याधि के भिन्न-भिन्न भेद आचार्यों ने बताए हैं। इस विकार के चरक पाँच भेद, सुश्रुत सात भेद एवं वाग्भट छह भेद स्वीकार करते हैं। *चरकसंहिता* के अनुसार तृष्णा के पाँच भेद हैं-वातज, पित्तज, आमज/कफज, रसक्षयजा एवं उपसर्गजा तृष्णा।[455] *सुश्रुतसंहिता* में तृष्णा के इन सात भेदों का वर्णन किया गया है- वातिक, पैत्तिक, कफज, क्षतजा, क्षयजा, आमजा एवं भक्तनिमिजा।[456] एवं *अष्टाङ्गहृदय* में वाग्भट ने तृष्णाविकार के छह भेद इस प्रकार बताए है "**वातात्पित्तात्कफात्तृष्णा सन्निपाताद्रसक्षयात् षष्ठी स्यादुपसर्गात्"**[457] अर्थात् वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रसधातुक्षयज एवं उपसर्गज।

4.6.6 तृष्णाविकार की सम्प्राप्ति :- चरक ने तृष्णा व्याधि का वर्णन करते हुए कहा है कि जब पित्त एवं वातदोष बहुत प्रबल हो जाते हैं, तब जिह्वामूल, कंठ, तालु और क्लोम में विद्यमान रसवाहिनी नालियों का शोषण करके **'तृष्णा'** व्याधि उत्पन्न होती है।

---

[454] *च०सं०, चि०* 22/8

[455] पञ्चविधां लिङ्गतः शृणुताम्। *च०सं०, चि०* 22/10

[456] *सु०सं०, उ०* 48/6

[457] *अ०हृ०, नि०* 5/45-46

यह बार-बार पानी पीने पर भी गला सुखा देते हैं और प्यास शान्त नहीं होती। किन्ही भयंकर रोगों से ग्रस्त होने के कारण दुर्बल व्यक्ति में उपद्रवस्वरूप भी तृष्णा बनी रहती है।[458] सुश्रुत ने इस विकार में वात एवं पित्त दोष से प्रकुपित कारणों से सम्प्राप्ति को तो स्वीकार किया है। परन्तु अन्य रोगों से पीड़ित मनुष्य में तृष्णाविकार को नहीं माना है-

"स्रोतांसि सन्दूषयतः समेतौ यान्यम्बुवाहीनि शरीरिणां हि।

स्रोतः स्वपांवाहिषु दूषितेषु जायेत् तृष्णाऽतिबला ततस्तु"॥[459]

इस प्रकार जिन अवस्थाओं में वात एवं पित्त की अधिकता तथा शरीरान्तर्गत जल की कमी होती है उन सभी में तृष्णा की उत्पत्ति अनिवार्य रूप में प्राप्त होती है। इस विकार की सम्प्राप्ति को चित्र के माध्यम से सरलतया समझा जा सकता है।

तृष्णाविकार की सम्प्राप्ति[460]

विविध हेतु ⟶ वात-पित्तप्रकुपित ⟶ ऊर्ध्वगमन ⟶ तालुशोषण

(जलवाही स्रोतस्)

↓

शोषण

↓

तृष्णाविकार

4.6.7 पैत्तिक तृष्णाविकार का लक्षण :- आयुर्वेदीय संहिताओं में पित्तदोष को आग्नेयांश प्रधान होने के कारण आग्नेय स्वीकार किया गया है। जब पित्तदोष कुपित होकर शरीर के जलीय धातु को सन्तप्त करता है तब पित्त की ऊष्मा से सन्तप्त जलीय धातु शरीर में तीव्र जलन के साथ तृष्णाविकार को उत्पन्न करती है।

---

[458] *च०सं०, चि०* 22/6-7

[459] *सु०सं०, उ०* 48/5

[460] *का०चि०*, भाग-2, पृ० 202

चरक ने पैत्तिक तृष्णा का वर्णन करते हुए कहा है कि "**तिक्तास्यत्वं शिरसो दाहः शीताभिनन्दता मूर्च्छा। पीताक्षिमूत्रवर्चस्त्वमाकृतिः पित्ततृष्णायाः"**[461] अर्थात् पैत्तिक तृष्णा होने पर मुख का स्वाद तीता होना, सिर में जलन होना, ठण्डे द्रव्यों की इच्छा होना, बेहोशी, आँख-मूत्र तथा मल का पीला होना आदि लक्षण दिखाई देते हैं। सुश्रुत ने पैत्तिकतृष्णा में उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त शरीर में जलन एवं धुएँ के वमन की सी प्रतीति का होना लक्षण[462] बताए हैं। वाग्भट ने पैत्तिक तृष्णाविकार के पूर्वोक्त लक्षणों[463] को स्वीकार किया है। अतः इस रोग में मुख्यतः पित्तदोष की वृद्धि होती है, जिसके कारण शरीर में अनेक लक्षण दिखाई देते हैं। इन लक्षणों को देखकर उपचारक रोगी का शीघ्र उपचार कर सकता है।

4.6.8 आमजा तृष्णाविकार के लक्षण :- आम के कारण जिस तृष्णाविकार की उत्पत्ति होती है उसमें आम एवं पित्त दोष की प्रधानता के कारण इस तृष्णा को आग्नेय माना जाता है। इसमें स्रोतस् मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में शरीर का विधिवत् तर्पण नहीं होता। *चरकसंहिता* में आमजा तृष्णा का वर्णन करते हुए कहा है कि भोजन में अरुचि, पेट में वायु भरना और मुँह से लार टपकते रहना ये आमजा तृष्णा के लक्षण होते हैं।[464] *सुश्रुतसंहिता* में कफजा तृष्णा से आमजा का ग्रहण होता है। जब वात एवं पित्तदोष कफ को आवृत कर लेते हैं तब कफ भी शुष्क होकर तृष्णा उत्पन्न कर देता है। वाग्भट भी कफज तृष्णा में ही आमजा तृष्णा को स्वीकार करते हैं। ये इन पूर्वोक्त कारणों के अतिरिक्त नींद का अधिक आना, शरीर में चिपचिपाहट, उल्टी होना, शरीर में आलस्य आदि लक्षण स्वीकारते हैं।[465] वस्तुतः वात एवं पित्तदोष कफ को आच्छादित करके उदर में उभार आदि लक्षणों से शरीर में विकृति लाते हैं।

---

461 *च०सं०, चि०* 22/14

462 मूर्च्छाप्रलापारुचिवक्त्रशोषाः पीतेक्षणत्वं प्रततश्च दाहः। शीताभिकाङ्क्षा मुखतिक्तता च पित्तात्मिकायां परिधूपनश्च॥ *सु०सं०, उ०* 48/9

463 पित्तान्मूर्च्छास्यतिक्तता। रक्तेक्षणत्वं प्रततं शोषो दाहोऽतिधूमकः॥ *अ०हृ०, नि०* 5/51

464 तृष्णा याऽऽमप्रभवा साऽप्याग्नेयाऽऽमपित्तजनितत्वात्। लिङ्गं तस्याश्चारुचिराध्मानकफप्रसेकौ च॥ *च०सं०, चि०* 22/15

465 *अ०हृ०, नि०* 5/52-53

4.7.1 ग्रहणीविकार परिचय :- आयुर्वेदीय साहित्य में ग्रहणीविकार का उल्लेख अर्श एवं अतिसाररोग के बाद किया गया है। इस विकार का वर्णन स्वतन्त्र अध्याय के रूप में एवं अन्य अध्याय के साथ उपलब्ध होता है। 'ग्रहणी' महास्रोत के एक विशेष भाग का नाम है। सुश्रुत के मतानुसार आमाशय तथा पक्वाशय के मध्य की स्थिति छठी पित्तधरा कला ही ग्रहणी है "**षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता। पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा परिकीर्तिता"**।[466] सुश्रुत ने ग्रहणीविकार को परिलक्षित करते हुए कहा है कि अग्नि का मुख्य केन्द्र ग्रहणी है तथा आहार को ग्रहण करने के कारण इसे ग्रहणी कहते हैं।[467] इसी ग्रहणी को पित्तधराकला का आश्रयस्थान स्वीकार करते हुए आश्रय तथा आश्रयी में अभेद होने के कारण ग्रहणी स्थित विकार को ग्रहणीदोष कहते हैं। *चरकसंहिता* के टीकाकार चक्रपाणि कहते हैं कि ग्रहणी स्थित अग्निदोष ही ग्रहणीदोष है।[468] ग्रहणी पाचकपित्त की उपस्थिति में अविकृत एवं पाचन क्रिया संपादन करने में पूर्णतया सामर्थ्यवान् होती है। यह पाचन के लिए अपक्व आहार को ग्रहण करती है एवं पाचनोपरान्त अवशिष्ट मल को बाहर निकाल देती है, किन्तु अग्नि के दुर्बल होने पर अपक्व आहार को भी बाहर निकाल देती है। यह ग्रहणी का सामान्य कार्य है जो अग्नि के बलाबल पर आश्रित होता है। महास्रोत के जठरान्त से लेकर उण्डुक तक फैली म्यूकस कला को ग्रहणी समझना चाहिए। इसमें होने वाले अग्नि की मन्दता से पाचन-शोषण संबंधी रोग विशेष को ग्रहणी रोग समझना चाहिए। *चरकसंहिता* में ग्रहणी के लिए ग्रहणी दोष एवं ग्रहणी रोग दोनों शब्द प्रयुक्त होते हैं। दोनों को सम्भवतः पर्याय रूप में जाना जाता है। वस्तुतः ग्रहणीदोष को क्रियादोष समझना चाहिए तथा ग्रहणीविकार से कोष्ठज रोग अर्थ ग्रहण करना चाहिए। पाचनसंस्थानगत अन्य व्याधियों के समान इस विकार का मुख्य हेतु मंदाग्नि ही है।

---

[466] *सु०सं०, उ०* 40/168

[467] अग्न्याधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणीं मता। *च०सं०, चि०* 15/56

[468] ग्रहणीमाश्रितोऽग्निदोषो ग्रहणीदोषः। *च०सं०, चि०* 15/1-2

अग्नि का महत्त्व केवल पाचन के लिए ही नहीं बल्कि शरीर के निर्माण की समस्त क्रियाओं के लिए भी आवश्यक है। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि आहार द्वारा देह, धातु, ओज, शक्ति आदि का पोषण अग्निबल पर निर्भर करता है क्योंकि अग्नि के अभाव में इन सभी के पोषक रस धातु की उत्पत्ति संभव ही नहीं है। अतः अग्नि की उपस्थिति-अनुपस्थिति पर मनुष्य का जीवन एवं मृत्यु अवलंबित है।[469]

4.7.2 ग्रहणीविकार का निदान :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में अतिसार की उपेक्षा से एवं विषम भोजन, असमय भोजन, भोजन नहीं करने के कारण ग्रहणी व्याधि के लक्षण शरीर में आगे प्रतीत होते हैं। चरक ने चिकित्सास्थान में कहा है कि आहार ग्रहण नहीं करने के कारण, अजीर्ण होने पर, भूख से अधिक मात्रा में भोजन करने से, विषम प्रकार से भोजन करने पर, प्रकृति के अनुरूप आहार न ग्रहण करने से, अधिक भारी-शीत-रूक्ष आहार करने से, दूषित आहार से, वमन-विरेचन एवं स्नेहपान के मिथ्यायोग से, लम्बे समय तक रोगग्रस्त होने से, देश के व्यापन्न होने पर, ऋतुओं के अयोग-अतियोग या मिथ्यायोग से और मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकने से मनुष्य की जठराग्नि प्रदूषित हो जाती है। वह प्रदूषित अग्नि कम मात्रा में एवं लघुगुणयुक्त अन्न को भी सम्यक् रूप से पाचन नहीं कर पाती और न पचे हुए अन्न द्वारा अम्ल का निर्माण करता है एवं विष के समान अनेक विकारों की उत्पत्ति करता है।[470] सुश्रुत ने कहा है कि अतिसारव्याधि के ठीक होने पर यदि मनुष्य अपथ्य सेवन करता है तो जठराग्नि के पुनः प्रदूषित हो जाने से ग्रहणी दूषित हो जाती है तथा जठराग्नि को मन्द करने वाले हेतुओं से ग्रहणी दूषित हो जाती है

---

[469] शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः। रोगी स्याद्विकृते, मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते॥
यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्। तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद् रसादयः॥ *च०सं०, चि०* 15/4-5

[470] *च०सं, चि०* 15/42-44

"दुष्यति ग्रहणी जन्तोरग्निसादनहेतुभिः।

अतिसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः। भूयः सन्दूषितो बह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत्"॥[471]

वाग्भट ने *अष्टाङ्गहृदय* में इस व्याधि के उपरोक्त कारण स्वीकार किए हैं- अतीसार की उपेक्षा से ग्रहणीविकार की उत्पत्ति होती है। इस विकार में जो पथ्य सेवनपूर्वक उपचार नहीं करता, उसे यह विकार हो जाता है। जठराग्नि को विकृत करने वाले आहार-विहारों को सेवन करने के कारण स्वस्थ मनुष्य की भी ग्रहणी विकृत हो जाती है।[472] अतीसार में ग्रहणी कला कुछ प्रदूषित हो जाती है और पुनः उसके रहते हुए अथवा निवृत्त होने पर भी सेवित आहार-विहार उस कला को पुनः अत्यधिक दूषित कर देता है। इसलिए अतिसाररोग से ग्रस्त मनुष्य में इसके होने की अधिक सम्भावना रहती है। जिस मनुष्य की अग्नि मन्द होती है उसकी ग्रहणीकला शीघ्र प्रदूषित होती है अतः दीप्ताग्नि मनुष्य में पथ्य अहित आहार भी हानिकर नहीं होता है। अतः इस व्याधि के होने वाले कारणों में दो कारण प्रमुख है एक अनियमित आहार, वर्जित आहार का सेवन एवं अतीसार के शान्त होने पर अपथ्य सेवन। वस्तुतः वर्जित आहार ही मुख्य कारण है।

4.7.3 ग्रहणीविकार का पूर्वरूप :- *चरकसंहिता* में अतिसार अध्याय में ग्रहणीविकार का विवेचन करते हुए कहा गया है कि इस व्याधि के मनुष्य में अधिक पिपासा, आलस्य, क्षीणबल, आहार का पाक न होकर विदाहजनक होना, अन्न का देर से पाचन, शरीर में गौरव आदि पूर्वरूप लक्षण दिखाई देते हैं-

"पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः। विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात्कायस्य गौरवम्"॥[473]

---

[471] *सु०सं०,उ०* 40/165-166

[472] अतीसारेषु यो नातियत्नवान् ग्रहणीगदः। तस्य स्यादग्निविध्वंसकरैरन्यस्य सेवितैः॥ *अ०हृ०, नि०* 8/15-16

[473] *च०सं०, चि०* 15/55

सुश्रुत ने इस व्याधि के इन पूर्वरूपों के अतिरिक्त शरीर में दर्द, बिना परिश्रम के थकावट, खाँसी, कानों में कई प्रकार के शब्द सुनाई देना एवं आँतों में गुड़गुड़ाहट पूर्वरूप में दिखाई देते हैं।[474] वाग्भट ने ग्रहणीव्याधि में लगभग पूर्वोक्त पूर्वरूपों को स्वीकार किया है तथा इनके अतिरिक्त मनुष्य को खट्टी डकार आना, लार निकलना, मुख का फीकापन, पेट में आनाह, वमन होना आदि लक्षण दिखाई देते हैं।[475] यें लक्षण शरीर में धीरे-धीरे दिखाई देते हैं, क्योंकि प्रारम्भ में यें अव्यक्तावस्था में होते हैं।

4.7.4 ग्रहणीविकार के लक्षण :- जब उपरोक्त पूर्वरूप शरीर में व्यक्त हो जाते हैं तो लक्षण माने जाते हैं। आयुर्वेदज्ञों ने ग्रहणी विकार के लक्षणों का इस प्रकार वर्णन किया है- इस विकार से ग्रस्त व्यक्ति कभी पतला, कभी बँधा हुआ और कभी केवल द्रवरूप जैसा मल त्याग करता है। वह प्यास, भोजन में अरुचि, मुख में फीकापन, लार निकलना और तमकश्वास व्याधियों से ग्रस्त रहता है। उस मनुष्य के हाथ-पैर में सूजन आ जाती है। उसकी हड्डियों और जोड़ों में वेदना होती है। उसे उल्टी प्रारम्भ हो जाती है। उसे लोहे को गर्म करके आग में बुझाने पर उठने वाली गन्ध या अपक्व अन्न जैसी गन्धयुक्त तिक्त एवं खट्टी डकार आने लगती है।[476] *सुश्रुतसंहिता* में ग्रहणीविकार के पूर्वोक्त लक्षण माने हैं तथा इनके अतिरिक्त मनुष्य के शरीर में कमजोरी, सभी रसों का सेवन करने की इच्छा, खट्टे पानी की उल्टी जैसे लक्षण दिखाई देते हैं।[477] ग्रहणीव्याधि के लक्षणों में 'अरोचक' एवं 'अरुचि' दोनों का पाठ इसमें अरुचि का विशेष महत्त्व दिखाने के लिए किया गया है।

---

474 तस्य उत्पत्तौ विदाहोऽन्ने सदनानलस्यतृट्क्लमाः। बलक्षयोऽरुचिः कासः कर्णक्ष्वेडोऽन्त्रकूजनम्॥ *सु०सं०, उ०* 40/172

475 *अ०हृ०, नि०* 8/19-20

476 अतिसृष्टं विबद्धं वा द्रवं तदुपवेश्यते। तृष्णारोचकवैरस्यप्रसेकतमकान्वितः॥
शूनपादकरः सास्थिपर्वरुक् छर्दनं ज्वरः। लोहामगन्धिस्तिक्ताम्ल उद्गारश्चास्य जायते॥ *च०सं०, चि०* 15/53-54

477 अथ जाते भवेज्जन्तुः शूनपादकरः कृशः। पर्वरुग्लौल्यतृट्छर्दिज्वरारोचकदाहवान्॥
उद्विरेच्छुक्ततिक्ताम्ललोहधूमामगन्धिकम्। प्रसेकमुखवैरस्यतमकारुचिपीडितः॥ *सु०सं०, उ०* 40/173-174

इस विकार के लक्षण पाश्चात्य चिकित्सक में 'स्प्रू' नामक रोग के सदृश है "Typically there is an apyrexial morning diarrhoea with bulky, pale, gaseous, fatty stools, sore tongue, megalocytic anaemia, asthemia and wasting".[478] वाग्भट ने ग्रहणीव्याधि[479] में पूर्वोक्त लक्षणों को स्वीकार किया है। सेविल की मेडिसीन में संग्रहणी रोग में भिन्न लक्षण मिलते हैं- प्रातःकाल अम्लगन्धी तथा श्वेताभ वर्ण एवं झागयुक्त दस्तों का होना, आरम्भ में जिह्वा, गला, तालु और सम्पूर्ण अन्न प्रणाली में जलन के कारण छाले पड़ जाते हैं तथा जिह्वा में विदाह की उत्पत्ति होकर लाल वर्ण हो जाता है। सम्पूर्ण शरीर में चुनचुनाहट बनी रहती है। कुछ दिनों के बाद जिह्वा के स्वादाङ्कुरों का नाश होने लगता है तथा जिह्वा की श्लेष्मल त्वचा पूर्णरूप से सपाट-सी दिखाई देती है। रक्त की कमी, अन्न का पाचन नहीं होने के कारण उत्तरोत्तर रस-रक्तादि धातुओं के न बनने से शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है। आंतों में पाचनक्रिया ठीक न होने से किण्वीकरण से गैसों का सञ्चय होकर आध्मान बना रहता है। व्याधि के अधिक बढ़ने पर वातनाड़ी शोथ तथा पादशोथ भी हो सकता है। धीरे-धीरे यकृत् एवं अग्न्याशय का भी शोथ हो जाने पर उनका कार्य अवरुद्ध हो जाता है। स्नेहांश अपक्वावस्था में ही मल के साथ बाहर निकलने लगता है। अत इस अवस्था में लक्षण शरीर में स्पष्ट देखे जा सकते हैं, जिन्हें चिकित्सक देखकर आसानी से उपचार कर सकता है।

4.7.5 ग्रहणीविकार के भेद :- आयुर्वेदीय साहित्य में तीन प्रकार से ग्रहणीविकार के भेदों का वर्णन किया गया है। *सुश्रुतसंहिता* में ग्रहणी रोग का वर्णन करते हुए कहा गया है कि स्वतन्त्र रूप से ग्रहणी के दूषित होने पर उत्पन्न होने वाला ग्रहणीविकार एवं अतिसार के उपरांत होने वाला ग्रहणी रोग।[480]

---

[478] *सु०सं०*,पृ० 318

[479] *अ०हृ०, नि०* 8/21

[480] *सु०सं०, उ०* 40/167

चरक ने दोषों के अनुसार चार भेद माने हैं "**वातात्पित्तात्कफाच्च स्यात्तद्रोगस्त्रिभ्य एवश्च"** अर्थात् यह ग्रहणीव्याधि वात से, पित्त से, कफ से एवं त्रिविधों से भी होता है। सुश्रुत[481] एवं वाग्भट[482] ने भी चरकोक्त ग्रहणीविकार के चार भेद स्वीकार किए हैं।

4.7.6 ग्रहणीविकार के सम्प्राप्ति :- चरक ने इस रोग का वर्णन करते हुए कहा है कि जठराग्नि के मन्द होने पर जब गुदामार्ग से पका हुआ या बिना पचे ही आहारांश निकलने लगता है तब इस स्थिति को ग्रहणी कहते हैं। इसमें प्रायः सम्पूर्ण आहार विदग्ध होकर अम्ल हो जाता है-

"अधस्तु पक्वमामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः। उच्यते सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते"॥[483]

4.7.7 पैत्तिज ग्रहणीविकार का निदान एवं लक्षण :- *चरकसंहिता* में ग्रहणीविकार का विवेचन करते हुए कहा गया है कि कटु, लवण, तीक्ष्ण एवं गर्म पदार्थों के सेवन से, अजीर्ण से तथा विदाही, अम्ल, क्षार आदि के भोजन से कुपित हुआ पित्त तप्त जल के समान जठराग्नि को मन्द कर देता है, जिससे ग्रहणी विकृत हो जाती है, इसे पैत्तिक ग्रहणी कहते हैं। *चरकसंहिता* में इस विकार का विवेचन करते हुए कहा गया है कि

"कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्। अग्निमाप्लावयद्धन्ति जलं तप्तमिवानलम्"॥[484]

वस्तुतः पित्तदोष ताप या सन्तापजनक पदार्थ है। पाचकपित्त का अधिष्ठान ग्रहणी है। इसकी विकृति से ही ग्रहणी कला में विकार आ जाते हैं। पैत्तिक ग्रहणी में नीले एवं पीले रंग से युक्त द्रव मल की प्रवृत्ति होती है। उसका शरीर पीला दिखाई देने लगता है। उसकी भोजन में अरुचि एवं तृष्णा बनी रहती है। *चरकसंहिता* में पैत्तिक ग्रहणीव्याधि के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया गया है-

---

481 *सु०सं०, उ०* 40/176

482 स चतुर्धा पृथग्दोषैः सन्निपातच्च जायते। *अ०हृ०, नि०* 8/19

483 *च०सं०, चि०* 15/52

484 *च०सं०, चि०* 15/65

"सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम्। पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः"॥[485]

पैत्तिक ग्रहणीव्याधि का शरीर पीला दिखाई देता है। पीड़ित व्यक्ति बिना पका हुआ, नीला या पीला मल त्याग करता है। उसे दुर्गन्धित खट्टी डकार आती है, उसके हृदय एवं कण्ठ में जलन होती है। उसे भोजन में अरुचि एवं प्यास अधिक लगती है। वाग्भट ने पैत्तिक ग्रहणीविकार के पूर्वोक्त लक्षणों[486] को माना है तथा सुश्रुत ने पैत्तिक ग्रहणीविकार[487] में गुद, हृदय, पार्श्व आदि सभी में जलन होती है। पीड़ित व्यक्ति के नाखून, पुरीष, मल, नेत्र और मूत्र का नील, पीत वर्ण होते हैं, ऐसा कहा है। अतः इस व्याधि से आक्रान्त मनुष्य में खट्टी डकार, पतला मल, भोजन करने में अरुचि आदि लक्षण स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

4.8.1 भस्मकविकार परिचय :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इस विकार का वर्णन ग्रहणीविकार के अन्तर्गत किया गया है। इस विकार का वर्णन *चरकसंहिता* एवं *अष्टाङ्गहृदय* में प्राप्त होता है। सुश्रुत ने इस विकार का विवेचन नहीं किया। चरक ने इसे तीक्ष्णाग्नि एवं वाग्भट अत्यग्नि कहते हैं।

4.8.2 भस्मकविकार की सम्प्राप्ति एवं लक्षण :- *चरकसंहिता* में इस विकार का विवेचन करते हुए कहा गया है कि मनुष्य के शरीर में जब कफदोष की कमी हो जाती है और वायु के साथ पित्तदोष कुपित हो जाता है, तब वह पित्त अग्नि के समीप स्थित होकर जठराग्नि को बल प्रदान करता है। इस प्रकार बल प्राप्त कर वह अग्नि वायु के साथ होकर रूक्ष शरीर में अन्न के गुणों को अवरुद्ध करके, अपनी तीक्ष्णता से खाए हुए आहार को बारम्बार जल्दी पचा देती है। यदि पुनः आहार न किया गया, तब वह अग्नि पहले किए हुए भोजन को पचाकर रक्तादि धातुओं को भी पचाने लगती है।

---

[485] *च०हृ०, चि०* 15/66

[486] *अ०हृ०, नि०* 8/25-26

[487] *सु०सं०, उ०* 40/175-176

तत् पश्चात् धातुओं का पाक होने के कारण शरीर दुर्बल हो जाता है, अनेक विकार शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं और रोगी की मृत्यु तक होने की सम्भावना बन जाती है। रोगी द्वारा भोजन कर लेने पर कुछ समय के लिए शान्ति मिल जाती है और जब आहार पच जाता है तब रोगी ग्लानि और व्यग्रता का अनुभव करने लगता है। अतः अग्नि के अतिवृद्धि होने से अत्यधिक प्यास, श्वासवृद्धि, जलन और मूर्च्छा आदि विकार शरीर में पैदा हो जाते हैं।[488] वाग्भट[489] ने चरकोक्त कारण को स्वीकार किया है। अतः इस विकार का प्रमुख कारण पितदोष की वृद्धि एवं कफदोष का क्षय है इसलिए इस व्याधि का शमन करने के लिए कफदोष को बढ़ाने वाले आहार-विहार एवं पित्तदोष का क्षय करने वाले आहार-विहार का सेवन करना होगा।

4.9.1 शोथविकार परिचय :- शोथविकार अनेक रोगों का एक लक्षण स्वरूप होता है। लेकिन कभी-कभी शोथ एकमात्र प्रधान लक्षण के रूप में शरीर में दिखाई देता है, ऐसी स्थिति में शोथ को एक पूर्ण विकार स्वीकार करना चाहिए। आयुर्वेद साहित्य में शोथ, शोफ तथा श्वयथु ये तीन शब्द प्रयुक्त होते हैं। ये शब्द प्रायशः पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

सुश्रुतसंहिता में शोफ शब्द का अधिक प्रयोग हुआ है। शोथ एवं श्वयथु से सामान्यतः शोथ ही जानने चाहिए। सुश्रुत ने व्रणशोथ विकार का भी वर्णन किया है, उससे यह शोथविकार भिन्न है। व्रणशोथविकार के सन्दर्भ में सुश्रुत ने कहा है कि व्रणशोथ त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, संधि, कोष्ठ एवं मर्म इन अवयवों के दूषण से उत्पन्न होता है।[490] इसके विपरीत 'शोथ' दोषों के त्वचा एवं मांस के बीच स्थित होकर उत्सेध मात्र उत्पन्न करने से होता है। इसमें पाक की क्रिया नहीं होती। आयुर्वेदीय संहिताकारों ने शोथ का विभिन्न प्रकार से विभाजन किया है। इन विभिन्न भेदों के माध्यम से समस्त प्रकार के क्रियाशील तथा अक्रियाशील प्रकार के शोथ तथा व्रणशोथ का वर्णन किया गया है।

---

[488] *च०सं०, चि०* 15/217-220

[489] *अ०हृ०, चि०* 10/81-82

[490] त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि भवन्ति। *सु०सं०, सू०* 22/3

4.9.2 शोथविकार का निदान :- आयुर्वेदीय साहित्य में शोथविकार का विस्तारपूर्वक परिलक्षित किया गया है। चरक ने शोथविकार के निज एवं आगन्तुक कारण स्वीकार किए हैं। *चरकसंहिता* के चिकित्सास्थान में वर्णित है कि-

"शुद्ध्यामयाभक्तकृशाबलानां क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा।

दध्याममृच्छाकविरोधि दुष्टगरोपसृष्टान्ननिषेवणं च॥

अर्शांस्याचेष्टा न च देहशुद्धिर्मर्मोपघातो विषमा प्रसूतिः।

मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः"॥[491]

अर्थात् वमन-विरेचन आदि संशोधनों द्वारा अथवा किसी विकार के होने या भोजन न करने के कारण जो मनुष्य कमजोर और निर्बल हो गया हो। वे सभी क्षारीय पदार्थ, अम्ल वस्तु, तीक्ष्ण या उष्ण या भारी पदार्थ का भोजन ग्रहण करते हैं। यदि दही, सम्यक् रूप से न पका हुआ भोजन, मिट्टी, शाक, प्रकृति के विपरीत अन्न, दूषित अन्न और कृत्रिम विषयुक्त भोजन का सेवन करते हैं, तब ये सभी निज शोथ के कारण होते हैं। किसी प्रकार का शारीरिक परिश्रम न करने पर, शरीर का वमनादि द्वारा शोधन या बाह्य शोधन न करने पर, मर्मस्थानों पर चोट लगना, प्रसव में मूढ़गर्भ होना, विकारों में सम्यक् रूप से चिकित्सा ने करने के कारण सभी दोषज शोथ के कारण हैं। सुश्रुत ने भी निज शोथ के पूर्वोक्त निदान स्वीकार किए हैं। इनके अतिरिक्त ग्राम्यधर्म का सेवन करने से, हाथी, घोड़ा, ऊँट, रथ की सवारी और पैदल चलना आदि निज शोथ के कारण हैं।[492]

---

[491] *च०सं०, चि०* 12/5-6 ; *च०सं०, सू०* 18/6

[492] *सु०सं०, चि०* 23/3

वाग्भट[493] ने चरकोक्त निदान लक्षणों को स्वीकार किया है तथा इसके अतिरिक्त कहा है कि यह अपने प्रकोपक हेतुओं द्वारा कुपित होता है, अतएव दूषित पित्तदोष को, अपने कारणों से दूषित रक्त को तथा अपने कारणों से दूषित कफदोष को स्वयं अपने हेतुओं से प्रदूषित वातदोष बाहर वाली सिराओं में पहुँचकर और उन्हीं पित्त, रक्त एवं कफ में फंसकर त्वचा और मांसधातु में उभार आ जाता है और यह उभार ठोस रूप में होता है। इसलिए इसे शोथविकार कहते हैं।[494]

पाश्चात्य चिकित्सक सम्पूर्ण शरीर में शोथ होने को **'Anasarca'** कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर में सूजन अवटुगन्थि की अल्पक्रियता के कारण हो जाती है, परन्तु वह कठोर होती है और दबाने पर उसमें गड्ढा नहीं पड़ता। सर्वाङ्ग शोफ के तीन प्रमुख कारण स्वीकार किए गए हैं- हृज्ज (Cardiac) शोफ, याकृत (Hepatic) एवं वृक्कविकारजन्य शोफ (Renal) ।

- **हृज्ज शोथ-** इसमें होने वाली सूजन शरीर के दूरवर्ती भाग टाँगों में होती है, यदि पीड़ित चलता-फिरता है। इसमें पीड़ित मनुष्य में श्वास लेने में भी कठिनाई आती है।
- **याकृत शोथ-** इसका प्रारम्भ पेट से होता है एवं यकृत् की वृद्धि भी साथ में हो जाती है। इसमें पेट की वृद्धि पहले एवं श्वास लेने में कठिनाई बाद में होती है।
- **वृक्कविकारजन्य शोथ-** इसमें शरीर की टाँगों एवं पलकों में सूजन एक साथ होती है। पीड़ित के मूत्र में एल्ब्यूमिन विद्यमान होती है एवं उसका शरीर मोम के समान लगता है।

---

[493] *अ०हृ०, नि०* 13/25-29

[494] पित्तरक्तकफान्वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिःसिरा। नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्मांससंश्रयम्॥
उत्से संहतं शोफं तमाहुर्निचयादतः सर्वं॥ *अ०हृ०, नि०* 13/21

चरकसंहिता में आगन्तुक शोथ का वर्णन करते हुए कहा गया है कि लाठी, पत्थर, शस्त्र, अग्नि, विष या लोहे की छड़ आदि से उत्पन्न आघात शरीर की बाहरी त्वचा को प्रदूषित कर देता है उससे आगन्तुक शोथ की उत्पत्ति होती है।[495] सुश्रुत आगन्तुक शोथ को स्वीकार नहीं करते इसलिए उसके निदान का प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता। वाग्भट ने आगन्तुक शोथ को अभिघातज विसर्प शोथरोग स्वीकार किया है एवं कहा है कि-

बाह्यहेतोः क्षतात्क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन्।

विसर्पः मारुतः कुर्यात् कुलत्थसदृशैश्चितम्। स्फोटैः शोफज्वररुजादाहाढ्यं श्यावलोहितम्॥[496]

अर्थात् लाठी, शस्त्र आदि बाहरी हेतुओं द्वारा क्षत हो जाने के कारण प्रकुपित हुआ वातदोष रक्त के साथ पित्तदोष को दूषित करके विसर्प की उत्पत्ति कर देता है। यह विसर्प कुलथी के दानों के समान फफोलों से घिर जाता है तथा इन फफोलों का रंग काला एवं लाल होता है। इसमें शोथ, ज्वर, वेदना तथा दाह विकार होता है। अतः इस विकार की उत्पत्ति के अनेक कारण है जो कुछ समय पश्चात् शरीर में दिखाई देने लगते हैं।

4.9.3 शोथविकार के पूर्वरूप :- *चरकसंहिता* में इस विकार का विवेचन करते हुए कहा गया है कि शोथविकार होने वाले शरीर में गर्मी का अनुभव होना, जलन होना और वहाँ की रक्तवाहिनियों में तनाव होना पूर्वरूप है- "**ऊष्मा तथा स्याद्दवथुः सिराणामायाम इत्येव च पूर्वरूपम्**"।[497] *सुश्रुतसंहिता* में शोथविकार का पूर्वरूप प्राप्त नहीं होता। वाग्भट ने चरकोक्त शोथविकार के पूर्वरूप स्वीकार किए है "**तत्पूर्वं दवथु सिरायामोऽङ्गगौरवम्**" अर्थात् आँख आदि में अथवा शोथ की उत्पत्ति होने वाली है।

---

[495] *च०सं०, चि०* 12/7 ; *च०सं०, सू०* 18/4

[496] *अ०हृ०, नि०* 13/65-66

[497] *च०सं०, चि०* 12/10

उस स्थान में जलन, सिराओं में तनाव, शरीरभर में अथवा उस स्थान-विशेष में भारीपन पूर्वरूप लक्षण दिखाई देते हैं। अतः शरीर में ये लक्षण अस्पष्ट होते हैं जो कुछ समय पश्चात् स्पष्ट दिखाई देते हैं।

4.9.4 शोथविकार के लक्षण :- *चरकसंहिता* में शोथविकार के लक्षण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मनुष्य के शरीर में शोथ के स्थान पर भारीपन, शोथ का एक जैसा सदा न रहना अर्थात् कभी कम, कभी अधिक होना, गर्मी होना, सिराओं का पतला होना, रोएँ खड़े होना एवं विवर्णता का हो जाना, यें लक्षण दिखाई देते हैं।[498] *सुश्रुतसंहिता* एवं *अष्टाङ्गहृदय* में शोथविकार के सामान्य लक्षणों का वर्णन नहीं मिलता। जो लक्षण पूर्वावस्था में अव्यक्त थे, वे शरीर में स्पष्ट देखे जा सकते हैं। इसलिए उपचारक इन लक्षणों को देखकर चिकित्सा कर सकता है।

4.9.5 शोथविकार के भेद :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में शोथविकार के भेद अनेक प्रकार से किए गए हैं। *चरकसंहिता* में शोथविकार के विषय में कहा गया है कि "**त्रयः शोथा भवन्ति वातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः, ते पुनर्द्विविधा निजागन्तुभेदेन**"[499] अर्थात् वातज, पित्तज और श्लेष्मज भेद से शोफविकार तीन प्रकार का होता है और वह पुनः निज तथा आगन्तु भेद से दो प्रकार का होता है। पुनः निदानस्थान में ही शोथविकार के आठ भेद माने हैं वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, सन्निपातज एवं आगन्तुज।[500]

---

498 सगौरवं स्यादनवस्थितं सोत्सेधमुष्माऽथ सिरातनुत्वम्। सलोमहर्षाऽङ्गविवर्णता च सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम्॥ *च०सं०, चि०* 12/11

499 *च०सं०, सू०* 18/3 ; *च०सं०, चि०* 12/7

500 प्रकृतिभिस्ताभिस्ताभिर्भिद्यमानो द्विविधस्त्रिविधश्चतुर्विधः सप्तविधोऽष्टविधश्च शोथ उपलभ्यते, पुनश्चैक एवोत्सेधसामान्यात्॥ *च०सं०, सू०* 18/8

सुश्रुत ने इसके पाँच भेद स्वीकार किए हैं **"सर्वसरस्तु पञ्चविधः तद्यथा वातपित्तश्लेष्मसन्निपातविषनिमित्तः"**[501] अर्थात् वातज, पित्तज, कफज, सान्निपातिक एवं विषनिमित्तज। परन्तु वाग्भट ने इसके नौ भेद[502] स्वीकार किए हैं- वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, त्रिदोषज, अभिघातज तथा विषज। उपरोक्त शोथविकार के लक्षणों में अभिघातज एवं विषज भेद भिन्न हैं और सभी आठों भेद समान है।

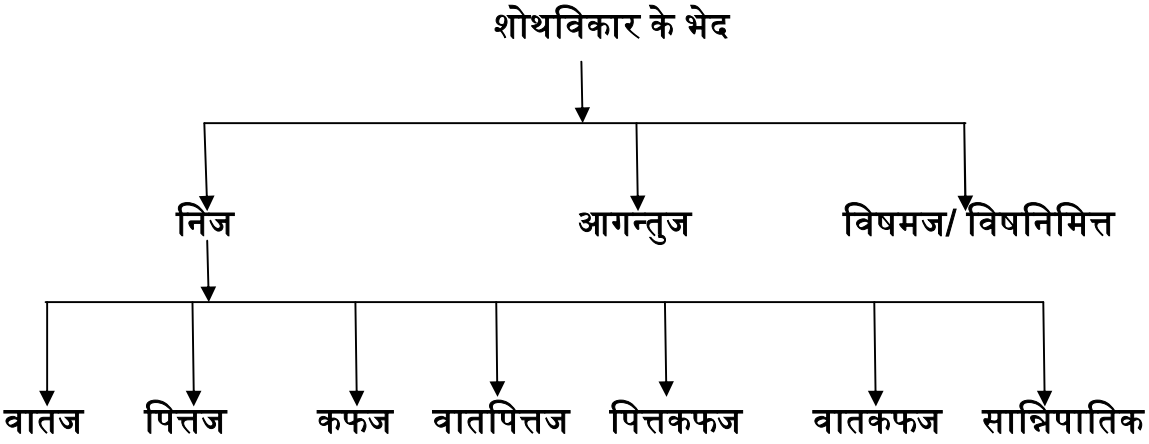

4.9.6 शोथविकार की सम्प्राप्ति :- *चरकसंहिता* में प्रतिपादित है कि अपने प्रकोपक हेतुओं के कारण बढ़ी हुई वायु जब रक्तवाहिनी बाहरी सिराओं में पहुँचकर कफ, रक्त और पित्त को प्रदूषित कर देती है। रक्तवाहिनियों में बढ़े हुए कफ, रक्त एवं पित्त वायु के सञ्चरण को रोक देते हैं एवं वह वायु जब फैलने की चेष्टा करती है, तब उस स्थान में उभार उत्पन्न करके शोथ को उत्पन्न कर देती है।[503] सुश्रुत ने इसकी सम्प्राप्ति के विषय में कहा है कि यदि दोष आमाशय में विद्यमान हो, तब शरीर के ऊर्ध्वभाग मुख आदि में शोथविकार उत्पन्न हो जाता है। यदि पक्वाशय में स्थित हो तो शरीर के मध्यभाग भाग में तथा वर्चस्थान में विद्यमान दोष शरीर के अधोभाग में पैदा होता है।

---

501 *सु०सं०, चि०* 23/3

502 *अ०हृ०, नि०* 13/22

503 *च०सं०, चि०* 12/8

सर्वशरीरव्यापी दोष सम्पूर्ण शरीर के अंगों में शोथ की उत्पत्ति करता है।[504] वाग्भट ने इसकी सम्प्राप्ति इस प्रकार व्यक्त की है इसमें छाती में विद्यमान वातादि दोषों के कारण शरीर के ऊपरी भागों में, बस्ति आदि में विद्यमान दोषों द्वारा शरीर के निचले भाग में, मध्यशरीर में स्थित दोषों द्वारा मध्य शरीर में, सम्पूर्ण शरीर में दोषों द्वारा सर्वदेह शरीर में तथा किसी अंग-विशेष में विद्यमान दोषों द्वारा उस अंग में शोफ की उत्पत्ति होती है।[505] अतः भिन्न-भिन्न स्थानों में दोष के फैलने पर शोथविकार की उत्पत्ति होती है।

4.9.7 पैत्तिक शोथविकार का निदान एवं लक्षण :- *चरकसंहिता* में सामान्य निदानों का वर्णन करने के उपरान्त त्रिविध दोषों के निदान का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। चरक ने पित्तज शोथविकार के कारण का वर्णन इस प्रकार किया है उष्ण पदार्थ तथा उष्णवीर्य पदार्थ के सेवन करने से ; तीक्ष्ण, कटु, क्षार, खट्टा एवं लवण पदार्थों के खाने से, अजीर्ण अवस्था में भोजन करने पर, आग एवं धूप के अधिक सेवन से मनुष्य के शरीर में पित्तदोष कुपित होकर त्वचा, मांस और रक्त में प्रवेश करके उन्हें प्रदूषित कर सूजन पैदा करता है। यह विकार बहुत शीघ्र उठता एवं बढ़ता है। इसका वर्ण पीला, काला, नीला एवं ताम्रवर्ण की कान्ति से युक्त होता है एवं स्पर्श में कोमल एवं उष्ण होता है। पैत्तिक शोथ में रोएँ पीले, भूरे एवं ताम्रवर्णी हो जाते हैं, इसमें उष्णता होती है, ताप होता है, छुँआ सा निकलता है, स्वेद निकलता रहता है और शोथ गीला रहता है। पीड़ित व्यक्ति शोथ होने पर स्पर्श या उष्ण सहन नहीं कर पाता।[506] चरक ने अन्यत्रस्थान पर इस विकार के लक्षण बताए हैं-

"यः पिपासाज्वरार्तस्य दूयतेऽथ विदह्यते। स्विद्यति क्लिद्यते गन्धी स पैत्तः श्वयथुः स्मृतः॥

---

504 दोषाः श्वयथु हि कुर्वन्त्यामाशयस्थिताः। पक्वाशयस्था मध्ये च वर्चःस्थानगतास्वधः॥
कृत्स्नं देहमनुप्राप्ताः कुर्युः सर्वसरं तथा। *सु०सं०, चि०* 23/5-6

505 *अ०हृ०, नि०* 13/28-29

506 *च०सं०, सू०* 18/7

यः पीतनेत्रवक्त्रत्वक् पूर्वं मध्यात् प्रशूयते। तनुत्वक् चातिसारी च पित्तशोथः स उच्यते"॥[507]

अर्थात् तृष्णा एवं ज्वरविकार से पीड़ित मनुष्य के शोथ में वेदना हो, जलन हो, पसीना निकलता हो, गीलापन हो और गन्ध निकलता हो, उसे पित्तज शोथ कहते हैं। पीड़ित मनुष्य की आँख, मुँह एवं त्वचा पीले हों, शोथ शरीर के मध्यभाग से उठता हो, तदुपरान्त शरीर के दूसरे भागों में फैले, इस विकार के स्थान की त्वचा पतली हो एवं पीड़ित को अतिसार हो, उसे पित्तज शोथविकार कहा जाता है। सुश्रुत ने पैत्तिक शोथविकार के लक्षणों[508] का वर्णन करते हुए कहा है कि पैत्तिक शोथविकार का रंग पीत या रक्त युक्त, मृदु, शीघ्र फैलने वाला एवं ओष, चोषादि विशेष प्रकार की पीड़ा होती है। वाग्भट ने इस विकार[509] के पूर्वोक्त लक्षण स्वीकार किए हैं। अतः इस व्याधि में मुख्यरूप से वर्जित आहार-विहार है जिसके सेवन करने से पित्तदोष की वृद्धि होती है और पित्तदोष के बढ़ने पर शोथव्याधि की उत्पत्ति होती है।

4.10.1 मूर्च्छाविकार परिचय :- आयुर्वेदीय साहित्य में निद्रा, तन्द्रा, भ्रम, मूर्च्छा, क्लम तथा संन्यास का विभिन्न विकारों के लक्षणों के रूप में वर्णन किया गया है। वस्तुतः ये अपने आप में स्वतन्त्र विकार के रूप में न होकर अनेकानेक व्याधियों के प्रधान या अप्रधान लक्षण के रूप में प्राप्त होते हैं। यद्यपि ये लक्षण कई शारीरिक व्याधियों में भी पाए जा सकते हैं परन्तु प्रधानतः ये मानसिक लक्षण हैं अतः इनका मानसविकार के संदर्भ में उल्लेख करना उचित है। मूर्च्छाविकार की तुलना **Fainting** या **Coma** से कर सकते हैं। इसमें चेतनाशक्ति का ह्रास हो जाता है, मनुष्य की नेत्रों के सामने सुःख-दुःख के विवेक का नाश करने वाला अंधेरा छा जाता है। मनुष्य सुःख-दुःख ज्ञान के समाप्त होने पर गिर जाता है अतः इस अवस्था को मूर्च्छा कहते हैं। जब मनुष्य के दोषों के वेग शान्त हो जाते हैं तब वह पूर्णतया स्वस्थ हो जाता है।

---

[507] *च०सं०, सू०* 18/11-12

[508] पित्तश्चयथुः पीतः सरक्तो वा मृदुः शीघ्रानुसार्यूषादयश्चात्र वेदनाविशेषाः॥ *सु०सं०, चि०* 23/4

[509] *अ०हृ०, नि०* 13/33-34

4.10.2 मूर्च्छाविकार का निदान :- विभिन्न शारीरिक तथा मानसिक व्याधियों में मूर्च्छा विद्यमान होती है। यह एक स्वतन्त्र विकार न होकर अनेक विकारों के उपद्रव या लक्षणरूप में विद्यमान रहता है। किसी व्याधि में मूर्च्छा की स्थिति उपस्थित होने पर इसकी स्वतन्त्र प्रशमन व्यवस्था करनी पड़ती है। *चरकसंहिता* एवं *अष्टाङ्गहृदय* में मूर्च्छाविकार का स्वतन्त्र अध्याय के रूप में वर्णन नहीं किया गया है, केवल *सुश्रुतसंहिता* में मूर्च्छाप्रतिषेध नाम से स्वतन्त्र अध्याय के रूप में वर्णन मिलता है। *चरकसंहिता* में मूर्च्छाविकार के निदान एवं सम्प्राप्ति का वर्णन मद एवं संन्यास के साथ किया गया है। चरक ने इस विकार को परिलक्षित करते हुए कहा है कि जो दूषित आहार का प्रतिदिन सेवन करते हैं, रज तथा तम के आवरण से आवृत रहने वाले, मनुष्य के शरीर में वात, पित्त एवं कफ दोष अलग-अलग या एक साथ कुपित होकर रक्तवाही, रसवाही, संज्ञावाही स्रोतों में रूकावट पैदा कर देता है। वहाँ स्थित होकर मद, मूर्च्छा इन तीनों विकार को उत्पन्न करते हैं।[510] मूर्च्छाविकार का विस्तृत विवेचन सुश्रुत ने उत्तरतन्त्र में किया है

"क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः। वेगाघातादभीघाताद्धीनसत्त्वस्य वा नः॥

करणायतनेषूग्रा बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च। निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्च्छन्ति मानवाः"॥[511]

अर्थात् जो मनुष्य अत्यन्त कमजोर हो गया हो, वातादि दोषों का प्रकोप अत्यधिक मात्रा में बढ़ गया हो तथा जो विरुद्ध भोजन करता हो तथा मूत्र, मल आदि अधारणीय वेगों के धारण करने से, चोट लगने से, दुर्बल मन वाले या जिनसे सत्त्व गुण की अल्पता होती है। ऐसे व्यक्तियों के मन, नेत्र, श्रवण, नासादि तथा मनोवह स्रोतसों में विकृत दोषों का प्रवेश हो जाने पर मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है।

---

510 *च०सं०, सू०* 24/25-26

511 *सु०सं०, उ०* 46/3-4

अष्टाङ्गहृदय में मूर्च्छाविकार के निदान का वर्णन नहीं मिलता। मूर्च्छा या बेहोशी के कई कारण हैं- साधारण मूर्च्छा का हेतु सामान्यतः आवेशजन्य प्रभाव होता है, जैसे दुःखद समाचार सुनना, खून देखने पर, भोजन न करने के कारण, वातारण में अधिक गर्मी के कारण आदि। मूर्च्छा का मुख्य कारण मस्तिष्क तथा अन्य धातुओं में रक्तसंवहन का विकार ही है तथा यह दो प्रकार का होता है- हृदयसम्बन्धी एवं परिसरीय। प्रथम प्रकार में विकृति का केन्द्र हृदय ही होता है। रक्त की पर्याप्त मात्रा रहते हुए भी वह हार्दिकपेशीगत तथा हार्दिकपाटगत विकृति के कारण मस्तिष्क तथा अन्य धातुओं में पोषण के लिए रक्त की पर्याप्त मात्रा पहुँचाने में असमर्थ रहता है। इससे मस्तिष्क में रक्त की कमी तथा परिणामस्वरूप मूर्च्छा की उत्पत्ति होती है। दूसरे प्रकार में कुछ अंगों में केशिकाओं का विस्फार होने के कारण हृदयगामी सिरागत रक्तप्रवाह स्वभावतः कम हो जाता है। परिणामस्वरूप हृदय में रक्त की कमी हो जाती है। हृदय में रक्त की कमी होने से मस्तिष्क को सामान्यता मिलने वाली रक्त की कम हो जाती है। दोनों प्रकार से होने वाले रक्तसंवहन अवरोध मूर्च्छा के जनक हैं, तथापि मूर्च्छा की उत्पत्ति में परिसरीय प्रकार विशेष महत्त्व का है। प्राइस महोदय ने कहा है कि “It is important to note that giddiness, faintness or actual sycope is much more frequently due to peripheral circulatory failure”. अतः इस व्याधि के शारीरिक एवं मानसिक दो कारण हैं।

4.10.3 मूर्च्छाविकार के पूर्वरूप :- बृहत्त्रयी में मूर्च्छाविकार के पूर्वरूप का वर्णन केवल *सुश्रुतसंहिता* में उपलब्ध होता है। चरक ने मूर्च्छाविकार का वर्णन सूत्रस्थान एवं वाग्भट ने निदानस्थान में किया है परन्तु दोनों संहिताओं में त्रिविध दोषों से उत्पन्न मूर्च्छाविकार के लक्षण एवं उपचार का वर्णन मिलता है। *सुश्रुतसंहिता* में मूर्च्छाविकार का विवेचन करते हुए कहा गया है कि-

"हृत्पीडा जृम्भणं ग्लानिः संज्ञादौर्बल्यमेव च। सर्वासां पूर्वरूपाणि यथास्वं ता विभावयेत्"॥[512]

अर्थात् हृदय में वेदना, अधिक जम्भाई आना, किसी काम को करने की इच्छा न करना, ज्ञानशक्ति का दुर्बल हो जाना तथा बल का नाश हो जाना, ये सभी प्रकार की मूर्च्छाओं के पूर्वरूप के लक्षण हैं। इन्हीं मूर्च्छाओं के रूप में व्यक्त होने पर अपने वातादि लक्षणों से उन्हें जान लेना चाहिए।

4.10.4 मूर्च्छाविकार के लक्षण :- सुश्रुत ने इस विकार का वर्णन करते हुए कहा है कि "**अपस्मारोक्तलिङ्गानि तासामुक्तानि तत्त्वतः"**[513] अर्थात् वातिक, पैत्तिक एवं श्लैष्मिक अपस्मार के जो लक्षण होते है वे ही लक्षण मूर्च्छाविकार के भी होते हैं। वातिक अपस्मार से पीड़ित मनुष्य काँपता है, लम्बे-लम्बे श्वास लेता रहता है, झागयुक्त उल्टी करता रहता है। इस रोग से पीड़ित व्यक्ति को ऐसा लगता है कि कोई विकृत रूप वाला कृष्णवर्ण प्राणी उसका पीछा करता है तथा उसके बाद वह अचेत हो जाता है। पैत्तिक अपस्मारी मनुष्य प्यास, ताप, स्वेद और मूर्च्छा से ग्रस्त होता है। वह बेचैन होकर अपने अंगों को झकझोरता है। पैत्तिक अपस्मारी को प्रतीत होता है कि कोई विकृत रूप वाला पीतवर्ण प्राणी उसका पीछा कर रहा है और उसके बाद वह मूर्च्छित हो जाता है। कफज अपस्मारी व्यक्ति शीत, हृल्लास और नींद से पीड़ित होता है। वह धरती पर गिरता हुआ उल्टी करता है। ऐसा मनुष्य यह बताता है कि कोई विकृत रूप वाला श्वेत वर्णयुक्त प्राणी उसका पीछा करता है तथा उसके बाद वह बेहोश हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य में व्याधि के लक्षण स्पष्ट दिखाई देते है तथा उसे दोषानुसार विशेष आकृतियुक्त प्राणी की छाया दिखाई देती है

---

[512] *सु०सं०, उ०* 46/8 ; *मा०नि०* 17/6

[513] *सु०सं०, उ०* 46/9

4.10.5 मूर्च्छाविकार के भेद :- आयुर्वेदीय साहित्य में मूर्च्छाव्याधि के भिन्न-भिन्न भेद स्वीकार किए गए हैं। चरक एवं वाग्भट मूर्च्छाविकार के चार भेद एवं सुश्रुत मूर्च्छाविकार के छह भेद मानते हैं। चरक ने वातज, पित्तज, कफज एवं सन्निपातज मूर्च्छा के भेद बताए हैं एवं सुश्रुत ने वातज, पित्तज, श्लैष्मज, रक्तज, मद्यज एवं विषज मूर्च्छाविकार के भेदों का वर्णन किया है एवं इन सभी भेदों में पित्तदोष की प्रधान होती है। *सुश्रुतसंहिता* में विवेचित है कि

"वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च। षट्स्वप्येतासु पित्तं हि प्रभुत्वेनावतिष्ठते"॥[514]

चरक ने मूर्च्छा के ही स्वल्प बल स्वरूप मद को स्वीकृत किया है। सुश्रुत की रक्तजन्य मूर्च्छा, मद्य-जन्य मूर्च्छा और विषजन्य मूर्च्छा को लक्षणानुसार वातादि चतुर्विध मूर्च्छाओं में समावेश कर लिया जाता है।

4.10.6 पैत्तिक मूर्च्छाविकार के लक्षण :- बृहत्त्रयी में पित्तज मूर्च्छाविकार के अनेक लक्षण बताए गए हैं। *चरकसंहिता* में मूर्च्छाविकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस विकार से पीड़ित व्यक्ति आकाश को लाल, हरा या पीला देखते हुए बेहोश हो जाता है एवं स्वेद के साथ होश में आता है। उसे अधिक प्यास एवं सन्ताप प्रतीत होता है ; नेत्र लाल, पीली एवं बेचैन हो जाते हैं। वह पुरीष पतला करता है और उसका शरीर पीले रंग का होता है-

"रक्तं हरितवर्णं वा वियत् पीतमथापि वा। पश्यस्तमः प्रविशति सस्वेदः प्रतिबुध्यते॥

सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः। सम्भिन्नवर्चाः पीताभो मूर्च्छाये पित्तसम्भवे"॥[515]

---

[514] *सु०सं०, उ०* 46/7

[515] *च०सं०, सू०* 24/37-38 ; *मा०नि०* 17/9-10

सुश्रुत ने पैत्तिक मूर्च्छा के पूर्वोक्त लक्षणों को स्वीकार किया है तथा इन लक्षणों के कारण ही मनुष्य बेहोश होकर गिर जाता है तथा शीघ्र होश में भी आ जाता है। पीड़ित मनुष्य को दस्त भी होने लगते हैं तथा उसका शरीर पीला दिखाई देता है।[516] वाग्भट[517] ने पैत्तिक मूर्च्छाविकार के चरकोक्त लक्षण स्वीकार किए हैं। अतः रोगी को आकाश भिन्न-भिन्न रंग का दिखाई देता है तथा जब वह होश में आता है तब स्वेदयुक्त अवस्था में होता है। इन लक्षणों को देखकर वैद्य शीघ्र ही उपचार कर सकता है।

4.10.7 सान्निपातिक मूर्च्छाविकार के लक्षण :- इसमें त्रिविध दोषों के लक्षण होते हैं। इसका आवेग वीभत्स चेष्टाओं को छोड़कर अपस्मार के समान ही होता है। पीड़ित मनुष्य शीघ्र ही मूर्च्छित हो जाता है **"सर्वाकृति सन्निपातादपस्मार इवागतः स जन्तुं पातयत्याशु बीभत्सचेष्टितैः"**[518] अर्थात् सान्निपातिक मूर्च्छा में मुँह से झाग आना एवं दांत कटकाना आदि बीभत्स चेष्टाओं को छोड़कर अपस्मार के समान ही आवेग के रूप में विद्यमान होकर शीघ्र ही पीड़ित को संज्ञाहीन होकर धरती पर गिरा देती है। इसीलिए त्रिविध दोषों के लक्षणों को ध्यान में रखकर चिकित्सक को चिकित्सा करनी चाहिए।

4.11.1 उदरविकार परिचय :- आयुर्वेदीय संहिताओं में उदरविकार का स्वतन्त्ररूप से वर्णन प्राप्त होता है। यद्यपि कई अन्य आयुर्वेदीय व्याधियों में जैसे अतिसार, ग्रहणी आदि आश्रयस्थान की दृष्टि से उदरविकार ही है। फिर भी उदरविकारों से अभिप्राय उदरगत अवयवविशेष में होने वाली उन व्याधियों से है जिनका प्रमुख उपद्रव उदर का उत्सेध होता है। वस्तुतः उदर एक व्यापक शब्द है। इसके अन्तर्गत महास्रोतस् के आमाशय, पच्यमानाशय, ग्रहणी सहित अग्न्यधिष्ठान, पक्वाशय, क्षुद्रान्त्र, बृहदन्त्र, यकृत्, प्लीहा आदि शामिल होते हैं।

---

[516] *सु०सं०, उ०* 46/3-4

[517] पित्तेन रक्तं पीतं वा नभः पश्यन् विशेत्तमः। विबुध्येत् च सस्वेदो दाहतृट्तापपीडितः॥
भिन्नविण्नीलपीताभो रक्तपीताकुलेक्षणः। *अ०हृ०, नि०* 6/32-33

[518] *च०स०, सू०* 24/41 ; *सु०सं०, उ०* 46/7 ; *अ०हृ०, नि०* 6/35

इन शरीरांगों को आश्रय बनाकर होने वाली उत्सेधयुक्त विकारों को उदरव्याधि के अन्तर्गत गणना करते हैं। उदर प्रदेश में पन्द्रह कोष्ठांगों से अधिक अवयव आते हैं। चरक ने छप्पन प्रत्यङ्गों में उदर को परिगणित किया गया है। उदर की सीमा-निर्धारण के लिए महाप्राचीरा पेशी के अधोभाग से बस्ति पर्यन्त भाग को शामिल किया जाता है। इसके अन्तर्गत दो वायु समानवायु, अपानवायु, दो पित्त पाचकपित्त, रञ्जकपित्त एवं क्लेदककफ का स्थान स्वीकार किया जाता है। जठराग्नि का मूल स्थान उदर है, इसलिए चरक ने उदरव्याधि का मूल हेतु जठराग्नि की दुष्टि अथवा अग्नि का मन्द पड़ जाना बताया है। कहा भी है कि "**वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः"**[519] अर्थात् वर्षा ऋतु में धरती से निकलने वाले वाष्पों से, पानी बरसने से तथा जल का अम्लविपाक होने से जब अग्नि का बल क्षीण हो जाता है, तब वात आदि दोष कुपित हो जाते हैं। *चरकसंहिता* में अन्यत्रस्थान पर कहा गया है कि प्रकुपित हुआ वात जिसके शरीर में त्वचा और मांस के बीच आश्रित होकर कुक्षि में सूजन की उत्पत्ति होती है, उसे उदरव्याधि कहते हैं।[520]

4.11.2 उदरविकार का निदान :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में उदरविकार का स्वतन्त्र अध्याय के रूप में विवेचन प्राप्त होता है। *चरकसंहिता* में इस विकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अधिक उष्ण भोजन, अधिक नमक, क्षार, दाह उत्पन्न करने वाले द्रव, अधिक खट्टे पदार्थ और संयोग से उत्पन्न गरिष्ट विष के सेवन से, वमन-विरेचन द्वारा किए गए संशोधन के बाद समुचित तथा क्रमिकरूप से अपथ्य ग्रहण करने से, सूखे पदार्थ, विरुद्ध पदार्थ और मलिन अन्न का सेवन करने से उदररोग के कारण शरीर में दिखाई देते है तथा प्लीहा, अर्श या ग्रहणीविकार के कारण शरीर दुर्बल हो जाने पर, वमन आदि पञ्चकर्मों का विधियुक्त प्रयोग न करने से, मल-मूत्र आदि के वेगों के रोकने के कारण।

---

519 *च०सं०, सू०* 6/34

520 यस्य वातः प्रकुपितस्त्वङ्मांसान्तरमाश्रितः। शोथं सञ्जनयेत् कुक्षावुदरं तस्य जायते॥ *च०सं०, सू०* 18/31

अन्न का सम्यक् पाचन न होकर आम रस बनने से, भोजनोपरान्त शरीर में क्षोभ पैदा होने से, क्षुधा से अधिक भोजन करने से, मल मार्ग में मल अवरुद्ध होने से, अन्त्र के भेदन होने से, जिनके पेट में दोषों का अधिक संचय हो गया हो एवं जिसकी जठराग्नि मन्द हो, उन मनुष्यों को उदर रोग हो जाता है।[521] सुश्रुत एवं वाग्भट ने उदरविकार के कारण[522] पूर्वोक्त ही स्वीकार किए हैं। दोनों ने जठराग्नि के मन्द होने से उदरविकार की उत्पत्ति प्रमुखरूप से बताई है। अतः भोजन में अत्यधिक गर्म, खट्टे, क्षार, लवणयुक्त का सेवन करने से एवं वेगों को रोकने के कारण उदरविकार की उत्पत्ति होती है।

4.11.3 उदरविकार के पूर्वरूप :- आयुर्वेदीय साहित्य में उदरविकार होने के अनेक पूर्वरूप लक्षण शरीर पर दिखाई देने लगते हैं। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि भूख न लगना, अतिस्निग्ध एवं गौरव पदार्थों का समय से न पचना, आहार के पच जाने का परिज्ञान न होना, अधिक भोजन कर लेने पर सहन न कर पाने से कष्ट का अनुभव होना, पैरों में किञ्चित् सूजन हो जाना, लगातार शरीर के बल का ह्रास होना, परिश्रम करने पर श्वास में वृद्धि करना, उदर का बढ़ जाना, पुरीष का संचित होना, रूक्षता एवं उदावर्त में बस्तिसन्धि में वेदना होना, पेट में वायु भर जाना, लघुगुण युक्त एवं अल्पमात्रा में भी आहार करने पर पेट बढ़ते जाना, फटने लगना और तन जाता है। पेट में नीली रेखाओं का उभर जाना एवं पेट की वलियों का लोप हो जाना, ये सभी उदरविकार के पूर्वरूप होते हैं।[523]

---

[521] अत्युष्णलवनक्षारविदाह्यम्लगराशनात्। मिथ्यासंसर्जनाद् रूक्षविरुद्धाशुचिभोजनात्॥
प्लीहार्शोग्रहणीदोषकर्शनात् कर्मविभ्रमात्। क्लिष्टानामप्रतीकाराद् रौक्ष्याद्वेगविधारणात्॥
स्रोतसां दूषणादामात् सङ्क्षोभादतिपूरणात्। अर्शोवातशकृद् रोधादन्त्रस्फुटनभेदनात्॥
अतिसञ्चितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम्। उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः॥ *च०सं०, चि०* 13/12-15

[522] *सु०सं०, नि०* 7/5-6 ; *अ०हृ०, नि०* 12/1

[523] क्षुन्नाशः स्वाद्वतिस्निग्धगुर्वन्नं पच्यते चिरात्। भुक्तं विदह्यते सर्वं जीर्णाजीर्णं न वेत्ति च॥
सहते नातिसौहित्यमीषच्छोफश्च पादयोः। शवद्वलक्षयोऽल्पेऽपि व्यायामे श्वासमृच्छति॥
वृद्धिः पुरीषनिचयो रूक्षोदावर्तहेतुका। बस्तिसन्धौ रुगाध्मानं वर्धते पाट्यतेऽपि च॥
आतन्यते च जठरमपि लघ्वल्पभोजनात्। राजीजन्म वलीनाश इति लिङ्गं भविष्यताम्॥ *च०सं०, चि०* 13/16-19

सुश्रुत एवं वाग्भट ने पूर्वोक्त लक्षणों[524] को स्वीकार किया है। अतः इस अवस्था में यें लक्षण अव्यक्त होते हैं, जो कुछ समय पश्चात् स्पष्ट दिखाई देते हैं।

4.11.4 उदरविकार के लक्षण :- आयुर्वेदज्ञों ने उदरविकार के लक्षणों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इसके विशिष्ट लक्षणों में त्रिविध दोषों से उत्पन्न लक्षण समाहित होते हैं। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि कुक्षि में वायु का भर जाना, गुड़गुड़ का शब्द होना, हाथ-पैर में सूजन होना, जठराग्नि मन्द हो जाना, कपोलप्रदेश में चिकनापन होना और शरीर का दुबला-पतला हो जाना, ये लक्षण उदरव्याधि के दिखाई देते हैं-

"कुक्षेराध्मानमाटोपः शोफः पादकरस्य च। मन्दोऽग्निः श्लक्ष्णगण्डत्वं कार्श्यं चोदरलक्षणम्"॥[525]

वाग्भट ने इसके पूर्वोक्त लक्षण स्वीकार किए हैं तथा इनके अतिरिक्त पीड़ित मनुष्य के तालु तथा होंठ सूख जाते हैं तथा उसके पेट को छोडकर शेष शरीर सूख जाता है।[526] इस प्रकार के पीड़ित व्यक्ति जीवित रहते हुए भी मरे के समान पड़े रहते हैं। अतः इस विकार के जो लक्षण अव्यक्तावस्था में थे, वे अब स्पष्ट दिखाई देते हैं।

4.11.5 उदरविकार के भेद :- आयुर्वेद की सभी संहिताओं में इसके आठ भेद स्वीकृत हैं। उदररोग के आठ भेद इस प्रकार हैं- वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, प्लीहोदर, बद्धोदर, क्षतोदर एवं जलोदर।[527] सुश्रुत ने क्षतोदर को आगन्तुक एवं जलोदर को दकोदर कहा है।

---

[524] *सु०सं०, नि०* 7/7-8 ; *अ०हृ०, नि०* 12/5-8

[525] *च०सं०, चि०* 13/21

[526] तेनार्ताः शुष्कताल्वोष्ठाः शूनपादकरोदराः। नष्टचेष्टाबलाहाराः कृशाः प्रष्मातकुक्षयः॥
स्युः प्रेतरूपाः पुरुषाः। *अ०हृ०,नि०* 12/4-5

[527] पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः। *च०सं, चि०* 13/22
सु०सं०, नि० 7/4 ; *अ०हृ०, नि०* 12/3

4.11.6 उदरविकार की सम्प्राप्ति :- चरक ने चिकित्सास्थान में उदरव्याधि का वर्णन करते हुए कहा है कि जठराग्नि के मन्द होने के कारण वातादि दोष या मूत्र, पुरीष मल बढ़ जाते हैं जिसके कारण अनेक व्याधियों की उत्पत्ति होती है एवं प्रमुखतया उदरविकार पैदा होता है। अग्नि के मन्द हो जाने पर जब दोषयुक्त मलिन आहार का सेवन किया जाता है, उस अवस्था में अन्न का सम्यक् रूप से पाचन नहीं हो पाता एवं दोषों का संचय होने लगता है। वह संचय दोष प्राणवायु, जठराग्नि और अपान वायु को प्रदूषित कर ऊपर एवं नीचे के मार्गों को अवरुद्ध कर देता है। यह त्वचा और मांस के मध्य में आकर कुक्षि को उत्सेध युक्त बनाकर उदरव्याधि को उत्पन्न करता है।[528] सुश्रुत ने उदरविकार के सन्दर्भ में एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है जिस प्रकार नूतन घड़े में रखा स्नेह छोटे-छोटे छिद्रों से बाहर निकल जाता है उसी प्रकार अन्नसार प्रकुपित वायु की गति से प्रेरित होकर एवं उदर अवयवों से बाहर आकर तथा त्वचा को धीरे-धीरे उन्नत कर चारों से बढ़ता हुआ उदरविकार की उत्पत्ति करता है-

"कोष्ठादुपस्नेहवदन्नसारो निःसृत्य दुष्टोऽनिलवेगनुन्नः॥

त्वचः समुन्नस्य शनैः समन्ताद् विवर्धमानो जठरं करोति"।[529]

निरोगावस्था में अन्नरस जोकि रक्त के साथ मिला हुआ होता है केशिकाओं की पतली दीवारों से चू-चू कर शरीराङ्गों का पोषण करता है तथा पुनः लसीका वाहिनियों द्वारा रक्त में मिल जाता है। मनुष्य के रोगी होने पर केशिकाओं की दीवारों की स्रवणक्षमता अधिक हो जाती है, जिससे रक्त से रस का अधिक स्रवण होकर उन स्थानों में सूजन उत्पन्न हो जाती है। इस तरह लसीका वाहिनियों से लसीका या रक्तवाहिनियों से रक्तरस जिन-जिन अवकाशयुक्त स्थानों में इकट्ठा होता है उनके नाम अलग-अलग बताए गए हैं।

---

[528] *च०सं०, चि०* 13/9-11

[529] *सु०सं०, नि०* 7/6-7

जैसे उदर में जलोदर, छाती में जलोरस, फुफ्फुसावरण में उरस्तोय, मस्तिष्क गुहाओं में जलमस्तिष्क, वृषण में जलवृषण, हृदयावरण आदि नाम बताए गए हैं। वाग्भट ने *अष्टाङ्गहृदय* में चरकोक्त सम्प्राप्ति के लक्षण[530] स्वीकार किए हैं। उदरविकार की सम्प्राप्ति को सारणी द्वारा सरलतया समझाया जा रहा है।

उदरविकार की सम्प्राप्ति[531]

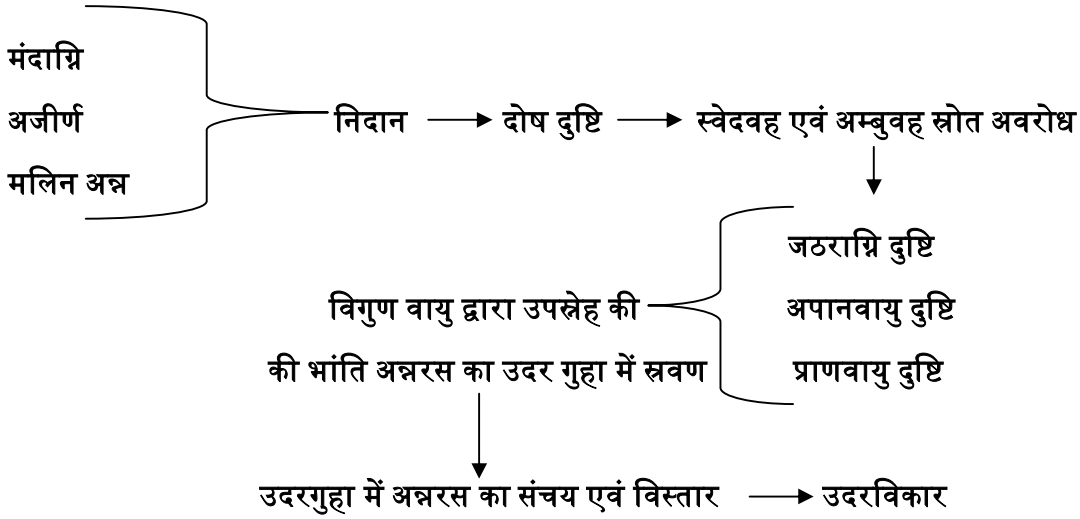

4.11.7 पैत्तिक उदरविकार के निदान एवं सम्प्राप्ति :- *चरकसंहिता* में केवल पैत्तिक उदरविकार का निदान एवं सम्प्राप्ति में उपलब्ध होता है। *सुश्रुतसंहिता* एवं *अष्टाङ्गहृदय* में केवल पैत्तिक उदरविकार का लक्षण प्राप्त होता है। *चरकसंहिता* में उदरविकार का वर्णन करते हुए कहा गया है-

"कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णाग्न्यातपसेवनैः। विदाह्यध्यशनाजीर्णैश्चाशु पित्तं समाचितम्॥

प्राप्यानिलकफौ रुद्धवा मार्गमुन्मार्गमास्थितम्। निहन्त्यामाशये वह्निं जनयत्युदरं ततः"॥[532]

---

[530] ऊर्ध्वाधो धातवो रुद्ध्वा वाहिनीम्बुवाहिनीः। प्राणाग्न्यपानान् सन्दूष्य कुर्युस्त्वङ्मांससन्धिगाः॥
आध्माप्य कुक्षिमुदरम्। *अ०हृ०, नि०* 13/2-3

[531] *च०सं०*, भाग-2, पृ० 293

[532] *च०सं०, चि०* 13/26-27

अर्थात् कटु, खट्टे, नमकीन, अधिक गर्म और तीक्ष्ण अन्न पदार्थों के सेवन से, अग्नि और धूप के अधिक सेवन से, विदाही पदार्थों के सेवन से, पहले किए हुए भोजन के बिना पचे ही पुनः भोजन करने से और अजीर्ण होने से संचित पित्त, वात तथा कफ के साथ मिल जाता है और उनके मार्ग में रूकावट पैदा कर देता है तथा स्वयं भी उन्मार्गगामी होकर आमाशय की जठराग्नि को मन्द करके उदरविकार की उत्पत्ति होती है।

4.11.8 पैत्तिक उदरविकार के लक्षण :- *चरकसंहिता* में वर्णित है कि शरीर में जलन, ज्वर, प्यास, बेहोशी, अतिसार, शिर में चक्कर आना, मुँह में कड़वापन, नाखून-आँख-त्वचा-मूत्र-मल का हरा या हल्दी के समान पीला पड़ जाना, पेट में नीली, पीली, हरी, ताम्रवर्णी रेखाओं एवं सिराओं का उभार होना, पेट में जलन, सन्ताप, धुआँ उठने जैसा, गर्मी उत्पन्न होना, अधिक पसीना होना, गीलापन होना, पेट कोमलस्पर्श युक्त होना एवं शीघ्र ही परिपक्व होकर जलोदर का रूप पकड़ लेना, ये सभी लक्षण पैत्तिक उदरविकार के होने पर दिखाई देते हैं।[533] सुश्रुत एवं वाग्भट ने पैत्तिक उदरविकार के उपरोक्त लक्षण[534] स्वीकार किए हैं। अतः उपरोक्त लक्षण शरीर में स्पष्टरूप से दिखाई देते हैं, जिन्हें उपचारक देखकर उपचार करता है।

इस प्रकार शरीर में पित्तदोष की विकृति से ज्वर, रक्तपित्त, पाण्डु, कामला, मूर्च्छा, तृष्णा आदि विकारों की उत्पत्ति होती है। आयुर्वेदीय संहिताओं में तो पित्तदोष के चालीस विकार बताए गए हैं परन्तु निदानस्थान एवं चिकित्सास्थान में चालीस विकारों के निदान एवं चिकित्सा प्राप्त नहीं होती। अतः इस अध्याय में प्रमुखतया पित्तदोष की वृद्धि या क्षय से होने वाले विकारों का पर्यालोचन किया गया है एवं अग्रिम अध्याय में पित्तजविकारों का उपचारात्मक पर्यालोचन किया जाएगा।

---

[533] *च०सं०, चि०* 13/28

[534] *सु०सं०, नि०* 7/9-10 ; *अ०हृ०, नि०* 12/16-17

पञ्चम अध्याय

आयुर्वेद साहित्य में शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से दो प्रकार के विकार स्वीकार किए गए हैं तथा इन दोनों प्रकारों का विधान आयुर्वेद में समुपलब्ध होता है। मानसिक विकारों का उपचार का नाम 'सत्त्वावजय' है। यहाँ 'सत्त्व' शब्द से मन का ग्रहण होता है। शारीरिक विकार त्रिविध दोषों के वैषम्य से उत्पन्न होते हैं। शरीर में पित्तदोष की विकृति से उत्पन्न होने वाले अनेक विकार हैं जिनका पिछले अध्याय में निदान बताया गया है। पिछले अध्याय के निदानस्थान में पैत्तिक विकारों का जो क्रम दिया गया है, तदनुरूप उनका उपचार किया जाएगा। अतएव सर्वप्रथम ज्वरविकार की चिकित्सा का विवेचन किया जाएगा।

5.1.1 ज्वरविकार का उपचार :- आयुर्वेदीय संहिताओं में ज्वरव्याधि के उपचार के लिए लंघन, वमन-विरेचन, उष्ण जल, शीतल जल, तर्पण, औषध आदि का प्रयोग किया जाता है। जिनका विवेचन निम्नोक्त प्रकार से वर्णित है।

5.1.2 ज्वरविकार में लंघन :- *चरकसंहिता* में वर्णित है कि यदि ज्वररोग नूतन हो अर्थात् ज्वरव्याधि हुए दो से छह दिन ही हुए हो, तब उस अवस्था में सर्वप्रथम मनुष्य को उपवास रखना चाहिए। परन्तु यदि रोगी को क्षयज, वातज, भयज, क्रोधज, कामज, शोकज और श्रमजन्य ज्वर से ग्रस्त हो, तब उस अवस्था में रोगी को उपवास नहीं रखना चाहिए-

"ज्वरे लङ्घनमेवादावौ उपदिष्टमृते ज्वरात्। क्षयानिलेभयक्रोधकामशोकश्रमोद्वात्"॥[535]

वाग्भट ने ज्वरविकार से पीड़ित को उपवास करने का स्पष्ट निर्देश देते हुए कहा है कि जब आमाशय में विद्यमान वातादि कोई एक दोष जठराग्नि को मन्द करके अपरिपक्व रस के साथ मिलकर रसवाही स्रोतों को अवरुद्ध करके ज्वरविकार को उत्पन्न कर देता है।

---

[535] *च०सं०, चि०* 3/139-140

इसलिए रोगी में ज्वरव्याधि के पूर्वरूपों को देखकर अथवा ज्वर के प्रारम्भ में ही पीड़ित मनुष्य के बल का ध्यान रखते हुए उपवास करवाना चाहिए या रोगी शारीरिक रूप से कमजोर है तो उसे लघु भोजन करवाना चाहिए। उसे उतना लंघन करना चाहिए, जिससे बलहानि न हो, क्योंकि आरोग्य का आश्रयस्थान मनुष्य का बल है, इसलिए आरोग्य की प्राप्ति के लिए चिकित्सा की जाती है।[536] सुश्रुत ने भी रोगी के शरीर में ज्वर के पूर्वरूप के लक्षण व्यक्त होने पर, जिस उपचार का वर्णन किया है उनमे उपवास कराने का विधान बताया है।[537] अतः ज्वर से पीड़ित व्यक्ति के बलाबल को देखकर उपवास कराना चाहिए। यदि वह दुर्बल हो, तब उसे लघु भोजन देना चाहिए।

5.1.3 उपवास करने के लाभ :- आयुर्वेदीय संहिताओं में ज्वरविकार की उत्पत्ति होने पर लंघन करने का विधान मिलता है, रोगी को उपवास कराने से बहुत आराम मिलता है। चरक ने कहा है कि जब मनुष्य उपवास करता है तो उसके शरीर में बढ़े हुए दोष समाप्त हो जाते है, जठराग्नि के उत्तेजित हो जाने पर ज्वर शान्त हो जाता है, शरीर में हल्कापन और भूख अधिक लगती है। परन्तु उसके उपवास करने से प्राणशक्ति का क्षय नहीं होना चाहिए। क्योंकि आरोग्य का आधार बल ही है, इसलिए बल की रक्षा करते हुए लंघन करना चाहिए। *चरकसंहिता* में विवेचित है कि-

"लङ्घनेन क्षयं नीते दोषे सन्धुक्षितेऽनले॥ विज्वरत्वं लघुत्वं च क्षुच्चैवास्योपजायते।

प्राणाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत्॥ बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः"।[538]

---

536 आमाशयस्थो हत्वाऽग्निं सामो मार्गान् पिधाय यत्। विदधाति ज्वरं दोषस्तस्मात्कुर्वीत लङ्घनम्॥
प्राग्रूपेषु ज्वरादौ वा, बलं यत्नेन पालयन्। बलाधिष्ठानमारोग्यमारोग्यार्थः क्रियाक्रमः॥ *अ०हृ०, चि०* 1/1-2

537 प्रव्यक्तरूपेषु हितमेकान्तेनापतर्णम्। *सु०सं०, उ०* 39/101

538 *च०सं०, चि०* 3/140-142

सुश्रुतसंहिता में उपवास करने की अवधि को नहीं बताया गया है। जब ज्वरविकार से पीड़ित स्थिर दोषों से ग्रस्त रहता है, तब तक उसे अनशन कराना चाहिए। तदुपरान्त यदि रोगी की आहार में रुचि उत्पन्न हो, उसे पेयादि का सेवन करना चाहिए। जब मनुष्य की जठराग्नि और दोष अनवस्थित हो, तब उसे उपवास करना चाहिए। जिससे दोषों का पाचन होता है, ज्वर शान्त होता है, अग्नि दीप्त होती है, अन्न ग्रहण करने की इच्छा, रुचि और शरीर में लघुता आती है-

"अनवस्थितदोषाग्नेर्लङ्घनं दोषपाचनम्॥ ज्वरघ्नं दीपनं काङ्क्षारुचिलाघवकारकम्"।[539]

वाग्भट ने एक सुन्दर उदाहरण द्वारा उपवास की समयसीमा को अभिव्यक्त किया है। जिस प्रकार राख द्वारा अग्नि ढकी रहती है तथा नीचे आग होने पर भी चावलों को पका नहीं सकती, उसी प्रकार आमदोष से जठराग्नि ढकी रहती है। वह खाए हुए अन्न को पचा नहीं सकती, इसलिए आमदोष का सम्यक् रूप से पाचन होने तक ज्वरी को उपवास करवाना चाहिए।[540] वाग्भट[541] ने रोगी द्वारा उपवास के करने पर चरकानुसार पूर्वोक्त लाभ स्वीकार किए हैं तथा साथ ही उपवास करने से पाचनशक्ति एवं ओजधातु की वृद्धि होती है।

चरकसंहिता में इस विकार का उपचार करते हुए कहा गया है कि नवज्वर अथवा सामज्वर में प्रथम लंघन कराना चाहिए। परन्तु दुर्बल मनुष्य में लघु भोजन ही लंघन होता है। वस्तुतः पीड़ित मनुष्य के बलाबल हो देखकर तदनुरूप ही लंघन चिकित्सक को करवाना चाहिए। नवज्वर में दिवास्वप्न, स्नान, अभ्यंग, अन्न, मैथुन, क्रोध, व्यायाम, वायु के प्रवाह में रहना तथा कषाय प्रयोग हितकर नहीं होता।[542]

---

539 *सु०सं०, उ०* 39/104-105

540 दोषेण भस्मनेवाग्नौ छन्नेऽन्नं विपच्यते। तस्मादादोषपचनाज्ज्वरितानुपवासयेत्॥ *अ०हृ०, चि०* 1/10

541 लङ्घनैः क्षपिते दोषे दीप्तेऽग्नौ लाघवे सति। स्वास्थ्यं क्षुत्तृड् रुचिः पक्तिर्बलमोजश्च जायते॥ *अ०हृ०, चि०* 1/3

542 नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्न मैथुनम्॥ क्रोधप्रवातव्यायामान् कषायाँश्च विवर्जयेत्। *च०सं०, चि०* 3/138-139

अर्थात् नए ज्वर में इन सभी कार्यों को करने से ज्वरविकार की वृद्धि होती है। प्रायः आठवें दिन तक ज्वर निराम हो जाता है- "**आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः"**। हारीत ने एक दिन, तीन दिन या छह दिन लंघन की मर्यादा बताई है जो आमावस्था की मात्रा के आधार पर स्वीकार की है। यदि ज्वरी उपवास से स्वस्थ नहीं हो रहा हो, तो उसे अधिक उपवास नहीं करवाना चाहिए। क्योंकि अत्यधिक लंघन कराने से शरीर में बल की हानि, प्यास, मुखशोष, तन्द्रा, नींद, भ्रम, अनायाम थकान, श्वास-कास-स्वरभेद आदि उपद्रव हो जाते हैं। अतः नवज्वर में लंघन करने से जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है और दोषों का पाचन कर देती है।

5.1.4 तरुण ज्वरविकार में पाचन :- चरक ने तरुण ज्वर का वर्णन करते हुए कहा है कि उपवास कराना, स्वेदन, समय व्यतीत करना, यवागू प्रयोग और तिक्तरस में सिद्ध यवागू या जल आदि का प्रयोग करने से तरुण ज्वर में आमदोषों का पाचन होता है।[543] नवज्वर से पीड़ित रोगी में उपवास तथा गर्म जल द्वारा स्वेदन उपयोगी होता है। इस ज्वर में यवागू तथा तिक्तरस श्रेष्ठ उपचार माना गया है। जब मनुष्य वातज्वर एवं कफज्वरविकार से पीड़ित होता है तब उसे उष्ण जल देना चाहिए। उसे गर्म जल थोड़ा-थोड़ा एवं बारम्बार पिलाना चाहिए। वह गर्म जल कफदोष को पिघला कर प्यास को शीघ्र दूर कर देता है। वह जठराग्नि को तीव्र कर और स्रोतों को कोमल करके उन्हें शुद्ध कर देता है। इससे रुके हुए पित्त, वात, स्वेद, मूत्र, मल अपने-अपने मार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं। *चरकसंहिता* एवं *अष्टाङ्गहृदय* में तरुण ज्वरविकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि-

"तृष्यते सलिलं चोष्णं दद्याद्वातकफज्वरे॥ तृष्णगल्पाल्पमुष्णाम्बु पिबेद्वातकफज्वरे"।[544]

---

[543] लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः॥ *च०सं०, चि०* 3/142

[544] *च०सं०, चि०* 3/143 ; *अ०हृ०, चि०* 1/11

सुश्रुत[545] ने नूतन ज्वरविकार के प्रशमन में उष्ण जल को लाभप्रद स्वीकार किया है तथा साथ ही उष्ण जल को पित्त एवं वायु का अनुलोमक बताया है। आयुर्वेदज्ञों ने स्वीकार किया है कि उष्णोदक के इतने गुण होने पर उसे अधिक मात्रा में पीना नहीं चाहिए। क्योंकि पित्त ज्वरकर धातु है इसलिए उष्ण जल कम मात्रा में पीना चाहिए। वैद्य द्वारा ज्वरी के शरीर, निदान, देश, काल का विचार करके दोषों के पाचन के लिए उष्ण जल का सेवन करने की सलाह देनी चाहिए। उष्ण जल के इतने गुण होने पर भी दाह, भ्रम, प्रलाप से युक्त अतिसार में नहीं देना चाहिए। अन्यथा ये विकार ओर अधिक बढ़ जाते हैं। ज्वरविकार से ग्रस्त मनुष्य को ठण्डा जल पिलाने से वृद्धि होती है अतः उसे गर्म जल ही पिलाना चाहिए। पित्तज्वर एवं मद्यपानजन्य ज्वर में तिक्त रसवाले द्रव्यों को डालकर पकाए गए क्वाथ को ठण्डा करके ज्वरी को पिलाना चाहिए। क्योंकि उष्ण जल और तिक्त द्रव्यसाधित ठण्डा जल दोनों अग्नि दीपन, पाचन तथा ज्वर को शान्त करते हैं। दोनों प्रकार के जल स्रोतों को शुद्ध करते हैं, शरीर में शक्ति प्रदान करते हैं, अन्न में रुचि उत्पन्न होती है, शरीर में पसीना लाते हैं। *चरकसंहिता* में कहा भी गया है कि-

"मद्योत्थे पैत्तिके वाथ शीतलं तिक्तकैः शृतम्। दीपनं पाचनं चैव ज्वरघ्नमुभयं हि तत्॥

स्रोतसां शोधनं बल्यं रुचिस्वेदकरं शिवम्"।[546]

वाग्भट ने सर्वप्रथम पैत्तिक ज्वरविकार में उष्ण जल का निषेध किया है तथा साथ ही पित्तदोष से उत्पन्न होने वाले रोगों सन्ताप, दाह, मोह, अतिसार, विषज विकार, मद्यविकार आदि में भी उष्ण जल का निषेध किया है। तदुपरान्त पैत्तिक ज्वरव्याधि में नागरमोथा, पित्तपापडा, खश, लाल चन्दन, सुगन्धबाला और सोंठ इन द्रव्यों को 2-2 ग्राम लेकर तथा एक साथ कूट कर 3/4 लीटर जल में पका लेना चाहिए और आधा पानी बचने पर छान लेना चाहिए।

---

[545] दीपनं कफविच्छेदि पित्तवातानुलोमनम्॥ कफवातज्वरार्तेभ्यो हितमुष्णाम्बु तृट्छिदम्। तद्धि मार्दवकृद्दोषस्रोतसां *सु०सं०, उ०* 39/107-108

[546] *च०सं०, चि०* 3/144-145

उस उबले हुए पानी को थोड़ी देर ठण्डा करके पीड़ित को पीने के लिए देना चाहिए। यह शीतल जल रोगी के लिए हितकर, पाचन, प्यास तथा ज्वर को शान्त करने वाला होता है।[547] चरक एवं सुश्रुत ने शीतल जल के लिए ये षडङ्गपानीय प्रयोग को स्वीकार किया है। इसमें कोई अन्तर नहीं है।

मनुष्य को सुलंघित तब जानना चाहिए जब उसकी वायु, मल एवं मूत्र का सम्यक् रूप से परित्याग होने लगे तथा उसे भूख और प्यास सहन न हो रही हो। उसे अपने शरीर में लघुता की प्रतीति होने लगे, आत्मा एवं इन्द्रियों में प्रसन्नता हो तथा कार्य करने की क्षमता आ गई हो। *सुश्रुतसंहिता* में कहा गया है कि-

"सृष्टमारुतविण्मूत्रं क्षुत्पिपासाऽसहं लघुम्॥ प्रसन्नात्मेन्द्रियं क्षामं नरं विद्यात् सुलङ्घितम्"।[548]

यदि उपचारक को ये सभी लक्षण मनुष्य में दिखाई दे, तब यह समझना चाहिए कि अब वह पूर्णरूप से स्वस्थ हो गया है। अतः वात व कफदोष से होने वाले ज्वरव्याधि में गर्म जल का सेवन रोगी को करना चाहिए।

5.1.5 ज्वरविकार में वमन प्रयोग :- जब पीड़ित व्यक्ति में कफदोष की प्रधानता हो और उसे वमन करने की इच्छा हो रही हो तथा जिसके **ज्वर**जनक दोष आमाशय में विद्यमान हो। इन सभी बातों को जानकर ही वमन के योग्य पीड़ित को उचित समय पर वमन करवाकर दोषों का शमन करना चाहिए। चरक ने इस विकार का उपचार करते हुए कहा है कि-

"कफप्रधानानुत्क्लिष्टान् दोषानामाशयस्थितान्।

बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत्"॥[549]

---

[547] घनचन्दनशुण्ठ्यम्बुपर्पटोशीरसाधितम्॥ शीतं तेभ्यो हितं तोयं पाचनं तृड्ज्वरापहम्। *अ०हृ०, चि०* 1/14-15
सु०सं०, उ० 39/109-110 ; *च०सं, चि०* 3/145-146

[548] *सु०सं०, उ०* 39/105-106

सुश्रुत[550] ने कहा है कि यदि दोष आमाशय में विद्यमान हो तथा वमनेच्छा हो, तब उस अवस्था में रोगी को वमन कराना उत्तम है। वाग्भट[551] ने भी ज्वरी को वमन करने का निर्देश दिए हैं तथा कहा है कि यदि ज्वर के प्रारम्भ में आमयुक्त दोष अत्यधिक बढ़ गए हों और बाहर निकलने के लिए तत्पर हो, कफ प्रधान हो, अपने स्थान से चलायमान हो, रोगी का जी मिचला रहा हो, उसके मुख से लार निकल रही हो, कुछ भी खाने की इच्छा न हो, कास हो, विसूचिका अर्थात् वमन-विरेचन हो रहा हो, उसे भोजन करते ही ज्वर आ रहा हो तथा विशेषकर आमज्वर के लक्षण वाला हो और रोगी वमन कराने के योग्य हो, तो उसे वमन कराना चाहिए।

उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त स्थिति[552] में ज्वरी को वमन कराने पर श्वास, अतिसार, सम्मोह, हृद्रोग की उत्पत्ति हो सकती है। जिस प्रकार कच्चे आम से स्वरस निकालने से आम का स्वरूप विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आमसहित धातुओं में स्थित तीनों दोष शरीर में व्याप्त होते हैं और आसानी से निकाले नहीं जा सकते। यदि उन्हें बिना पाक हुए निकाला जाएगा, तो शरीर में बड़ी हानि होने की सम्भावना हो सकती है। *अष्टाङ्गहृदय* में वमनकारक औषधियों[553] का विवेचन इस प्रकार किया गया है- मैनफलों के चूर्ण को पिप्पली के चूर्ण के साथ मिलाकर तथा साथ ही उसमें मुलेठी के चूर्ण भी मिलाना चाहिए, उसे मधु या नमक मिलाकर गुनगुने जल के साथ ज्वरी को पिलाना चाहिए या कड़वा परवल, नीम, बाँझकोड़ा तथा बेंत के पत्तों के क्वाथ के साथ पिलाएँ। उपचारक को ज्वरी के बलाबल को देखकर ही वमन कराना चाहिए। अतः कफदोषयुक्त ज्वरव्याधि से पीड़ित को वमन कराना चाहिए। जब आमाशय विद्यमान हो।

---

549 *च०स०, चि०* 3/146

550 आमाशयस्थे दोषे तु सोत्क्लेशे वमनं परम्। *सु०सं०, उ०* 39/102

551 तत्रोत्कृष्टे समुत्क्लिष्टे कफप्राये चले मले। सहृल्लासप्रसेकान्नद्वेषकासविषूचिके॥
सद्योभुक्तस्य सञ्जाते ज्वरे सामे विशेषतः। वमनं वमनार्हस्य शस्तं। *अ०हृ०, चि०* 1/4-5

552 *अ०हृ०, चि०* 1/5 ;
अनुपस्थितदोषाणां वमनं तरुणे ज्वरे॥ हृद्रोगं श्वासमानाहं मोहं च जनयेद् भृशम्। *च०सं०, चि०* 3/147

553 *अ०हृ०, चि०* 1/6-8

5.1.6 ज्वरविकार में यवागू प्रयोग :- जब पीड़ित मनुष्य को लंघन और वमन करवा दिया गया हो, तो उसके बाद भोजन के समय ज्वरविकार को शान्त करने वाली औषधियों के क्वाथ में पकाया हुआ मण्ड मिलाकर, पीड़ित को यवागू सेवन करने के लिए देना चाहिए। पीड़ित को यवागू का सेवन तब तक कराते रहना चाहिए, जब तक ज्वरविकार का वेग मन्द न हो जाए या छह दिन तक यवागू का सेवन कराना चाहिए। यदि ज्वरी यवागू का सेवन उपचारक के अनुसार करता है, तब उसकी जठराग्नि शीघ्र ही प्रदीप्त हो जाती है जैसे अग्नि में इन्धन डालने से अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि-

"वमितं लङ्घितं काले यवागूभिरुपाचरेत्। यथास्वौषधसिद्धाभिर्मण्डपूर्वाभिरादितः॥

यावज्जवरमृदूभावात् षडहं वा विचक्षणः। तस्याग्निर्दीप्यते ताभिः समिद्भिरिव पावकः"॥[554]

सुश्रुत एवं वाग्भट[555] ने ज्वरव्याधि से पीड़ित रोगी को यवागू पिलाने का निर्देश दिया है। वाग्भट ने तो एक सुन्दर उदाहरण देते हुए कहा है कि जिस प्रकार पतली-पतली लकड़ियाँ चुल्हे में डालने से अग्नि शीघ्र प्रज्वलित हो जाती है उसी प्रकार यवागू का प्रयोग प्रतिदिन छह दिन तक देते रहना चाहिए, जब तक ज्वरविकार शान्त न हो जाए। यवागू में औषधियों के होने से एवं लघुगुणविशिष्ट होने के कारण अग्नि को प्रदीप्त करती है। यह अपान वायु, मल, मूत्र और दोषों को शरीर से बाहर निकालती है, द्रव व उष्ण होने के कारण स्वेद कारक होती है। यह आहार द्रव्य होने से शरीर में बलवर्धक होती है। यह अनुलोमन होने से शरीर में स्फूर्ति लाती है। यह ज्वरविकार को शान्त करती है। अतः चिकित्सक द्वारा ज्वरविकार में पेयादि पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए।

---

554 *च०सं०, चि०* 3/149-150

555 *सु०सं०, उ०* 39/110 ; *अ०ह्र०, चि०* 1/24-26

आयुर्वेदज्ञों ने कुछ रोगी के लिए यवागू का सेवन वर्जित भी बताया है। उन मनुष्यों को यवागू का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जो मद्यपान के नशे से उत्पन्न मदात्यरोग में नित्य मद्यपान करते हैं और ग्रीष्मऋतु आने पर ज्वरविकार में जब पित्त-कफदोष अधिक हो गये हों। रक्तपित्त का वेग ऊर्ध्वगामी हो गया हो, तब ऐसी स्थिति में ज्वरविकारी को यवागू का सेवन हितकारक न होकर हानिकारक होता है, क्योंकि यह उष्ण होने के कारण पित्त की वृद्धि करके ज्वरवेग को बढ़ा देता है। चरक ने यवागू का विवेचन करते हुए कहा है कि "**मदात्यये मद्यनित्ये ग्रीष्मे पित्तकफाधिके। ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च यवागूर्न हिता ज्वरे"।।**[556] अतः ज्वरव्याधि से ग्रस्त व्यक्ति को यवागू देने से शीघ्र ही लाभ मिलता है। परन्तु ग्रीष्म ऋतु में यवागू देने से हानि होती है। इसलिए इस ऋतु में यवागू का निषेध करना चाहिए।

5.1.7 ज्वरविकार में कषाय प्रयोग :- ज्वरविकार से ग्रस्त मनुष्य को ज्वर के प्रारम्भिक छह दिन बीत जाने पर सातवें दिन हल्का भोजन देना चाहिए। उसे आठवें दिन आमदोष के पाचन के लिए पाचन द्रव्यों से सिद्ध कषाय और पक्व दोष होने पर दोषशामक द्रव्यों से सिद्ध कषाय पिलाना चाहिए। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि-

"पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेद् भिषक्। ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम्"॥[557]

सुश्रुत[558] ने कषाय प्रयोग को अधिक विस्तृतरूप से विवेचित करते हुए कहा है कि यदि रोगी बहुदोषों से युक्त हो, उसकी अग्नि मन्द हो गई हो और सात दिन तक उपवास करने पर, षडंगपानीयादि के सेवन करने पर तथा यवागू सेवन करने पर भी दोष का पाचन न हुआ हो। तो ऐसे पीड़ित रोगी के मुख के स्वाद को सम्यक् करने, प्यास शान्त करने, भोजन में अरुचि को नष्ट

---

556 *च०सं०, चि०* 3/155

557 *च०सं०, चि०* 3/161

558 बहुदोषस्य मन्दाग्नेः सप्तरात्रात्परं ज्वरे। लङ्घनाम्बुयवागूभिर्यदा दोषो न पच्यते॥
तदा तं मुखवैरस्यतृष्णारोचकनाशनैः। कषायैः पाचनैर्हृद्यैर्ज्वरघ्नैः समुपाचरेत्॥ *सु०सं०, उ०* 39/112-113

करने वाले पाचन, हृद्य और ज्वरहर क्वाथ रोगी को पिलाना चाहिए। वाग्भट[559] ने ज्वरी को कषाय पिलाने के लिए कहा है। विशेषरूप से जब ज्वरविकार में पित्तदोष की अधिकता हो, तब तिक्तद्रव्यों का सेवन तथा कफदोष की अधिकता हो, कटुद्रव्यों के क्वाथ का सेवन ज्वरविकार से ग्रस्त मनुष्य को करना चाहिए।

अष्टाङ्गहृदय में वर्णित है कि "**तिक्तः पित्ते विशेषेण प्रयोज्यः, कटुकः कफे"।**[560] सुश्रुत ने तीनों दोषों से उत्पन्न ज्वरविकार में क्वाथ देने के लिए कहा है- वातज ज्वरव्याधि में बृहत्पञ्चमूल क्वाथ, पित्तज ज्वरविकार में मधुयुक्त नागरमोथा, कुटकी और इन्द्रजौ से निर्मित क्वाथ का सेवन करना चाहिए। कफज ज्वररोग में पिप्पल्यादि कषाय रोगी को देना चाहिए।[561] ये सभी क्वाथ दोषों का पाचन करते हैं। द्वन्द्वज ज्वरों में दोष पाचनार्थ सम्मिलित उपचार करना चाहिए। *चरकसंहिता* में पित्तकफज ज्वरविकार के प्रशमन में क्वाथ देने का विधान बताया गया है- आँवला, हर्रा, बहेड़ा, त्रायमाणा, मुनक्का और कुटकी इन सभी पदार्थों को बराबर कूटकर 25 ग्राम का क्वाथ बनाकर प्रातःकाल-सायंकाल पीने से पित्त एवं कफदोष को शान्त करता है और वायु का अनुलोमन करता है। इसी में निशोथ और चीनी मिलाकर पीने से यह क्वाथ पित्तकफज ज्वर को शान्त करता है।[562] सन्निपात ज्वरविकार को शान्त करने के लिए बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, इन्द्रजौ, नागरमोथा, देवदारु, सोंठ और चव्य द्रव्यों को समभाग में मिलाकर क्वाथ का सेवन करना चाहिए- "**बृहत्यौ वत्सकं मुस्तं देवदारु महौषधम्। कोलवल्ली च योगोऽयं सन्निपातज्वरापहः"॥**[563]

---

559 ततः पक्वेषु दोषेषु लङ्घनाद्यैः प्रशस्यते। कषायो दोषशेषस्य पाचनः शमनोऽथवा॥ *अ०हृ०, चि०* 1/39

560 *अ०हृ०, चि०* 1/40

561 पञ्चमूलीकषायं तु पाचनं पवनज्वरे। सक्षौद्रं पैत्तिके मुस्तकटुकेन्द्रयवैः कृतम्। पिप्पल्यादिकषायं तु कफजे परिपाचनम्॥ *सु०सं०, उ०* 39/113-114

562 *च०सं, चि०* 3/208-209

563 *च०सं०, चि०* 3/210

आयुर्वेदज्ञों ने कुछ रोगियों के लिए क्वाथ देना वर्जित बताया है। जिस रोगी ने कुछ समय पहले जल का सेवन किया हो, जिसे उपवास कराया गया हो, जिसने कुछ देर पहले अन्न ग्रहण किया हो, जो अजीर्ण हो, क्षीण एवं प्यासयुक्त हो, उसे क्वाथ नहीं देना चाहिए। तरुणज्वर में क्वाथ का सेवन करने से दोष अविचल भाव से एक ही स्थान पर स्थिर हो जाते हैं और उनका चिरकाल तक भी पाचन नहीं हो पाता। जिसके परिणामस्वरूप वे विषमज्वर उत्पन्न करते हैं, क्योंकि क्वाथ अपने स्वभाव से ही स्तम्भन कारक होते हैं। वाग्भट[564] ने कषाय रस के निषेध का वर्णन करते हुए कहा है कि यद्यपि क्वाथ पित्त एवं कफदोष का नाशक है फिर भी नवज्वर में इसका प्रयोग नहीं किया जाता, क्योंकि यह मल को अवरुद्ध कर देता है। यदि नूतनज्वर में क्वाथ का सेवन रोगी को करने दिया जाए, तब वह सामान्य ज्वर को विषमज्वर में परिवर्तित कर देता है तथा साथ ही अरुचि, जी मिचलाना, हिचकी तथा आध्मान आदि उपद्रवों को भी उत्पन्न कर देता है। अतः इस व्याधि में जब उपवास, यवागू से रोगी को लाभ नहीं हुआ हो, तब रोगी को कषाय देना चाहिए। परन्तु नवज्वर में कषाय देने से मल अवरुद्ध हो जाता है। इसलिए जब ज्वररोग सात दिन तक शान्त नहीं हुआ हो, तब कषायसिद्ध का प्रयोग करना चाहिए।

5.1.8 ज्वरविकार में घृतपान :- ज्वरव्याधि में दस दिन के बाद उपवास आदि के कारण, जब कफदोष क्षीण हो गया हो और ज्वरसन्ताप तथा शरीर में रूक्षता, धातुशोष होने के कारण वात-पित्त दोष बढ़ गये हों एवं दोष परिपक्वावस्था में आ गए हों। उस अवस्था में ज्वरव्याधि से आक्रान्त व्यक्ति को घृतपान कराना चाहिए। इस अवस्था में ज्वरी को घृत का सेवन करवाना अमृत के सदृश बताया गया है। *चरकसंहिता* में ज्वरविकार की चिकित्सा करते हुए कहा गया है कि-

---

[564] पित्तश्लेष्महरत्वेऽपि कषायः स न शस्यते॥

नवज्वरे, मलस्तम्भात्कषायो विषमज्वरम्। कुरुतेऽरुचिहृल्लासहिध्माध्मानादिकानपि॥ *अ०हृ०, चि०* 1/40-41

पित्ते शक्रयवाघनम्। कटुका चेति सक्षौद्रं मुस्तापर्पटकं तथा। सधन्वयासभूनिम्बं । *अ०हृ० चि०* 1/52-54

"अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे। परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्मानं यथाऽमृतम्।

निर्दशाहमपि ज्ञात्वा कफोत्तरमलङ्घितम्॥ न सर्पिः पाययेद्वैद्यः कषायैस्तमुपाचरेत्"।[565]

सुश्रुतसंहिता[566] में ज्वरविकार का उपचार करते हुए घृतपान के सेवन का वर्णन मिलता है। वाग्भट[567] ने ज्वरविकारी के लिए घी का सेवन हितकारक बताया है एवं कहा है कि जब ज्वररोग नागरमोथा आदि क्वाथ, यूष आदि पथ्य सेवन द्वारा 10 दिन बीत जाने के बाद कफदोष मन्द हो चुका हो। ज्वरव्याधि में वात एवं पित्तदोष प्रधान हों तथा उनका भी परिपाक हो चुका हो, तो उस अवस्था में पीड़ित को घी का सेवन करना चाहिए। इस स्थिति में घी का सेवन अमृत के समान लाभप्रद होता है। इसके विपरीत स्थिति में हानिकारक होता है। ज्वरविकार के 10 दिन बीत जाने पर भी घी के सेवन करने से ज्वर के उपद्रवों में वृद्धि हो सकती है अतः पुनः कफ के क्षीण होने तक लंघन आदि क्रम करते रहना चाहिए। वाग्भट ने अन्यत्रस्थान पर घी का सेवन वात एवं पित्तज्वरव्याधि में करने का निर्देश दिया है-

"वातपित्तजितामग्र्यं संस्कारं चानुरुध्यते। सुतरां संस्कारं दद्याद्यथास्वौषधसाधितम्"॥[568]

अर्थात् वात एवं पित्तदोष पर विजय पाने वालों में औषधसिद्ध घृत अपने संस्कारों के अनुरूप कार्य करने के कारण सर्वश्रेष्ठ औषधी है। इसलिए व्याधि के अनुसार औषधी डालकर पकाया घी ही निश्चित रूप से प्रयोग करना चाहिए।

---

565 *च०सं० चि०* 3/164-166

566 शुद्धस्योभयतो यस्य ज्वरः शान्तिं न गच्छति। सशेषदोषरूक्षस्य तस्य तं सर्पिषा जयेत्॥ *सु०सं, उ०* 39/133

567 कषायपानपथ्यान्नैर्दशाह इति लङ्घिते॥

सर्पिर्दद्यात्कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे। पक्वेषु दोषेष्वमृतं तद्विषोपममन्यथा॥ *अ०हृ०, चि०* 1/81-82

568 *अ०हृ०, चि०* 1/86

पित्तदोष प्रधान तृतीयक-चतुर्थक ज्वर में विरेचन के द्वारा पित्तशामक पदार्थों से सिद्ध किए गए दूध और घी से तथा तिक्त एवं शीतल पदार्थों के प्रयोग से ज्वरविकार का उपचार होता है **"विरेचनेन पयसा सर्पिषा संस्कृतेन च। विषमं तिक्तशीतैश्च ज्वरं पित्तोत्तरं जयेत्"।।**[569] रूक्ष शरीर वाले जिस रोगी का ज्वर क्वाथों के प्रयोग से, वमन के प्रयोग से, उपवास कराने से अथवा लघु आहार कराने पर भी शान्त न हो रहा हो, ऐसे रोगियों की चिकित्सा में घी का प्रयोग उपयुक्त होता है। रूक्ष पित्तोष्मा ज्वर को उत्पन्न करता है। शरीर के रूक्ष हो जाने पर उस रोगी का जो धातु प्रकुपित होकर बलवान् हो जाता है, वह वायु ही है और वह वायु स्निग्ध पदार्थ द्वारा ही शान्त किया जा सकता है। अतः जब कफदोष क्षीण हो गया हो, उसके बाद दसवें दिन घी का सेवन रोगी को कराना चाहिए।

ज्वरव्याधि सामदोष से उत्पन्न होने के कारण तथा सम्यक् रूप से चिकित्सा न होने से, दस दिन व्यतीत हो जाने के बाद भी यदि ज्वरव्याधि में कफदोष की प्रधानता हो। उस अवस्था में पीड़ित को घी का सेवन नहीं कराना चाहिए। इस अवस्था में केवल क्वाथ का प्रयोग ही रोगी के लिए हितकर होता है।

5.1.9 ज्वरविकार में दुग्धपान :- आयुर्वेदीय साहित्य में ज्वरविकार में रोगी के लिए दुग्धपान का वर्णन भी समुपलब्ध होता है। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि जिस ज्वर में वात एवं पित्त की प्रधानता हो तथा साथ ही रोगी को जलन और प्यास अधिक लग रही हो, उस अवस्था में रोगी को दुग्ध का सेवन कराना चाहिए। जब ज्वर निराम हो गया हो या यदि मल अवरुद्ध हो गया हो, तब उस अवस्था में गाय के दूध का सेवन करना चाहिए। यदि उस समय गाय का दूध उपलब्ध न हो, तब उस अवस्था में बकरी का दूध पिलाकर ज्वर का उपचार किया जा सकता है-

---

[569] *च०स०, चि०* 3/294

"दाहतृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तरं ज्वरम्। बद्धप्रच्युतदोषं वा निरामं पयसा जयेत्"॥[570]

सुश्रुत[571] ने वात एवं पित्तज्वर से पीड़ित के लिए, दुख चित्त वाले, कृश, अल्पदोषयुक्त आदि के लिए दुग्ध का सेवन करने के लिए कहा है। वाग्भट[572] ने भी वात एवं पित्तज्वर से पीड़ित को दूध का सेवन करने के लिए कहा है। दूध उपवास से कमजोर तथा ज्वरव्याधि से सन्तप्त शरीर को उसी प्रकार जीवन प्रदान करता है जैसे जंगल की अग्नि की लपटों से झुलसे हुए वन को वर्षा का जल शान्त करता है। उसी प्रकार दूध ज्वर को भी शीघ्र शान्त कर देता है। वाग्भट ने ज्वरविकार के शम के लिए पाँच प्रकार से औषधियों से निर्मित दूध का वर्णन किया है-

"पयः सशुण्ठीखर्जूरमृद्वीकाशर्कराघृतम्। शृतशीतं मधुयुतं तृड्दाहज्वरनाशनम्"॥[573]

अर्थात् सोंठ, खजूर, मुनक्का, चीनी तथा घी डालकर पकाया दूध, ठण्डा करके तथा इसमें शहद मिलाकर पीने से प्यास, दाह एवं ज्वरविकार शान्त हो जाता है। उसी प्रकार मुनक्का, बलामूल, मुलेठी, पिप्पली तथा लालचन्दन के योग से पकाया गया दूध अथवा उसमें चौगुना जल मिलाकर पकाया गया अथवा केवल पिप्पली डालकर पकाया गया दूध रोगी द्वारा सेवन करने से ज्वरविकार का नाश होता है।[574]

---

[570] *च०सं०, चि०* 3/167 ;
चतुर्गुणेनाम्भसां सर्वेषां पयः प्रशमनं परम्। पेयं तदुष्णं शीतं वा यथास्वं भेषजैः शृतम्॥ *च०सं०, चि०* 3/239

[571] कृशोऽल्पदोषो दीनश्च नरो जीर्णज्वरार्दितः। विबद्धः सृष्टदोषश्च रूक्षः पित्तानिलज्वरी॥
पिपासार्तः सदाहो वा पयसा स सुखी भवेत्। *सु०सं०,उ०* 39/163-164

[572] *अ०हृ०, चि०* 1/106

[573] *अ०हृ०, चि०* 1/109

[574] तद्वद् द्राक्षाबलायष्टीसारिवाकणचन्दनैः। चतुर्गुणेनाम्भसा वा पिप्पल्या वा शृतं वा पिबेत्॥ *अ०हृ०, चि०* 1/110 ;
सनागरं समृद्वीकं सघृतक्षौद्रशर्करम्। शृतं पयः सखर्जूरं पिपासाज्वरनाशनम्॥ *च०सं०, चि०* 3/237

ज्वरविकार एवं सूजन में यदि पुनर्नवा, बेलगिरी तथा वर्षाऋतु में पैदा होने वाले पुनर्नवा के योग से पकाए हुए दूध को यदि रोगी पीएँ तो उसे शीघ्र ही ज्वरव्याधि में शान्ति मिलती है- "**वृश्चीवबिल्ववर्षाभूसाधितं ज्वरशोफनुत्**"।[575] इसके साथ ही पञ्चमूल[576] से युक्त दूध का सेवन करने से ज्वरविकार, कास, श्वास, सिरदर्द, जीर्णज्वर का प्रशमन हो जाता है। अतः ज्वरी द्वारा दूध का सेवन हितकारक होता है, जब पित्त-वातदोष से ज्वर हुआ हो। यदि गाय का दूध उपलब्ध न हो, उस परिस्थिति में बकरी के दूध का प्रयोग किया जा सकता है। यह दूध भी इस विकार में लाभप्रद है। प्रारम्भ में जो नूतन ज्वर होता है यदि उस ज्वरव्याधि में दुग्ध का सेवन कराया जाए तो वह रोगी के लिए विष समान हानिकारक होता है- "**तदेव तरुणे पीतं विषवद्धन्ति मानवम्**"॥[577]

5.1.10 ज्वरविकार में आहार :- सभी प्रकार के ज्वरव्याधि में लघु एवं उचित मात्रा में आहार का सेवन लाभप्रद होता है। रोगी द्वारा आहार का सेवन ज्वरवेग के शान्त होने पर करना चाहिए। अन्यथा ज्वरव्याधि का वेग बढ़ जाता है। *सुश्रुतसंहिता* में ज्वरविकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि-

"सर्वज्वरेषु सुलघु मात्रावद्भोजनं हितम्। वेगापायेऽन्यथा तद्धि ज्वरवेगाभिवर्धनम्"॥[578]

वाग्भट ने कहा है कि जो रोगी ज्वरविकार से शान्त हो गया हो और फिर भी चिकित्सक की देख-रेख में है, उसे अपराह्णकाल में सुपाच्य भोजन देना चाहिए। इस समय कफ के क्षीण हो जाने के कारण जठराग्नि की शक्ति बढ़ी रहती है।[579]

---

[575] *अ०हृ०, चि०* 1/115

[576] कासाछ्वासाच्छिरः शूलात्पार्श्वशूलाच्चिरज्वरात्। मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पञ्चमूलीशृतं पयः॥ *अ०हृ०, चि०* 1/111 ; *च०सं०, चि०* 3/233

[577] *सु०सं, उ०* 39/144

[578] *सु०सं०, उ०* 39/145

[579] सज्वरं ज्वरमुक्तं वा दिनान्ते भोजयेल्लघु। श्लेष्मक्षयविवृद्धोष्मा बलवाननलस्तदा॥ *अ०हृ०, चि०* 1/79

जिस रोगी के लिए जो भोजन का समय उचित हो, उस समय ज्वर वाले तथा ज्वरमुक्त मनुष्य को भोजन कराना चाहिए। रोगी को भोजन कराते समय देश तथा सात्म्य का विचार अवश्य करना चाहिए। यदि रोगी सुबह से उस समय तक कुछ खाने के लिए माँगता है, तो उसे अनार, मौसम्मी आदि का रस अथवा चावल का माँड आदि पदार्थ देने चाहिए। चरक ने भी ज्वरविकार में आहार का वर्णन करते हुए कहा है कि "**पटोलपत्रं सफलं कुलकं पापचेलिकम्। कर्कोटकं कठिल्लं च विद्याच्छाकं ज्वरे हितम्**"।[580] अर्थात् परवर की पत्ती और फल, करेला, पाठा, कर्कोटक और लाल पुनर्नवा का शाक ज्वरविकार में लाभप्रद होता है। चरक ने ज्वरव्याधि से पीड़ित को मांस का सेवन करने का निर्देश भी दिया है। जिस ज्वरविकार के रोगी को मांस का सेवन अनुकूल पड़ता हो, उसे भोजन में बटेर, तीतर, काली हिरण, चकोर, सामान्य हरिण, काली पूँछवाले हरिण, चीतल इन जातियों के हरिण, पशु पक्षियों के मांसरस को अनार का रस डालकर कुछ खट्टा कर अथवा बिना खट्टा किए ही खाने को देना चाहिए।[581]

वाग्भट[582] ने ज्वरविकार के रोगी को शाक एवं मांसरस का सेवन करने के लिए कहा है। जिसकी जठराग्नि तीव्र न हो उसे जिस समय पहले दिन भोजन दिया गया हो, उसी समय दूसरे दिन भी आहार देना चाहिए, इस प्रकार करने से उसे अजीर्ण नहीं होता। ये सभी विचार-विकल्प कुशल चिकित्सक पर निर्भर करते हैं। ज्वरविकार से पीड़ित व्यक्ति को मांसरस सेवन के पश्चात् प्यास लगने पर अनुपान के रूप में गर्म जल देना चाहिए। यदि पीड़ित मदिरा पीने का अभ्यासी हो, तो उसके दोष तथा शारीरिक बल का विचार करके उसे अनुपान के रूप में उचित मात्रा में मद्य पिलाना चाहिए। सम्भवतः वर्तमान समय में तीतर, काली हिरण का मांस आदि रोगी को देना सरल नहीं है क्योंकि इस समय अधिकतर पशु-पक्षी लुप्त होने की कगार पर है।

---

[580] *च०सं०, चि०* 3/189

[581] *च०सं०, चि०* 3/190-192

[582] *अ०हृ०, चि०* 1/75-77

यह भोजन रोगी के लिए प्राचीन समय में लाभप्रद होता था। अब इन पशु-पक्षियों के मांस का सेवन नहीं कर सकते।

आयुर्वेद में ज्वरव्याधि से ग्रस्त मनुष्य को गुरु आहार देना वर्जित बताया गया है। चरकसंहिता में कहा गया है कि जो ज्वरविकार[583] से ग्रस्त मनुष्य यदि मन्दाग्नि युक्त हो और उसके दोष प्रवृद्ध हों, ऐसी स्थिति में यदि वह अधिकांश गुरुगुणयुक्त भोजन ग्रहण करता है, तब उसकी अचानक मृत्यु हो सकती है अथवा चिरकाल तक वह रोग की पीड़ा को सहन कर सकता है। इसलिए चिकित्सक द्वारा मनुष्य को यदि वातज्वर भी हुआ हो, तब उस अवस्था में ज्वर के प्रारम्भ में बहुत गुरु अथवा बहुत स्निग्ध भोजन करने की सलाह नहीं देनी चाहिए। तरुणज्वर में दोषों के परिपाक के लिए गुरुद्रव्य, उष्णद्रव्य, स्निग्धद्रव्य, मधुरद्रव्य और कषायरस और क्वाथ वाले द्रव्यों का आहार प्रायः नहीं करना चाहिए। इस प्रकार ज्वरविकार का प्रशमन हो जाता है। ज्वरव्याधि के जिन रोगियों को यूष का सेवन हितकर और अनुकूल पड़ता हो, उन्हें मूँग, मसूर, चना, कुलथी और मोठ का जूस बनाकर पिलाना चाहिए। चरक ने कहा है कि-

"मुद्गान्मसूराँश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्ठकान्। यूषार्थे यूषसात्म्यानां ज्वरितानां प्रदापयेत्"॥[584]

अतः सभी ज्वर रोगियों को भोजन करना चाहिए एवं भोजन के बाद गर्म पानी पीना चाहिए। यदि वह मदिरा का सेवन करता है, तब उसे मदिरा देनी चाहिए।

5.1.11 ज्वरविकार में विरेचन :- यदि पूर्वोक्त लंघन, कषाय, यवागू, घृत आदि के प्रयोग से ज्वरविकार शान्त नहीं हुआ हो और रोगी का बल, मांसधातु एवं जठराग्नि क्षीण नहीं हुई हो, तब उस अवस्था में ज्वरव्याधि को विरेचन के प्रयोग द्वारा शान्त करना चाहिए। *चरकसंहिता* में प्रतिपादित है कि-

---

[583] *च०सं०, चि०* 3/277-279

[584] *च०सं०, चि०* 3/188

"क्रियाभिराभिः प्रशमं न प्रयाति यदा ज्वरः। अक्षीणबलमांसाग्ने शमयेत्तं विरेचनैः"॥[585]

जो मनुष्य ज्वरव्याधि होने के कारण दुर्बल हो गया हो, उनके लिए वमन या विरेचन हितकर नहीं होते। अतः इस अवस्था में उसे दूध पिलाकर अथवा निरूहबस्ति देकर उसके मलों को बाहर निकालना चाहिए। जब दोषों के परिपक्व हो जाने पर बस्ति का प्रयोग किया जाता है तब उसके शरीर में बल की वृद्धि होती है, जठराग्नि तीव्र होती है, ज्वर का वेग शान्त हो जाता है, मन प्रसन्न हो जाता है और भोजन करने में रुचि उत्पन्न होती है।

वाग्भट[586] ने ज्वरविकार में विरेचन देने का विधान बताया है। विरेचन के लिए त्रिफला, कालीनिशोथ, पिप्पली तथा नागकेसर इन द्रव्यों को पीसकर मिश्री तथा मधु डालकर गोली बना लेनी चाहिए। इन गोलियों को सेवन रोगी द्वारा करना चाहिए, जिसके प्रयोग करने से विरेचन हो जाता है या रोगी को मुनक्का तथा आँवला का रस घी-शहद के साथ सेवन करना चाहिए अथवा मुनक्का के साथ हरीतकी चूर्ण को घी-मधु के साथ सेवन करना चाहिए या रोगी को अमलतास के गूदे को दूध के साथ लेना चाहिए तथा अमलतास के गूदे को मुनक्कों से रस के साथ सेवन करना चाहिए। यदि ज्वररोगी त्रिफला के चूर्ण को दूध के साथ सेवन करता है तो उससे ज्वरविकार शान्त हो जाता है। *सुश्रुतसंहिता* में ज्वरविकार के उपचार में विरेचन करने का विधान बताया है- "**यदा कोष्ठानुगाः पक्वा विबद्धाः स्रोतसां मलाः। अचिरज्वरितस्यापि तदा दद्याद्विरेचनम्"**[587] अर्थात् यदि स्रोतों का मल पककर कोष्ठ में स्थिर हो गया हो, तो ज्वरविकार के पुराना न होने पर भी संशोधन द्रव्यों का प्रयोग कर देना चाहिए।

---

[585] *च०सं०, चि०* 3/168

[586] पक्वे तु शिथिले दोषे ज्वरे वा विषमद्यजे। मोदकं त्रिफलाश्यामात्रिवृत्पिप्पलिकेसरैः॥
ससितामधुभिर्दद्याद्घोषाद्यं वा विरेचनम्। द्राक्षाधात्रीरसं तद्वत्सद्राक्षां वा हरीतकीम्॥
आरग्वधं वा पयसा मृद्वीकानां रसेन वा। त्रिफलां त्रायमाणां वा पयसा ज्वरितः पिबेत्॥ *अ०हृ०, चि०* 1/99-101

[587] *सु०सं०, उ०* 39/124

वस्तुतः ज्वरविकार से पीड़ित के बलाबल को देखकर ही विरेचन कराना चाहिए, नहीं तो उसे दूध पिलाकर निरूहण बस्ति देनी चाहिए।

5.1.12 ज्वरविकार में अभ्यंग का प्रयोग :- ज्वर दो प्रकार के होते हैं- शीताभिप्रायी एवं उष्णाभिप्रायी। इनमें से ज्वर के एक प्रकार का विवेचन कर शीतल अथवा उष्ण अभ्यंग, प्रलेप और परिषेक का प्रयोग पीड़ित की इच्छानुसार करना चाहिए। *चरकसंहिता* में ज्वरविकार की चिकित्सा करते हुए कहा गया है कि "**अभ्यंगाश्च प्रदेहांश्च परिषेकाश्च कारयेत्। यथाभिलाषं शीतोष्णं विभज्य द्विविधं ज्वरम्**"॥[588] यदि शरीर में ज्वरव्याधि के होने पर जलन अधिक हो, तो उसके प्रशमन के लिए एक हजार बार जल से धोया हुआ घी अथवा चन्दनादि तेल से शरीर की मालिश करनी चाहिए।[589] ऐसा करने से ज्वरविकार स्वेदन द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है। ज्वरविकार से ग्रस्त रोगी के लिए चिकित्सक द्वारा चन्दनादि काढ़े के वजन से आधे वजन में तिल का तेल और दौगुना वजन में गाय का दूध तथा तेल का चतुर्थांश पूर्वोक्त औषधियों का कल्क डालकर तेल में पकाना चाहिए। यह तेल रोगी के शरीर पर अभ्यंग प्रयोग द्वारा दाहयुक्त ज्वर को शीघ्र ही शान्त कर देता है। इन चन्दनादि औषधियों को मोटा पीसकर प्रलेप करना चाहिए और इन्हीं औषधियों से सिद्ध किए हुए जल से अवगाहन और परिषेक पीड़ित को करना चाहिए। सुश्रुत ने कहा है कि दाह ज्वर में दाहविनाशन विधि का प्रयोग करना चाहिए। उपचारक द्वारा पीड़ित को पारस में मधु एवं फाणित मिलाकर तत्काल वमन करवाना चाहिए अथवा शतधौत घी का रोगी के शरीर पर लेप लगाना चाहिए या जौ के सत्तु को पानी में घोलकर लेप करना चाहिए। रोगी के शरीर पर पोई के पत्तों को अम्ल द्रव्यों में पीसकर शीतल लेप करना चाहिए या ढाक के पत्तों को अम्ल द्रव्यों में पीसकर रोगी के शरीर पर लेप करना चाहिए।

---

[588] *च०सं, चि०* 3/256

[589] *च०सं०, चि०* 3/257

इससे ज्वरविकार शीघ्र ही शान्त हो जाता है तथा साथ ही प्यास, मूर्च्छा, सन्ताप आदि पित्तविकार भी शान्त हो जाते हैं।[590] वाग्भट ने सहस्रधौत गाय के घी द्वारा ज्वरविकार से ग्रस्त रोगी को अभ्यंग करने का विधान बताया है "**दाहे सहस्रधौत सर्पिषाऽभ्यङ्गमाचरेत्**"।[591] इसके अतिरिक्त कैथ के कोमल पत्तों, बिजौरानीम्बू, अमलबेत, विदारीकन्द, लोध और अनार के दानों को पीसकर लेप करने से अथवा बेर के पत्तों की झाग अथवा नीम की पत्तों को पीसकर उसकी झाग का रोगी के शरीर पर लेप करने से जलन, पीडा, मूर्च्छा, वमन तथा तृष्णा व्याधि शान्त हो जाती है।[592] चरक ने दाहज्वर[593] में बाह्य उपचार का वर्णन ज्वरी के लिए किया है- शहद, काञ्जी, दूध, दही, घी और जल से परिषेचन तथा अवगाहन भी दाहज्वर को शान्त करता है, क्योंकि ये सभी पदार्थ शीतस्पर्श वाले होते हैं और शरीर से ज्वर को बाहर निकाल कर, शरीर को ठण्ड़ा करते हैं।

आयुर्वेद साहित्य में दाहज्वर होने पर शीतल स्थान पर विहार एवं शयन करने तथा अनेक शीतल मालों को धारण करने का विधान बताया गया है- दाहज्वर[594] से ग्रस्त मनुष्य को रक्तकमल, श्वेत एवं नीलकमल के पत्तों पर तथा केले के पत्तों पर या स्वच्छ रेशमी चादरवाले बिस्तर पर, चन्दन के जल से सींचकर शीतल किए गए बिछौने पर या शीतल फव्वारे लगे हुए घर में अथवा बर्फ जैसे ठण्डे जल का छिड़काव जिसमें किया गया हो, ऐसे घर में सुखपूर्वक सोना चाहिए। उसे सोना, शंख, मूँगा, मणियों और मोतियों की मालाओं को चन्दन के जल से सिक्त कर शीतल करके वक्षःस्थल पर धारण करना चाहिए। इस प्रकार शयन और माला को धारण करने से दाहज्वर शान्त हो जाता है।

---

590 *सु०सं०, उ०* 39/281-284

591 *अ०हृ०, चि०* 1/130

592 *अ०हृ०, चि०* 1/134-135

593 *च०सं०, चि०* 3/249

594 *च०सं०, चि०* 3/262-263

चरकसंहिता में अन्यत्रस्थान पर दाहज्वर में शीतल आहार-विहार का वर्णन प्राप्त होता है- शीतल अन्न और पेय, शीतल उपवन, ठण्डी वायु का सुखद प्रवाह और चन्द्रकिरणों की ज्योत्स्ना से सभी दाहज्वर शान्त हो जाते हैं-

"शीतानि चान्नपानानि शीतान्युपवनानि च। वायवश्चन्द्रपादाश्च शीता दाहज्वरापहाः"॥[595]

अतः ज्वरव्याधि से आक्रान्त शरीर पर चन्दन, घी, शहद, दही आदि का लेप करने से शान्ति मिलती है तथा रोगी यदि ठण्ड़े स्थानों पर रहे, उस परिस्थिति में भी आराम मिलता है।

5.1.13 ज्वरविकार में रक्तावसेक प्रयोग :- आयुर्वेद में ज्वरविकार की चिकित्सा में रक्तमोक्षण करने का विधान भी प्राप्त होता है। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि जिन ज्वरविकार से ग्रस्त व्यक्तियों का ज्वर शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रूक्ष आदि चिकित्साओं द्वारा शान्त नहीं होता, तब उस ज्वर को रक्तगत समझना चाहिए और वह रक्तमोक्षण करने से शान्त हो जाता है-

"शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्ज्वरो यस्य न शाम्यति। शाखानुसारी रक्तस्य सोऽवसेकात्प्रशाम्यति"॥[596]

अतः इस व्याधि में रक्तमोक्षण करने का निर्देश केवल चरक ने दिया है। सम्भवतः सुश्रुत व वाग्भट ने इसे स्वीकार नहीं किया।

5.1.14 पैत्तिक ज्वरविकार में उपचार :- आयुर्वेद में पित्तज्वर की पूर्वोक्त चिकित्सा शमन एवं विरेचन तथा अन्य हितकर उपाय करने का विधान बताया है। सुश्रुत ने कहा है कि सन्निपातिक ज्वर में सर्वप्रथम पित्तदोष का निर्हरण करना चाहिए, क्योंकि ज्वरविकार से ग्रस्त रोगी में पित्तविशेष रूप से दुर्निवार होता है- "**निर्हरेत्पित्तमेवादौ दोषेषु समवायिषु। दुर्निवारतरं तद्धि ज्वरार्तानां विशेषतः"॥**[597]

---

[595] *च०सं०, चि०* 3/266

[596] *च०सं०, चि०* 3/289

[597] *सु०सं०, उ०* 39/293

सुश्रुतसंहिता में अन्यत्रस्थान पर विवेचित है कि पैत्तिक ज्वरव्याधि में पित्त पक्व होने पर, ऊर्ध्व मार्गों से रक्त आने पर तथा यदि शरीर में कम्पन प्रारम्भ हो जाता है, तब त्रिफला, श्यामा, निशोथ और पिप्पली द्रव्य के चूर्ण को शहद और शर्करा में मिलाकर रोगी को देना चाहिए। इससे रोगी का पैत्तिक ज्वरविकार विरेचन द्वारा बाहर निकल जाता है।[598] सर्वप्रथम रोगी के बलाबल को देखकर ही विरेचन कराना चाहिए। पैत्तिक ज्वर में मधुर एवं तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घी का प्रयोग अभ्यंगादि द्वारा रोगी को करवाना चाहिए- "**पैत्तिके मधुरैस्तिक्तैः सिद्धं सर्पिश्च पूज्यते"।**[599] सुश्रुत ने पित्तज ज्वरविकार में निरुहण बस्ति[600] देने का निर्देश दिया है तथा कहा है कि उत्पलादि गण की औषधियों के क्वाथ में चन्दन और खस तथा शर्करा, शहद मिलाकर ठण्डा करके निरूहण बस्ति देने से ज्वरविकार शान्त हो जाता है। इसी प्रकार न्यग्रोधादि गण की आमवृक्ष से लेकर नन्दी वृक्ष तक की औषधियों की छाल, शंखभस्म, लालचन्दन, मुलेठी, नीलकमल, गैरिक, स्रोतोञ्जन, मंजीठ, कमलनाल इन सभी का चूर्ण बनाकर तथा दूध, शर्करा और शहद में मिलाकर एवं छानकर दाहपीड़ित व्यक्ति को शीतल निरूहण बस्ति देनी चाहिए। अतः इस व्याधि में सर्वप्रथम विरेचन कराना उचित है एवं रोगी के शरीर पर शहदादि का लेप लगाना चाहिए। यदि रोगी शारीरिक रूप से कमजोर हो, तब उसे निरूहण बस्ति देनी चाहिए।

5.1.15 पैत्तिक ज्वर का क्वाथ प्रयोग :- आयुर्वेद साहित्य में पैत्तिकज्वरव्याधि से पीड़ित के लिए क्वाथ प्रयोग का वर्णन भी समुपलब्ध होता है। *सुश्रुतसंहिता* में वर्णित है कि गम्भारीफल, चन्दन, खस, फालसा और महुवा फल इन सभी के क्वाथ में शर्करा मिलाकर पिलाने से पैत्तिक ज्वर का शमन हो जाता है-

"श्रीपर्णीचन्दनोशीरपरूषकमधूकजः। शर्करामधुरो हन्ति कषायः पैत्तिकं ज्वरम्"॥[601]

---

598 *सु०सं०, उ०* 39/304-305

599 *सु०सं०, उ०* 39/315

600 *सु०सं०, उ०* 39/307-309

601 *सु०सं०, उ०* 39/174

पैत्तिक ज्वरी को सारिवाद्य गण की औषधियों के क्वाथ में शर्करा मिलाकर पिलाने से ज्वर शान्त होता है अथवा उसे उत्पलादि गण की औषधियों में मुलेठी मिलाकर तथा क्वाथ बनाकर पिलाने से भी पैत्तिक ज्वर की समाप्ति हो जाती है। उसे मुनक्का और अमलतास या गम्भारी का फल क्वाथ या शीतकषाय पैत्तिक ज्वर को शान्त करता है। पित्तज ज्वरव्याधि से पीड़ित को गिलोय, कमल, लोध्र, सारिवा, नीलकमल इन सभी का क्वाथ या शीतकषाय को शर्करा से मधुर बनाकर तथा दोषादि बल का विचार कर शमन के लिए सेवन करना चाहिए। यदि पैत्तिक ज्वरव्याधि से पीड़ित मनुष्य को अधिक प्यास लगती है तो उसे शहद से युक्त ठण्डा जल गले तक पिलाकर वमन कराने पर प्यास शान्त हो जाती है। *सुश्रुतसंहिता* में कहा गया है कि-

"शीतं मधुयुतं तोयमाकण्ठाद्वा पिपासितम्। वामयेत्पाययित्वा तु तेन तृष्णा प्रशाम्यति"॥[602]

जब पित्तजज्वरव्याधि में मनुष्य की जीभ, तालु, गल और क्लोम सूखने लगे, तब पद्मादि शीत क्वाथों का आभ्यन्तर प्रयोग करना चाहिए। यदि ज्वरी के मस्तक में भी वेदना हो, तो उसके मस्तक पर शीतल द्रव्यों का लेप करना चाहिए। यदि ज्वरी के मुख में विरसता हो, तब बिजौरानिम्बू का केसर के साथ और शहद एवं सेंधानमक या शर्करा, अनार, मुनक्का और खजूर के क्वाथ को रोगी द्वारा मुख में धारण करने से विरसता नष्ट होती है। अतः पैत्तिक ज्वरव्याधि में क्वाथ का प्रयोग हितकारक होता है।

---

[602] *सु०सं०, उ०* 39/179

5.1.16 ज्वरविकार में त्याज्य आहार-विहार :- आयुर्वेद में ज्वरविकार से शान्त हुए मनुष्य के लिए व्यायाम, स्नान, मैथुन आदि का परित्याग करने का विधान है। वाग्भट ने इस विकार का उपचार करते हुए कहा है कि- **"त्यजेदाबललाभाच्च व्यायामस्नानमैथुनम्। गुर्वसात्म्यविदाह्यन्नं यच्चान्यज्ज्वरकारणम्"॥**[603] अर्थात् ज्वर के समय तथा ज्वरविकार से मुक्त हो जाने पर, जब तक मनुष्य को पहले की भाँति बल प्राप्त न हो जाए, तब तक व्यायाम, स्नान, स्त्रीसहवास, पाचन में भारी तथा अधिक मात्रा में भोजन, प्रकृति के विपरीत तथा विदाहकारक आहार एवं ज्वर को उत्पन्न करने वाले आहार-विहार का त्याग कर देना चाहिए। सुश्रुत[604] ने उपरोक्त त्याज्य आहार-विहार का वर्णन किया है तथा इसके साथ दिन में सोना, शीतल जल के सेवन का भी परित्याग करने का निर्देश दिया है। इसी प्रकार ज्वरमुक्त और दुर्बल मनुष्य यदि शीघ्र ही अपथ्य का सेवन करता है, तब ज्वरविकार पुनः हो जाता है और शरीर को अग्नि द्वारा शुष्क वृक्ष की तरह जला देता है। अतः दोष एवं प्राण दोनों की दृष्टि से ज्वरमुक्त मनुष्य जब तक पूर्णतः स्वस्थ नहीं हो जाता, तब तक उसे विरिक्त मनुष्य की तरह अहितकर आहार-विहार का त्याग करना चाहिए। सुश्रुत ने अन्यत्रस्थान पर ज्वरमुक्ति के तुरन्त बाद स्नान करने को भी वर्जित कहा है-

"न जातु स्नापयेत् प्राज्ञः सहसा ज्वरकर्शितम्। तेन सन्दूषितो ह्यस्य पुनरेव भवेज्ज्वरः"॥[605]

अर्थात् उपचारक द्वारा ज्वरव्याधि के कारण दुर्बल हुए मनुष्य को ज्वरमुक्ति के तुरन्त बाद स्नान नहीं करने की सलाह देनी चाहिए, क्योंकि स्नान से सन्दूषित ज्वरविकार पुनः हो जाता है। चरक ने भी उपरोक्त त्याज्य[606] आहार-विहार का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

---

[603] *अ०हृ०, चि०* 1/174

[604] *सु०सं०, उ०* 39/159-162

[605] *सु०सं०, उ०* 39/164

[606] सज्वरी ज्वरमुक्तश्च विदाहीनि गुरूणि च। असात्म्यान्यन्नपानानि विरुद्धानि च वर्जयेत्॥
व्यवायमतिचेष्टाश्च स्नानमत्यशनानि च। तथा ज्वरः शमं याति प्रशान्तो जायते न च॥
व्यायामं च व्यवायं च स्नानं चङ्क्रमणानि च। ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान् भवेत्॥ *च०सं०,चि०* 3/330-332

जब मनुष्य की इन्द्रियों में सामर्थ्य और सन्ताप मुक्त हो गई हो। उसे किसी प्रकार की वेदना न हो, मन एवं इन्द्रियों में कोई विकार नहीं हो और वह स्वभाविक रूप से स्वस्थचित्त हो, तो उसे ज्वरविकार से मुक्त जानना चाहिए। अतः इस विकार से स्वस्थ हुए मनुष्य को दिन में सोना, स्त्री सहवास, ठण्डे जल में स्नान आदि नहीं करना चाहिए।

5.2.1 रक्तपित्त विकार का उपचार :- आयुर्वेदीय संहिताओं में रक्तपित्त विकार की चिकित्सा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस विकार की शान्ति हेतु सावधानीपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। पीड़ित मनुष्य के देश, काल, प्रकृति, दोष आदि का विचार कर सन्तर्पण करना चाहिए। रोगी द्वारा रक्तपित्त के निदान का सावधानी से परिवर्जन करना चाहिए। उसे जो भी आहार-विहार दें, वह रक्तपित्त नाशक होने चाहिए। बालक, वृद्ध, शोथविकार से पीड़ित व्यक्ति तथा वमन-विरेचन के अयोग्य रक्तपित्त के रोगी के प्रवृत्त रक्तस्राव को स्तम्भन औषधियों का प्रयोग कर शीघ्र रोकना चाहिए। सामान्यतः अपक्व अन्नरस के कारण रक्त तथा पित्त उत्क्लिष्ट होते हैं अतः आमपाचनार्थ सर्वप्रथम लंघन रोगी को करवाना चाहिए।

5.2.2 रक्तपित्तविकार में लंघन :- आयुर्वेदज्ञों ने ज्वरविकार के समान इस विकार में भी सर्वप्रथम लंघन कराने का निर्देश दिया है। प्रायः मनुष्यों के शरीर में आमदोष से प्रदूषित रक्तपित्त उभर जाता है, इसलिए आमपाचनार्थ पहले पीड़ित को उपवास करवाना चाहिए। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि- "**मार्गौ दोषानुबन्धं च निदानं प्रसमीक्ष्य च। लङ्घनं रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत्**"[607] अर्थात् रक्तपित्त के रोगी के रक्त निकलने के मार्ग, दोषों के सम्बन्ध और विकारी के हेतुओं को सम्यक् रूप से देखना-सुनना चाहिए। तदुपरान्त उपवास या तर्पण आवश्यकता अनुसार करना चाहिए।

---

[607] *च०सं०, चि०* 4/30

सुश्रुत[608] ने इस विकार के होने पर सर्वप्रथम लंघन करने के लिए कहा है, यदि रक्तपित्त पीड़ित मनुष्य के दोष बढ़े हुए हैं और बल, मांस तथा अग्नि क्षीण नहीं हुई हैं, तब उसका सर्वप्रथम लंघन कराना चाहिए। वाग्भट ने ऊर्ध्वग रक्तपित्त की चिकित्सा में सर्वप्रथम लंघन कराने के लिए कहा है "**ऊर्ध्वगे तर्पणे योज्यं प्राक् च पेया त्वधोगते**"[609] अर्थात् रक्तपित्त के उपचार में पहले तर्पण का सेवन कराना चाहिए और अधोमार्गी रक्तपित्त में पेया का सेवन करना चाहिए। वस्तुतः वाग्भट ने स्पष्ट किया है कि यदि रक्तपित्त अधोमार्ग से आ रहा हो, तब रोगी को सर्वप्रथम पेयादि पदार्थ तथा ऊर्ध्वमार्ग से रक्तपित्त निकल रहा हो। तब उस अवस्था में उसे लंघन कराना चाहिए। परन्तु चरक एवं *सुश्रुतसंहिता* में इतना स्पष्ट नहीं किया गया है। अतः इस व्याधि में भी रोगी को सर्वप्रथम लंघन कराना चाहिए।

5.2.3 रक्तपित्तविकार में तर्पण :- *अष्टाङ्गहृदय* में रक्तपित्तविकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यदि ऊपरी मार्गों से रक्तपित्त बाहर आ रहा हो, तब दोष के शमनार्थ तिक्त एवं कषाय औषधियों का प्रयोग करना चाहिए तथा उपवास तथा सोंठ रहित षडंगपानीय का प्रयोग रक्तपित्तविकार के प्रशमन में करना चाहिए-

"ऊर्ध्वं प्रवृत्ते शमनौ रसौ तिक्तकषायकौ। उपवासश्च निःशुण्ठीषडङ्गोदकपायिनः"॥[610]

चरक ने रक्तपित्तविकार की चिकित्सा करते हुए कहा है कि हेमन्त ऋतु आदि काल, पीड़ित की पथ्य की अनुकूलता, वात या कफ का सम्बन्ध, रोगी, रोग और अन्न या औषध द्रव्य की गुरु-लघु प्रकृति और आहार की कल्पना के अनुसार लाभ या हानि को जानकर चाहिए। ऊर्ध्वग रक्तपित्त में पहले यथायोग्य तर्पण का प्रयोग करना चाहिए तथा अधोग रक्तपित्त में पेयादि का सेवन रोगी को करवाना चाहिए-

---

608 अतिप्रवृद्धदोषस्य पूर्वं लोहितपित्तिनः। अक्षीणबलमांसाग्नेः कर्त्तव्यमपर्तणम्॥ *सु० सं, उ०* 45/13

609 *अ०हृ०, चि०* 2/8

610 *अ०हृ०, चि०* 2/6

"ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं पेयां पूर्वमधोगते। कालसात्म्यानुबन्धज्ञो दद्यात् प्रकृतिकल्पवित्"॥[611]

चरकसंहिता[612] में रक्तपित्तविकारी के लिए खर्जूरादि तर्पण, लाजा तर्पण एवं अम्ल तर्पण का वर्णन किया गया है पीड़ित को पिण्डखजूर, मुनक्का, महुर का फूल और फालसा का क्वाथ ठण्डा करके मीठा होने तक चीनी मिलाकर सेवन करना चाहिए। या उसे धान के लावा को पीसकर उसमें पर्याप्त मात्रा में घी तथा शहद मिलाकर जल में घोलकर पिलाना चाहिए। इस तर्पण का उचित समय पर सेवन करने से ऊर्ध्वग रक्तपित्तविकार का शमन हो जाता है। या जिस विकारी की अग्नि मन्द हो गई हो और उसके लिए अम्ल अनुकूल हो, तो उसे उपरोक्त तर्पणयोगों में अनारदाना या आँवले का चूर्ण मिलाकर उसे खट्टा करके पीड़ित को सेवन के लिए देना चाहिए।

सुश्रुत[613] ने रक्तपित्तविकार में लंघन के पश्चात् अधोमार्गी के लिए पेय तथा ऊर्ध्वमार्गी के लिए तर्पण कराना स्वीकार किया है- इस विकार से पीड़ित मनुष्य को सर्वप्रथम उपवास कराने के पश्चात् थोड़े चावल वाली पेया देनी चाहिए। उसे मांसरस और मुद्गादि का यूष सुगन्धित द्रव्य और घी से संस्कृत देना चाहिए। उसे तर्पण में मुनक्का, मुलेठी आदि से सिद्ध जल में शर्करा मिलाकर घी एवं शहदयुक्त धान की खील और सत्तु से बना हुए सेवन के लिए देना चाहिए। अतः रोगी को लंघन कराने के पश्चात् तर्पण कराना चाहिए। उसे तर्पण में शहद, अनारदाना, घी आदि औषधयुक्त देना चाहिए।

---

611 *च०सं०, चि०* 4/32

612 जलं खर्जूरमृद्वीकामधूकैः सपरूषकैः। शृतशीतं प्रयोक्तव्यं तर्पणार्थे सशर्करम्॥
तर्पणं सघृतक्षौद्रं लाजचूर्णैः प्रदापयेत्। ऊर्ध्वगं रक्तपित्तं तत् पीतं काले व्यपोहति॥
मद्वाग्नेरम्लसात्म्याय तत् साम्लमपि कल्पयेत्। दाडिमामलैर्विद्वानम्लार्थं चानुदापयेत्॥ *च०सं०, चि०* 4/33-37

613 लङ्घितस्य ततः पेयां विदध्यात् स्वल्पतन्डुलाम्।
रसयूषौ प्रदातव्यौ सुरभिस्नेहसंस्कृतौ। तर्पणं ॥ *सु०सं०, उ०* 45/13-14

5.2.4 रक्तपित्तविकार में आहार :- आयुर्वेदीय साहित्य में रक्तपित्त व्याधि से ग्रस्त मनुष्य के लिए अलग-अलग भोजन देने के लिए कहा गया है। पीड़ित को भोजन के रूप में जंगली पशु एवं पक्षियों का मांस भी देना चाहिए। *चरकसंहिता* में इस विकार का शमन करते हुए कहा गया है कि रक्तपित्तव्याधि से पीड़ित मनुष्यों के लिए शालि चावल, साठी चावल, नीवार, कोदो का चावल, टाँगुन का चावल, सावां चावल और प्रियंगु से निर्मित आहार देना चाहिए-

"शालिषष्टिनीवारकोरदूषप्रशान्तिकाः। श्यामाकश्च प्रियङ्गुश्च भोजनं रक्तपित्तिनाम्"॥[614]

चरक ने कहा है कि रक्तपित्त के रोगियों के लिए मूँग, मसूर, चना, मोठ, अरहर से निर्मित दाल के रूप में या यूष के रूप में देना चाहिए। यह सभी दालें पीड़ित के लिए लाभप्रद होती हैं। उसे परवर, निम्बपत्र, वेंत की कोंपल, पकड़ी का पत्रांकुर, बेंत के कोमल पत्ते, चिरायत्ता की पत्ती, गण्डीर की पत्ती, पुनर्नवा की पत्ती, कचनार के फूल, गम्भार की पत्ती, सेमर की पत्ती आदि शाकों का सेवन करना चाहिए। ये सभी शाक रक्तपित्तविकार को शान्त करते हैं। रक्तपित्त के जिन रोगियों को शाक अनुकूल पड़ता है और जिन्हें शाक खाने का आदत हो, उन्हें इन शाकों को उबाल कर फिर घी में भूनकर खिलाना चाहिए।[615] सुश्रुत ने त्रिविध दोषों के लिए अलग-अलग आहार देने के लिए कहा है- पैत्तिक रक्तपित्त में दूध में उत्पलादि द्रव्यों के शीतकषाय, वातिक रक्तपित्त में एणादि एवं लावादि जंगली पशुओं के मांसरस तथा रक्तपित्तव्याधि में यदि कफानुबन्ध भी हो, तब शालि, षष्टिक चावलों के साथ मटर का यूष देना चाहिए-

"पयांसि शीतानि रसाश्च जाङ्गलाः सतीनयूषाश्च सशालिषष्टिकाः"॥[616]

---

[614] *च०सं०, चि०* 4/36

[615] *च०सं०, चि०* 4/37-40

[616] *सु०सं०, उ०* 45/16

उसके लिए परवल, चाङ्गेरी, जूही, वट, अतिमुक्त के कोमल पत्ते और सम्भालू के पत्तों को घी में संस्कृत एवं आँवला, अनारदाना से युक्त शाक रक्तपित्त में सदा लाभप्रद होता है। इसी प्रकार कबूतर, शंखकीट एवं कछुए का मांसरस तथा अधिक घी में सिद्ध किया गया यवागू रक्तपित्तव्याधि में हितकर होता है। वाग्भट ने भी रक्तपित्तव्याधि में शूकधान्य, शिम्बीधान्य तथा शाक का सेवन पीड़ित के लिए लाभप्रद कहे हैं। ये पदार्थ शीघ्रपाचक एवं शीतवीर्य होते हैं अतः इनका सेवन रोगी के लिए हितकर होता है- "**शूकशिम्बीभवं धान्यं रक्ते शाकं च शस्यते। अन्नस्वरूपविज्ञाने यदुक्तं लघु शीतलम्"॥**[617] यदि रक्तपित्तव्याधि में पीड़ित का मल सूख गया हो, तब उसे बथुए के शाक के साथ खरगोश का मांस तैयार करके खिलाना चाहिए या उसे मांसरस का सेवन करवाना चाहिए। वाग्भट ने अन्यत्रस्थान पर कहा है कि मनुष्य में वातदोष की अधिकता होने पर गूलर की छाल के क्वाथरस में पकाया गया तीतर पक्षी का मांस, प्लक्ष की छाल के क्वाथरस में पकाया गया मोर का मांस अथवा बरगद की छाल के क्वाथरस में पकाया गया मुर्गे का मांस खिलाना चाहिए।[618] यदि रक्तपित्तव्याधि में जीवनप्रदायक रक्त अधिक मात्रा में निकल रहा हो, तब उस पीड़ित को तत्काल जंगली प्राणियों का रक्त शहद मिलाकर पिलाना चाहिए अथवा बकरे का पित्तसहित कच्चा ही लीवर खिलाना चाहिए-

"अतिनिःस्रुतरक्तश्च क्षौद्रेण रुधिरं पिबेत्। जाङ्गलं भक्षयेद्वाऽऽजमामं पित्तयुतं यकृत्"॥[619]

---

[617] *अ०हृ०, चि०* 2/21

[618] तित्तिरिः पुनः उदुम्बरस्य निर्यूहे साधितो मारुतेऽधिके॥ प्लक्षस्य बर्हिणस्तद्वन्न्यग्रोधस्य च कुक्कुटः। *अ०हृ०, चि०* 2/23-24

[619] *अ०हृ०,चि०* 2/30

सुश्रुत[620] ने उपरोक्त पेय का प्रयोग रक्तपित्तविकार में रक्त की कमी होने पर करने के लिए कहा है- यदि किन्हीं कारणों से शरीर से रुधिर अधिक निकल गया हो, तब एणादि के रक्त में शहद मिलाकर पिलाना चाहिए या बकरे का अपक्व, पित्तयुक्त यकृत् खिलाना चाहिए। ज्वरव्याधि की तरह इस विकार में भी आयुर्वेदज्ञों ने जंगली पशु-पक्षियों के मांस का सेवन करने के लिए कहा है। आधुनिक समय में इन जंगली पशु-पक्षियों में से कुछ को मारने निषेध है अतः उपचारक द्वारा इन जानवरों के अतिरिक्त औषधियों का सेवन रोगी को करने के लिए देनी चाहिए। यदि रक्तपित्तव्याधि से पीड़ित को प्यास लगती है, तब उसके लिए भी आयुर्वेद में औषधियुक्त जल[621] का सेवन करने के लिए कहा गया है- उसे प्यास लगने पर तिक्तरस वाले द्रव्यों से सिद्ध जल अथवा तृष्णा दूर करने वाले खजूर, मुनक्का, फालसा आदि फलों का रस या उनसे सिद्ध जल या सरिवन, पिठवन, रेंगनी, वनभण्टा, गोखरू एवं विदारीगन्धा से सिद्ध जल या केवल उबाला हुआ जल ही शीतल करके पीने के लिए देना चाहिए। सुश्रुत ने कहा है कि रक्तपित्तव्याधि[622] की शान्ति के लिए रोगी को उपचारक द्वारा महुवा, सहिजन, कचनार या प्रियंगु के फूलों का अलग-अलग चूर्ण बनाकर शहद के साथ लेह की तरह चाटने के लिए देना चाहिए। इसी प्रकार रक्तपित्त में हरी दूर्वा घास और बड़ के कोमल पत्तों को पीसकर एवं शहद मिलाकर प्रयोग करना चाहिए। सफेद कनेर के कोमल पत्तों को पीसकर शहद मिलाकर रोगी को सेवन के लिए देना चाहिए। खजूर के फल में मधु मिलाकर इसी तरह के अन्य फलों को मधु के साथ देना रक्तपित्तविकार में हितकारक होता है। अतः इस व्याधि में शाकाहार एवं मांसाहार दोनों तरह का भोजन करने का निर्देश मिलता है तथा रोगी को औषधियुक्त जल पीने के लिए भी कहा है। जिनका सेवन करने से रोगी को शक्ति मिलती है एवं विकार में शान्ति मिलती है।

---

[620] अतिनिस्रुतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसृक्। यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम्॥ *सु०सं०, उ०* 45/28

[621] तृष्यते तिक्तकैः सिद्धं तृष्णाघ्नं वा फलोदकम्। सिद्धं विदारिगन्धाद्यैरथवा शृतशीतलम्॥
ज्ञात्वा दोषावनुबलौ बलमाहारमेव च। जलं पिपासवे दद्याद् विसर्गादल्पशोऽपि वा॥ *च०सं०, चि०* 4/51-52

[622] *सु०सं०, उ०* 45/19-20

5.2.5 रक्तपित्तविकार में यवागू प्रयोग :- आयुर्वेदीय साहित्य में रक्तपित्तविकारी यदि लंघन, तर्पण से स्वस्थ नहीं होता है, तब उसे यवागू देने का वर्णन भी प्राप्त होता है। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि श्वेत तथा नील कमल की केसर, पिठवन, फूलप्रियंगु इन सभी द्रव्यों को मिलाकर 1 कर्ष लेकर 1 प्रस्थ जल में पकाना चाहिए। जब आधा जल बच जाए, तब उसे छानकर उस जल में पेया पकाकर रक्तपित्त रोगी को पिलाने से रक्तपित्तव्याधि का शमन होता है-

"रक्तपित्ते यूषशाकं दद्याद् वातानुगे रसम्। पद्योत्पलानां किञ्जल्कः पृश्निपर्णी प्रियङ्गुकाः।

जले साध्या रसे तस्मिन् पेया स्याद्रक्तपित्तिनाम्"॥[623]

चरकसंहिता में अन्यत्रस्थान पर इस व्याधि से पीड़ित मनुष्य को यवागू[624] देने के लिए कहा गया है कि पीड़ित को लालचन्दन, खश, लोध, सोंठ डालकर पकाए जल में पेया बनाकर एवं शीतल करके तथा उसमें उपयुक्त मात्रा में शहद और चीनी मिलाकर रोगी को देनी चाहिए। इसके सेवन से रक्तपित्तविकार का शमन शीघ्र हो जाता है। या चिरायता, खश और नागरमोथा डालकर पकाए जल में पेया बनानी चाहिए। या धावा का फूल, जवासा, सुगन्धबाला और बेर इनसे सिद्ध जल में पेया बनानी चाहिए। या रोगी के लिए मसूर की दाल और पिठवन से सिद्ध जल में पेया बनानी चाहिए। या शालपर्णी और मूँग की दाल से सिद्ध जल में पेया बनानी चाहिए और सभी को शीतल करके उपयुक्त मात्रा में शहद और चीनी मिलाकर प्रयोग करने से रक्तपित्त शान्त होता है।

---

623 *च०सं०, चि०* 4/43-44

624 चन्दनोशीरलोध्राणां रसे तद्वत् सनागरे। किराततिक्तकोशीरमुस्तानां तद्वदेव च॥
धातकीधन्वयासाम्बुबिल्वानां वा रसे शृता। मसूरपृश्निपर्ण्योर्वा स्थिरामुद्गरसेऽथ वा॥ *च०सं०, चि०* 4/45-46

उपरोक्त पेयों को मांसरस के साथ रोगी को देने का विधान आयुर्वेद में बताया गया है- यदि रक्तपित्तव्याधि से पीड़ित मनुष्य को विबन्ध हो गया हो, तब उसे बथुए से सिद्ध जल में मांसरस के साथ पेया बनाकर देनी चाहिए। यदि रक्तपित्त में वातदोष की प्रधानता हो, तब गूलर के रस में तीतर का मांस पकाकर देना चाहिए या पकड़ी वृक्ष की छाल के रस में पकाया हुआ मोर का मांसरस या बरगद की जटा के रस में सिद्ध किया हुआ मुर्गे का मांसरस अथवा बेलगिरि तथा नीलकमल आदि के रस में सिद्ध किया गया बत्तख और क्रकर पक्षी का मांसरस का सेवन पीड़ित के लिए लाभदायक होता है।[625] वाग्भट[626] ने *अष्टाङ्गहृदय* में रक्तपित्तव्याधि में पीड़ित को उपरोक्त यवागू का सेवन करने के लिए कहा है। अतः रोगी को यवागू देने से शीघ्र लाभ मिलता है तथा पक्षियों का मांस भी इस विकार में लाभदायक होता है। परन्तु मोर, तीतर आदि पक्षियों को मारना वर्तमान समय में दण्डनीय अपराध है।

5.2.6 रक्तपित्तविकार में वमन-विरेचन :- जो रोगी उचित मात्रा में भोजन कर रहा हो तथा शारीरिक बल से युक्त हो, ऐसे पुरुष के शरीर से दूषित रक्त निकल रहा हो, तब उसे रोकना नहीं चाहिए, क्योंकि वह रोगकारक होता है। इसके विपरीत दशा में निकलने वाले रक्त को शीघ्रतापूर्वक औषध-प्रयोग द्वारा रोकना चाहिए। क्योंकि वह निकलता हुआ रक्त अग्नि के समान शीघ्रमारक होता है। *चरकसंहिता* में रक्तपित्तविकार की चिकित्सा करते हुए कहा गया है कि-

"वक्ष्यते बहुदोषाणां कार्यं बलवतां च यत्।

अक्षीणबलमांसस्य यस्य सन्तर्पणोत्थितम्। बहुदोषं बलवतो रक्तपित्तं शरीरिणः॥

काले संशोधनार्हस्य तद्धरेन्निरुपद्रवम्। विरेचनेनोर्ध्वभागमधोगं वमनेन वा"॥[627]

---

[625] शशः सवास्तुकः शस्तो विबन्धो रक्तपित्तिनाम्। वातोल्बणे स्याददुम्बररसे शृतः॥
मयूरः प्लक्षनिर्यूहे न्यग्रोधस्य च कुक्कुटः। रसे बिल्वोत्पलादीनां वर्तकक्रकरौ हितौ॥ *च०सं०, चि०* 4/49-50

[626] *अ०हृ०, चि०* 2/16-20

[627] *च०सं०, चि०* 4/54-56

अर्थात् जो रोगी बलयुक्त हो और उसका बल एवं मांस भी क्षीण नहीं हुआ हो, उसका रोग सन्तर्पण के कारण पैदा हुआ हो तथा जिसमें बहुदोष के लक्षण विद्यमान हो, जिसमें कोई उपद्रव भी न हो और रोगी संशोधन के योग्य हो, तब उचित समय में ऐसे मनुष्यों के ऊर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन तथा अधोग रक्तपित्तव्याधि में वमन करवाना चाहिए। यदि ऊर्ध्वग[628] स्थान से रक्तपित्त निकल रहा तो रोगी को निशोथ, हर्रे, अमलतास के फल की गुद्दी, त्रायमाणा या इन्द्रायण के मूल अथवा आँवले के रस को पर्याप्त शहद और चीनी मिलाकर विरेचनार्थ सेवन के लिए देना चाहिए। इस व्याधि में इन द्रव्यों का स्वरस ही विशेष हितकारक होता है और यदि अधोग[629] स्थान से रक्तपित्त निकल रहा हो, तो पीड़ित के लिए मैनफलचूर्ण को उचित मात्रा में सत्तू में घोलना चाहिए। उसमें शहद और चीनी मिलाना चाहिए या शर्बत मिलाकर या गन्ने के रस मिलाकर सेवन के लिए रोगी को देना चाहिए।

रोगी को इन्द्रजौ, नागरमोथा, मदनफल, मुलहठी एवं शहद मिलाकर वमनार्थ प्रयोग करना लाभप्रद होता है। सुश्रुत[630] एवं वाग्भट ने इस व्याधि में वमन-विरेचन कराने के लिए उपरोक्त औषधियों का प्रयोग करने का विधान बताया है। जब ऊर्ध्वग एवं अधोग रक्तपित्त में वमन एवं विरेचन करवा दिया जाता है। तदुपरान्त रोगी को तर्पण एवं यवागू आदि क्रम से पथ्य देना चाहिए। यदि वमन करने के पश्चात् रोगी में वात की प्रधानता हो, तब उसे मांसरस भी देना चाहिए। अतः रोगी के शरीर से जब रक्तपित्त निकल रहा है, तब उसे वमन-विरेचन द्वारा शान्त किया जा सकता है।

---

628 *च०सं०, चि०* 4/57-58

629 *च०सं०, चि०* 4/59-60

630 *सु०सं०, उ०* 45/15-18 ; *अ०हृ०, चि०* 2/9-12

5.2.7 रक्तपित्तविकार में औषध :- आयुर्वेदीय संहिताओं में इस विकार में अनेक औषधियों द्वारा भी उपचार किया जाता है। यदि रोगी रक्तपित्तव्याधि से प्रबलरूप से आक्रान्त हो, तो उसे मूँग की दाल, धान का लावा, जौ, पीपर, खश और नागरमोथा एवं लालचन्द इन सभी द्रव्यों का क्वाथ बनाकर पूरी रात सुरक्षित रखकर प्रातःकाल सूर्योदय से पहले रोगी को पिलाने से रक्तपित्त का प्रशमन हो जाता है। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि-

"मुद्गाः सलाजाः सयवाः सकृष्णाः सोशीरमुस्ताः सह चन्दनेन।

बलाजले पर्युषिताः कषाया रक्तं सपित्तं शमयन्त्युदीर्णम्"॥[631]

चरक ने इस विकार से पीड़ित को लहसुनिया, मणिपिष्टी, मुक्तापिष्टी, शुद्ध गेरू, काली मिट्टी, शंखभस्म, नागकेशर, आँवला एवं सुगन्धबाला, इन द्रव्यों का चूर्ण बनाकर शहद के शर्बत या गन्ने के रस के साथ सेवन करने से रक्तपित्तविकार शान्त हो जाता है, इस प्रकार कहा है।[632] इनके अतिरिक्त प्रियंगु, सफेद चन्दन, पठानी लोध, अनन्तमूल, महुआ का फूल, नागरमोथा, हर्रे और धाय के फूल को जल में पकी मिट्टी बुझाकर, उस जल को साठी चावल के धोवन के जल के साथ चीनी मिलाकर पीने से रक्तपित्तव्याधि का शमन होता है। यह एक उत्तम प्रकार की औषधी है जो रक्तपित्तरोग मे बहुत लाभदायक होती है। सुश्रुत ने इस विकार में रोगी को औषधियाँ देने के लिए कहा है। सर्वप्रथम छिलका रहित गन्ने के टुकड़ों को कूटकर तथा ठण्डा पानी मिलाकर नए घड़े में भर लेना चाहिए और खुले आकाश के नीचे पूरी रात रखना चाहिए तथा प्रातःकाल वस्त्र से छानकर और नीलोत्पल चूर्ण एवं शहद मिलाकर रोगी को पीने के लिए देना चाहिए। इससे रक्तपित्तविकार में शान्ति मिलती है-

"शुद्धेक्षुकाण्डमापोथ्य नवे कुम्भे हिमाम्भसा।

---

631 *च०सं०, चि०* 4/78

632 *च०सं०, चि०* 4/ 79

योजयित्वा क्षिपेद्रात्रावाकाशे सोत्पलं तु तत्। प्रातः स्रुतं क्षौद्रयुतं पिबेच्छोणितपित्तवान्"॥[633]

रोगी को खीरे का मूल कल्क शहद एवं चावल के जल के साथ पीने के लिए देना चाहिए या मुलेठी के कर्षमात्र कल्क को मधु मिलाकर चावलों के जल के साथ सेवन के लिए देना चाहिए या चन्दन, मुलेठी और लोध के चूर्ण को शहद मिलाकर चावलजल से रोगी को सेवन करने के लिए देना चाहिए या करंजबीज कल्क को चीनी एवं शहद मिलाकर पिलाना चाहिए अथवा हिंगोट फलमज्जा के कल्क को शहद मिलाकर पीना चाहिए या करञ्जबीज चूर्ण, लवण, दधिमस्तु को मिलाकर तथा कोष्ण कर 3 दिन तक रक्तपित्त से पीड़ित मनुष्य को पिलाना चाहिए। वाग्भट[634] ने भी चरकोक्त रक्तपित्तविकार के लिए प्रयुक्त औषधियों को स्वीकार किया है। अतः रोगी द्वारा शहद, गन्ने का रस आदि औषधियुक्त सेवन करने से लाभ मिलता है।

5.2.8 रक्तपित्तविकार में दुग्ध प्रयोग :- आयुर्वेदज्ञों ने रक्तपित्तविकारी के लिए दुग्ध एवं घी के सेवन करने का वर्णन किया है। इस व्याधि में दुग्ध एवं घी का सेवन विभिन्न द्रव्यों और जांगल प्राणियों के साथ किया गया है। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि जो रक्तपित्तव्याधि में अनेक कषाययोगों का सेवन करने से, अग्नि के प्रदीप्त होने एवं कफदोष के क्षीण हो जाने पर भी शान्त नहीं हो रहा हो, तब उसमें वातदोष को ही हेतु स्वीकार करना चाहिए और उसको शान्त करने के लिए बकरी का दूध रोगी को पिलाना चाहिए या पाँच गुणा जल में दुग्धावशेष पकाया हुआ तथा चीनी और शहद मिला हुआ गाय का दूध पीड़ित को पिलाना चाहिए। या उसे विदारिगन्धादि गण की औषधियों से सिद्ध गाय के दूध में शहद एवं शर्करा मिलाकर सेवन के लिए देना चाहिए।[635] चरक ने अन्यत्रस्थान पर दूध के साथ औषधियों का प्रयोग भी इस व्याधि में करने के लिए कहा है-

---

633 *सु०सं०, उ०* 45/21-22

634 *अ०हृ०, चि०* 2/31-34

635 *च०सं०, चि०* 4/82-83

"द्राक्षाशृतं नागरकैः शृतं वा बलाशृतं गोक्षुरकैः शृतं वा।

सजीवकं सर्षभकं ससर्पिः पयः प्रयोज्यं सितया शृतं वा"॥[636]

अर्थात् रोगी को मुनक्का डालकर पकाया हुआ गाय का दूध पिलाना चाहिए या उसे सोंठ डालकर पकाया हुआ या बरियार की जड़ की छाल डालकर पकाया हुआ या गोखरू के साथ पकाया हुआ या जीवक डालकर पकाया हुआ दूध अथवा ऋषभक डालकर पकाया हुआ दूध या गर्म किए हुए दूध में मिश्री मिलाकर पिलाना चाहिए। यदि रक्तपित्त रोगी के मूत्रमार्ग से निकल रहा हो, तब उसके द्वारा शतावर और गोखरू डालकर पकाया हुआ दूध या शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी और माषपर्णी इन चारों द्रव्यों से युक्त पकाए हुए दूध का सेवन करने से रक्तपित्तव्याधि को शीघ्र ही शान्त हो जाता है। जब मूत्रमार्ग में पीड़ा हो रही हो, तो उस अवस्था में ये योग सर्वोत्तम हितकारक होता है। *चरकसंहिता* में इस विकार को परिलक्षित करते हुए कहा गया है कि

"शतावरीगोक्षुरकैः शृतं वा शृतं पयो वाऽप्यथ पर्णिनीभिः। रक्तं निहन्त्याशु विशेषतस्तु यन्मूत्रमार्गात् सरुजं प्रयाति"॥[637]

जब इस विकार[638] में रक्त गुदा मार्ग से निकल रहा हो, तब उसमें मोचरस का कल्क डालकर पकाया हुआ दूध या बरगद की बरोह या बरगद का ठूंसा डालकर पकाया हुआ दूध या सुगन्धबाला, नीलकमल और सोंठ डालकर पकाया हुआ दूध रोगी के लिए उत्तम लाभदायक होता है।

---

[636] *चसं, चि* 4/84

[637] *चसं, चि* 4/85

[638] *चसं, चि* 4/86

सुश्रुत एवं वाग्भट ने उपरोक्त दूध[639] का सेवन औषधियों के साथ पीड़ित को देने के लिए कहा है। अतः इस विकार में औषधियुक्त दूध व घी लाभप्रद होता है। जो भिन्न-भिन्न मार्ग से निकल रहे रक्त को रोकता है। आचार्यों ने रोगी को गाय या बकरी का दूध पीने का निर्देश दिया है।

5.2.9 रक्तपित्तविकार में घृत प्रयोग :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में रक्तपित्तव्याधि में उपचार के लिए जहाँ दूध का प्रयोग किया गया है वहीं घी का सेवन भी रक्तपित्त में करने के लिए कहा गया है। घी का प्रयोग औषधियों एवं जंगली प्राणियों के साथ किया गया है। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि अरूसे की 18 टहनियाँ, पत्ते और जड़ 2 किलोग्राम, 16 किलोग्राम जल में क्वाथ करना चाहिए। उसमें अरूसे के 250 ग्राम फूलों का कल्क डालकर 1 किलोग्राम गाय का घी डालकर पकाना चाहिए। इस मिश्रित घी का शहद के साथ सेवन रोगी के लिए हितकारक होता है-

"वासां सशाखां सपलाशमूलां कृत्वा कषायं कुसुमानि चास्याः।

प्रदाय कल्कं विपचेद् घृतं तत् सक्षौद्रमाश्वेव निहन्ति रक्तम्"॥[640]

चरक ने अन्यत्रस्थान पर कहा है कि पीड़ित को पलाश के पुष्पगुच्छ और पत्तों के स्वरस तथा उन्हीं के कल्क के सिद्ध घी को शहद के साथ सेवन करना चाहिए अथवा इन्द्रजौ का कल्क डालकर सिद्ध घी का सेवन करना चाहिए अथवा मजीठ या लाजवन्ती, नीलकमल और पठानी लोध के कल्क से सिद्ध घी का सेवन करना चाहिए। इन घृतों को चतुर्थांश शहद मिलाकर पिलाना चाहिए। वे सभी रक्तपित्तरोग को शान्त करने में प्रशस्त होते हैं। चरक[641] ने शतावरी घी, पञ्चमूल घी का प्रयोग भी इस व्याधि में पीड़ित मनुष्य को सेवन करने के निर्देश दिए हैं।

---

639 *सु०सं०, उ०* 45/29-33 ; *अ०हृ०, चि०* 2/36-40

640 *च०सं०, चि०* 4/88

641 शतावरीदाडिमतिन्तिडीकं काकोलिमेदे मधुकं विदारीम्। पिष्ट्वा च मूलं फलपूरकस्य घृतं पचेत् क्षीरचतुर्गुणः ज्ञः॥
कासज्वरानाहविबन्धशूलं तद् रक्तपित्तं च घृतं निहन्यात्। यत् पञ्चमूलैरथ पञ्चभिर्वा सिद्धं घृतं तच्च तदर्थकारि॥
च०सं०, चि० 4/94-95

सुश्रुत ने रक्तपित्तविकारी को घी का सेवन करने के लिए कहा है- ढाक की छाल का रस तथा घी का पाक करके एवं ठण्डे करके शहद के साथ 1-2 तोला की मात्रा लेकर रोगी को पिलाना चाहिए या वट वृक्षादि वनस्पतियों के स्वरस से क्षीरपाक विधि से सिद्ध दूध को मथकर निकाले गए घी को चीनी में मिलाकर रोगी द्वारा सेवन करना चाहिए-

"पलाशवृक्षस्वरसे विपक्वं सर्पिः पिबेत् क्षौद्रयुतं सुशीतम्।

वनस्पतीनां स्वरसैः कृतं वा सशर्करं क्षीरघृतं पिबेद्वा"॥[642]

वाग्भट[643] ने चरकोक्त इस विकार में घी के सेवन को स्वीकार किया है। इन्होंने भी घी का सेवन द्रव्यों एवं जंगली पशुओं के मांसरस के साथ करने का विधान बताया है। जिसका सेवन करने से रक्तपित्तव्याधि का प्रशमन शीघ्र हो जाता है। अतः विकारी को औषधियुक्त घी का सेवन करना चाहिए।

5.2.10 नासाप्रवृत रक्तपित्त में उपचार :-जब रोगी के नाक से रक्त निकल रहा हो एवं दोषदुष्ट समस्त रक्त निकल जाए, तब आटरूषकमृद्वीका कषाययोगों आदि का स्वरस निकाल कर अवपीडन नस्य के रूप में प्रयोग करना चाहिए। इन द्रव्यों को मसल कर रूई या वस्त्रखण्ड में भीगों कर रोगी की नाक में बूँद-बूँद डालना चाहिए। *चरकसंहिता* में इस व्याधि की चिकित्सा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि- नीलकमल का फूल, गेरु, शंखभस्म और सफेद चन्दन का बुरादा इन सभी को पीसकर चीनी के शर्बत में घोलकर एवं छानकर अवपीडन नस्य पीड़ित को देना चाहिए। या आम की गुठली की मींगी का रस नस्य के रूप में देना चाहिए। या उसे मोचरस और पठानी लोध को चीनी के शर्बत में पीसकर नस्य प्रयोग करना चाहिए।

---

642 *सु०सं०, उ०* 45/29

643 *अ०हृ०, चि०* 2/42-45

या मुनक्का के रस का नस्य रोगी को देना चाहिए। ईख, दूध, दूब का रस, जवासा एवं अनार के फूल के रस का नस्य रक्तपित्ती को देना चाहिए।[644] सुश्रुत ने रक्तपित्तव्याधि में नासा मार्ग से निकले वाले रक्त में नाक से जल एवं शर्करा देने के लिए कहा है तथा बिजौरानीम्बू के मूल और पुष्पों को पीसकर चावल के जल में पीने के लिए रोगी को देना चाहिए। इसी प्रकार नासामार्ग से रक्त आने पर नाक के द्वारा शर्करा मिश्रित जल पिलाना चाहिए या दूध में चीनी मिलाकर नासिका में डालना चाहिए। सम्भवतः नाक द्वारा पिलाने का अर्थ धीरे-धीरे नाक में बूँदे डालना है, क्योंकि नाक द्वारा पीने का कार्य सम्भव नहीं होता। सुश्रुत ने इस विकार का विवेचन करते हुए कहा है कि-

"मूलानि पुष्पाणि च मातुलुङ्गयाः पिष्ट्वा पिबेत्तण्डुलधावनेन॥

घ्राणप्रवृत्ते जलमाशु देयं सशर्करं नासिकया पयो वा।

द्राक्षारसं क्षीरघृतं पिबेद्वा सशर्करं चेक्षुरसं हिमं वा"॥[645]

पीड़ित मनुष्य को द्राक्षारस में चीनी मिलाकर नासामार्ग से पिलाना चाहिए या दूध को मथकर निकाला हुआ घी और चीनी मिलाकर नासामार्ग से देना चाहिए अथवा गन्ने के रस को हिमशीत कर नाक से खींचना चाहिए। वाग्भट[646] ने चरकोक्त अवपीड़न को इस व्याधि में रोगी को करने के लिए कहा है। अतः रोगी को नाक से औषधियुक्त जल, गन्ने का रस, घी आदि डालने से लाभ मिलता है। ये औषधियाँ नाक में तभी डालनी चाहिए, जब नाक से रक्त निकल रहा हो।

5.2.11 रक्तपित्तनाशक विहार :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में जहाँ एक ओर इस विकार की दूध, घी, यवागू, वमन-विरेचन, अवपीडन आदि चिकित्साओं का वर्णन किया गया है, वहीं दूसरी तरफ रक्तपित्त को शान्त करने वाले आहार एवं विहार का वर्णन आयुर्वेदज्ञों ने किया है।

---

644 *च०सं०, चि०* 4/99-101

645 *सु०सं०, उ०* 45/36-37

646 *अ०हृ०, चि०* 2/47-48

चरकसंहिता में कहा गया है कि रक्तपित्तव्याधि के प्रशमन के लिए फव्वारे लगे ठण्डे धारागृह, ठण्डे भूमिगत घर, रमणीय एवं जलयुक्त वायु के प्रवाह से ठण्डे बाग-बगीचे और शीतल जल के स्पर्श से ठण्डे वैदूर्यमणि, मोती एवं मणिमय पात्रों का धारण एवं स्पर्श रोगी को करना चाहिए। रोगी के लिए कमल के पत्ते और फूल, ठण्डे रेशमी वस्त्र, केले के पत्ते, लाल एवं नील कमल के पत्ते बिस्तर पर बिछाकर सोने के लिए, आसन पर बिछाकर बैठने के लिए उत्तम होते हैं ये सभी वस्तुएँ दाहशामक होती हैं।[647] रक्तपित्तव्याधि से ग्रस्त रोगी को जब शरीर में जलन प्रतीत होती हो, तब प्रियंगु और सफेदचन्दन की धूल से जिनका शरीर लिप्त हो, ऐसी प्रिय सुन्दर स्त्रियों का आलिङ्गन कराना चाहिए और जल की बूँदों से भरे हुए लाल तथा नीले कमल के फूलों के गुच्छों के व्यञ्जन से निकली ठण्डी वायु का सेवन कराना चाहिए।

चरक ने कहा है कि रोगी को नदियों, तालाबों एवं हिमगिरि की गुफाओं का सेवन करना चाहिए। या उसे चाँदनी रात में खुले आकाश में चन्द्रमा की कान्ति को निहारना चाहिए, या उसे कमलों से भरे तालाबों के किनारे बैठना चाहिए। उसे मनपसन्द शीतल स्पर्श और विनोदात्मक कथाओं को सुनने से रक्तपित्तव्याधि में शान्ति मिलती है-

"सरिद्ध्रदानां हिमवद्गरीणां चन्द्रोदयानां कमलाकराणाम्।

मनोऽनुकूलाः शिशिराश्च सर्वाः कथाः सरक्तं शमयन्ति पित्तम्"॥[648]

---

[647] धारागृहं भूमिगृहं सुशीतं वनं च रम्यं जलवातशीतम्। वैदूर्यमुक्तामणिभाजनानां स्पर्शाञ्च दाहे शिशिराम्बुशीताः॥
पत्राणि पुष्पाणि च वारिजानां क्षौमं च शीतं कदलीदलं च। प्रच्छादनार्थं शयनासनानां पद्मोत्पलानां च दलाः प्रशस्ताः॥
च०सं०,चि० 4/106-107

[648] *च०सं०, चि०* 4/109

सुश्रुतसंहिता एवं *अष्टाङ्गहृदय* में इस व्याधि की चिकित्सा करते हुए रक्तपित्त शामक विहार का वर्णन प्राप्त नहीं होता है। सम्भवतः यें दोनों संहिताएँ इस व्याधि में विहार को स्वीकार नहीं करते होगीं। अतः रोगी को ठण्डे स्थानों में रहना, ठण्डे जल में स्थान, चन्द्रमा की चाँदनी को देखना आदि से भी शान्ति मिलती है।

5.3.1 पाण्डुविकार का उपचार :- आयुर्वेदीय साहित्य में पाण्डुविकार एक प्रमुख व्याधि है। इसकी चिकित्सा में सर्वप्रथम पाण्डुविकार के सभी निदानों का परित्याग करना चाहिए। रोगी को दोषविशेष के अनुसार आहार एवं औषधियाँ देनी चाहिए। मृत्तिकाजन्य पाण्डुरोगी के बलाबल का विचार करके तीक्ष्ण विरेचन देकर शरीर से मिट्टी को बाहर निकालना चाहिए और उसे वमन भी कराना चाहिए। रोगी को पीने के लिए अथवा भोजन पकाने के लिए लघुपञ्चमूल से सिद्ध किए हुए जल का प्रयोग करना चाहिए। इस व्याधि में मनुष्य के शरीर के स्नेहन का क्षय होकर रूक्षता आती है इसलिए उसके आहार में स्नेहन युक्त द्रव्यों की अधिक मात्रा होनी चाहिए। *चरकसंहिता* में पाण्डु एवं कामला विकार की चिकित्सा का एक साथ विवेचन किया गया है।

5.3.2 पाण्डुव्याधि में स्नेहन :- *सुश्रुतसंहिता* में पाण्डुविकार की चिकित्सा को परिलक्षित करते हुए कहा गया है कि असाध्य एवं अरिष्ट लक्षणों से रहित, अतः साध्य पाण्डुव्याधि की जाँच कर सर्वप्रथम स्नेहार्थ घी का प्रयोग करके उसका ऊर्ध्व एवं अधो मार्ग से शोधन करना चाहिए।

"साध्यं तु पाण्ड्वामयिनं समीक्ष्य स्निग्धं घृतेनोर्ध्वमधश्च शुद्धम्"।[649]

चरक[650] ने असाध्य पाण्डु एवं असाध्य कामला व्याधि को छोड़कर शेष साध्य पाण्डु एवं कामलाव्याधि की चिकित्सा का वर्णन किया है।

---

649 *सु०सं०, उ०* 44/14

650 साध्यानामितरेषां तु प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम्॥ *च०सं०, चि०* 16/39

वाग्भट[651] ने सबसे पहले पाण्डुव्याधि के रोगी को कल्याणघृत का अथवा पञ्चगव्यघृत अथवा महातिक्तघृत का अथवा आरग्वधादि गण के द्रव्यों के क्वाथ रस तथा कल्क के योग से पकाए गए घी का मात्रानुसार सेवन करना चाहिए। चरक[652] ने भी पाण्डुविकार के रोगी के लिए पञ्चगव्यघृत, महातिक्तघृत एवं कल्याणघृत का प्रयोग करने के लिए कहा है। *चरकसंहिता*[653] में अन्यत्रस्थान पर कहा गया है कि ताजी 100 पक्वबीर्य हर्रे का स्वरस और हर्रे का फल जिस डण्ठल में लगते हैं, उसे 50 की संख्या में लेकर उसका कल्क निकालकर, इन दोनों को 1 प्रस्थ घी में डालकर रोगी को सेवन करने के लिए देना चाहिए। यह घी पाण्डु एवं गुल्मविकार को शान्त करते हैं। अथवा दन्ती के पत्ते या मूल का विधिवत् निर्माण कर क्वाथ 4 पल और दन्ती के कच्चे फल का 1 पल लेकर इन दोनों को 1 प्रस्थ गाय के घी में डालकर विधिवत् पाक कर घी सिद्ध करना चाहिए। तदुपरान्त रोगी को घी का सेवन करने के लिए देना चाहिए। यह घी पाण्डु, प्लीहा एवं शोथविकार को शान्त करता है। चरक ने इस विकार का विवेचन करते हुए कहा है कि-

"गोमूत्रे द्विगुणे दार्व्याः कल्काक्षद्वयसाधितः"।[654]

अर्थात् पाण्डुव्याधि में रोगी को दारुहल्दी का कल्क 2 कर्ष, गोमूत्र 2 प्रस्थ और भैंस का घी 1 प्रस्थ सभी को एक साथ मिलाकर यथाविधि घी का सेवन कराना चाहिए।

---

651 पाण्ड्वामयी पिबेत्सर्पितादौ कल्याणकाह्वयम्। पञ्चगव्यं महातिक्तं शृतं वाऽऽरग्वधादिना॥ *अ०हृ०, चि०* 16/1

652 पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा। स्नेहार्थं घृतं दद्यात् कामलापाण्डुरोगिणे॥ *च०सं०, चि०* 16/43

653 पथ्याशतरसे पथ्यावृन्तार्धशतकल्कवान्। प्रस्थः सिद्धो घृतात् पेयः स पाण्ड्वामयगुल्मनुत्॥
दन्त्याश्चतुष्पलरसे पिष्टैर्दन्तीशलाटुभिः। तद्वत्प्रस्थो घृतात्सिद्धः प्लीहपाण्ड्वर्तिशोफजित्॥ *च०सं०, चि०* 16/49-50

654 *च०सं०, चि०* 16/54

सुश्रुत ने इस व्याधि में बृहत्यादि घृत का सेवन रोगी को करने के लिए कहा है- छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, हल्दी, शुकाह्व, काकादनी, मकोय, आदारिबिम्बी, कदम्बपुष्पी इन सभी को समान मात्रा में लेकर उनका क्वाथ बना लेना चाहिए। फिर इस क्वाथ में घृतपाक कर 1-2 तोला की मात्रा में प्रयुक्त करना चाहिए। इसी प्रकार पीड़ित की जठराग्नि के अनुसार समुचित मात्रा में पिप्पली चूर्ण 1 ग्राम को दूध 50-100 मिलीलीटर के अनुपान से सेवन करने पर व्याधि का शमन होता हैं।[655] वाग्भट[656] ने विकारी को दाडिमादि घृत का सेवन करने के लिए कहा है। अतः इस व्याधि में औषधियों से युक्त घी का सेवन लाभप्रद होता है।

5.3.3 पाण्डुविकार में वमन-विरेचन :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में पाण्डुविकार में वमन-विरेचन करने का विधान बताया गया है। इस विकार से ग्रस्त रोगी का समुचित स्नेहन कर लेने के पश्चात् तीक्ष्ण वमन और विरेचनकारक औषधियों का प्रयोग कर संशोधन करना चाहिए। *चरकसंहिता* में इस व्याधि की चिकित्सा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि-

"तत्र पाण्ड्वामयी स्निग्धस्तीक्ष्णैरूर्ध्वानुलोमिकैः"।[657]

चरक[658] ने अन्यत्रस्थान पर इस विकार की चिकित्सा करते हुए विरेचन कराने के लिए कहा है। स्नेहों घृतों के प्रयोग करने से पाण्डुव्याधि के रोगी के शरीर के सम्यक् अंग स्निग्ध हो जाने के बाद उसका विरेचन कराना चाहिए। पीड़ित को विरेचन के लिए केवल दूध अथवा गोमूत्र मिला हुआ दूध अनेक बार पिलाना चाहिए या दन्तीफल के गर्म क्वाथ में गम्भार का फल 4 पल पीसकर एवं मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिए। यह विरेचन पाण्डुव्याधि का प्रशमन करता है।

---

655 उभे बृहत्यौ रजनीं शुकाख्यां काकादनीं चापि सकाकमाचीम्। आदारिबिम्बीं सकदम्बपुष्पीं विपाच्य सर्पिर्विपचेत्कषाये॥
तत्पाण्डुतां हन्त्युपयुज्यमानं क्षीरेण वा मागधिका यथाग्निं। *सु०सं०, उ०* 44/19-20

656 *अ०हृ०, चि०* 16/2-4

657 *च०सं०, चि०* 16/40

658 स्नेहरेभिरुपक्रम्य स्निग्धं मत्वा विरेचयेत्॥
पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा। दन्तीफलरसे कोष्णे काश्मर्याञ्जलिना शृतम्॥
द्राक्षाञ्जलिं मृदित्वा वा दद्यात् पाण्ड्वामयापहम्। द्विशर्करं त्रिवृच्चूर्णं पलार्धं पैत्तिकः पिबेत्॥ *च०सं०, चि०* 16/55-57

इसी प्रकार पैत्तिक पाण्डुव्याधि से पीड़ित मनुष्य को आधा पल निशोथ चूर्ण में 1 पल चीनी मिलाकर एवं घोलकर सेवन के लिए देना चाहिए। सुश्रुत ने भी रक्तपित्तविकार की चिकित्सा करते हुए वमन-विरेचन करने के लिए कहा है। भैंस के 16 गुणा मूत्र में दन्ती के आधा पल चूर्ण की मात्रा को चतुर्थांश रहने तक पकाना चाहिए। इसमें 2 पल की मात्रा में रोगी को विरेचनार्थ पिलाना चाहिए। अथवा हरड़ के क्वाथ में पकाकर गुड़ खाने को देना चाहिए या आरग्वधादि द्रव्यों का क्वाथ पिलाना चाहिए। या लोहभस्म, सोंठ, मरिच, पीपल और विडंग चूर्ण इनको शहद एवं घी में मिलाकर रोगी द्वारा चाटना चाहिए। या हरड़, बहेड़ा, आँवला और हल्दी का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर 2-4 ग्राम की मात्रा में शहद एवं घी से साथ सेवन करना चाहिए।[659] वाग्भट ने भी इस व्याधि में रोगी को स्नेहन के बाद तीक्ष्ण वमनकारक औषध योगों का सेवन करने के लिए कहा है। फिर उसे स्नेहन कराकर गोमूत्र मिले हुए दूध को पिलाकर अथवा केवल दूध पिलाकर अनेक बार विरेचन कराना चाहिए।

"स्नेहनं वामयेत्तीक्ष्णैः पुनः स्निग्धं च शोधयेत्। पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा"॥[660]

अतः आचार्यों ने रोगी को स्नेहन के पश्चात् औषधियुक्त दूध या दूध से विरेचन कराने का निर्देश दिया है।

5.3.4 पाण्डुविकार में गोमूत्र प्रयोग :- आयुर्वेदीय साहित्य में इस विकार की चिकित्सा में गोमूत्र का सेवन करने के लिए कहा गया है। अभी तक ज्वरविकार एवं रक्तपित्तव्याधि में गोमूत्र के सेवन का वर्णन प्राप्त नहीं हुआ था। परन्तु इस व्याधि की चिकित्सा में रोगी को गोमूत्र पीने का वर्णन मिलता है।

---

659 मूत्रे निकुम्भार्धपलं विपाच्य पिबेदभीक्ष्णं कुडवार्धमात्रम्। खादेद्गुडं वाऽप्यभयाविपक्वमारग्वधादिक्वथितं पिबेद्वा॥ अयोरजोव्योषविडङ्गचूर्णं लिह्याद्धरिद्रां त्रिफलान्वितां वा। *सु०सं०, उ०* 44/16-17

660 *अ०हृ०, चि०* 16/5

चरकसंहिता में कहा गया है कि "**क्षीरमूत्रं पिबेत् पक्षं गव्यं माहिषमेव वा। पाण्डुर्गोमूत्रयुक्तं वा सप्ताहे त्रिफलारसम्**"[661] अर्थात् गाय के मूत्र में गाय का दुग्ध मिलाकर अथवा भैंस के दूध में भैंस का मूत्र मिलाकर पाण्डुव्याधि के रोगी द्वारा पन्द्रह दिन तक सेवन करना चाहिए या रोगी द्वारा गोमूत्र को त्रिफला के क्वाथ में डालकर एक सप्ताह तक पीना चाहिए। चरक[662] ने गोमूत्र का मातुलुङ्ग एवं हरीतकी के साथ भी वर्णन किया है। रोगी द्वारा बिजौरानीम्बू की नई कोपलों को अग्नि में जलाकर, उसे गाय के मूत्र में बुझाकर, हाथ से मसलकर एवं छानकर पीना चाहिए। यह पाण्डु एवं शोथव्याधि का शमन करता है। या रोगी द्वारा हरीतकी का 3-4 ग्राम चूर्ण 1 कप गाय के मूत्र के साथ नियमित रूप से कुछ दिनों तक सेवन करना चाहिए और औषध पच जाने पर दूध के साथ अथवा मधुर मांसरस के साथ भोजन ग्रहण करना चाहिए। या इस व्याधि को शान्त करने के लिए रोगी को लौहभस्म गाय के मूत्र में भावना देकर 2 रत्ती की मात्रा में दूध के साथ सुबह-शाम सेवन करने के लिए देना चाहिए।

सुश्रुत[663] ने गोमूत्र का प्रयोग त्रिफला चूर्ण एवं लौहभस्म के साथ पाण्डुव्याधि में करने के लिए कहा है। पीड़ित द्वारा त्रिफला चूर्ण 1-2 ग्राम, लौहभस्म 150 ग्राम तथा उसमें 25 लीटर गोमूत्र मिलाकर चिरकाल तक सेवन करते रहना चाहिए। रोगी को मण्डुरभस्म, लौहभस्म, चित्रक, विडंग, हरड़, सोंठ, मरिच एवं पीपल इन सभी का 100 ग्राम और ताप्य भस्म 800 ग्राम इन सभी की चूर्ण बनाकर गाय के मूत्र में भावना देकर उसे सुखा लेना चाहिए, तदुपरान्त उसे पीसकर एवं छानकर 400-600 ग्राम की मात्रा में प्रातःकाल एवं सांयकाल शहद के साथ सेवन करना चाहिए। जिसके सेवन करने से पाण्डुव्याधि का शमन होता है।

---

661 *च०सं०, चि०* 16/64

662 *च०सं०, चि०* 16/65,68-69

663 गोमूत्रयुक्तं त्रिफलादलानां दत्त्वाऽऽयसं चूर्णमनल्पकालम्॥
मण्डुरलोहाग्निविड्गपथ्याव्योषांशकः सर्वसानताप्यः। मूत्रासुतोऽयं मधुनाऽवलेहः पाण्ड्वामयं हन्त्यचिरेण घोरम्॥
सु०सं०, उ० 44/21, 23

वाग्भट[664] ने पाण्डुव्याधि से पीड़ित के लिए गोमूत्र के साथ लौहभस्म, हरीतकी का सेवन करने के लिए कहा है तथा उसके बाद दूध के साथ या मांसरस के साथ भोजन ग्रहण करने के लिए कहा है। चरक[665] इस विकार की चिकित्सा में कृष्णात्रेय का वचन उद्धृत करते हुए कहते हैं कि इस व्याधि से आक्रान्त रोगी द्वारा सोंठ, मरिच, पीपर, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, नागरमोथा, वायविडंग और चित्रकमूल इन सभी द्रव्यों का 1-1 भाग और लौहभस्म 9 भाग लेकर अच्छी तरह कूटकर एवं मिलाकर, किसी सुरक्षित स्थान पर रख देनी चाहिए। इसमें से 4 रत्ती की मात्रा लेकर 6 ग्राम घी और 10 ग्राम शहद के साथ प्रातःकाल और सांयकाल सेवन करना चाहिए। इसके सेवन करने से पाण्डु, हृदयरोग, कुष्ठ एवं अर्शव्याधि का शमन होता है। या रोगी के लिए पुराना गुड़, सोंठ का चूर्ण, मण्डूरभस्म और काले तिल का चूर्ण समान मात्रा में एवं पीपर का चूर्ण 2 भाग लेकर 4-5 रत्ती की गोलियाँ बनाकर प्रातःकाल-सांयकाल गाय के मूत्र के साथ लेनी चाहिए। अतः सभी आचार्यों ने गोमूत्र का सेवन औषधियुक्त द्रव्यों से करने के लिए कहा है।

5.3.5 पाण्डुविकार में तक्र व शहद प्रयोग :- सुश्रुत ने इस व्याधि में बहेड़ा आदि चूर्ण को तक्र से साथ लेने के लिए कहा है। रोगी द्वारा बहेड़ा, मण्डूर, शूण्ठी, काले तिल का सूक्ष्म चूर्ण तथा इन सभी द्रव्यों के बराबर गुड़ के साथ लेकर एवं इकट्ठा करके कूट लेना चाहिए। इसकी 1-1 ग्राम की गोलियाँ बनाकर दिन में 2-3 बार तक्र के साथ लेने से यह रोग शीघ्र ही शान्त हो जाता है-

"बिभीतकायोमलनागराणां चूर्णं तिलानां च गुडश्च मुख्यः।

तक्रानुपानो वटकः प्रयुक्तः क्षिणोति घोरानपि पाण्डुरोगान्"॥[666]

---

664 *अ०हृ०, चि०* 16/7-10

665 *च०सं०, चि०* 16/70-72

666 *सु०सं०, उ०* 44/24

वाग्भट[667] ने इस व्याधि की चिकित्सा में नवायस एवं मण्डूरभस्म का सेवन रोगी को करने के लिए कहा है तथा इनसे अतिरिक्त विशालादि चूर्ण का सेवन भी रोगी को करने के लिए कहा है- इन्द्रायण की जड़, कुटकी, नागरमोथा, कूठ, देवदारु एवं इन्द्रजौ द्रव्यों को 1-1 तोला प्रमाण में लेकर, मरोड़फली 2 कर्ष तथा अतीस आधा कर्ष लेकर तथा सभी का चूर्ण बना लेना चाहिए। इस चूर्ण को उचित मात्रा में गुनगुने पानी के साथ लेना चाहिए तथा उसके बाद शहद का सेवन करना चाहिए। इसका प्रयोग करने से पाण्डुविकार शीघ्र शान्त हो जाता है। अतः इस विकार में तक्र व शहद का प्रयोग भी हितकारक होता है।

5.3.6 पाण्डुविकार में अवलेह प्रयोग :- आयुर्वेदज्ञों ने इस व्याधि की चिकित्सा में अवलेह का सेवन रोगी को करने का विधान बताया है। *चरकसंहिता* में दार्व्यादि लेह का वर्णन मिलता है जो पाण्डु एवं कामलाव्याधि से ग्रस्त मनुष्य के लिए लाभप्रद होता है।

"दार्वीत्वक् त्रिफला व्योषं विडङ्गमयसो रजः। मधुसर्पियुतं लिह्यात् कामलापाण्डुरोगवान्"॥[668]

अर्थात् दारुहल्दी की छाल, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, सोंठ, मरिच, पीपर, वायविडंग और लौहभस्म सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर, एक साथ मिलाकर रख लेना चाहिए। इसे पाण्डुव्याधि से पीड़ित मनुष्य द्वारा उचित मात्रा 4-5 रत्ती में आधा चम्मच घी और 1 चम्मच शहद मिलाकर प्रातःकाल एवं सांयःकाल सेवन करना चाहिए। सुश्रुत[669] ने विडंगमुस्ताद्यवलेह का प्रयोग पाण्डुविकार की चिकित्सा में करने के लिए कहा है वायविडंग, नागरमोथा, हरड़, बहेड़ा, आँवला, अजमोद, फालसा, सोंठ, मरिच, पीपल, चित्रकमूल इन सभी को बराबर मात्रा में लेकर सूक्ष्म चूर्ण बना लेना चाहिए।

---

667 *अ०हृ०, चि०* 16/14-15, 10-11

668 *च०सं०, चि०* 16/97

669 *सु०सं०, उ०* 44/28-30

फिर शालसारादि गण की औषधियों का क्वाथ बनाकर, उसमें क्वाथ से चतुर्थांश घी, चतुर्थांश शहद और विडंगादि चूर्ण भी क्वाथ से चतुर्थांश, चतुर्थांश गुड़ तथा चतुर्थांश शर्करा मिलाकर अवलेह बनने तक पकाना चाहिए। उपचारक द्वारा अवलेह को पका हुआ जानकर उतार लेना चाहिए और मोखे के काष्ठ से बने डब्बे में भरकर रख लेना चाहिए। इस अवलेह की 1-2 तोला की मात्रा में उष्णोदक से सेवन करने पर शोथयुक्त पाण्डुविकार शान्त हो जाता है। इस अवलेह में मधु को भी पकाने का उल्लेख है जबकि उष्ण द्रव्यों के साथ शहद का प्रयोग शास्त्रविरुद्ध है। परन्तु रोगी को शहद उष्ण द्रव्यों के साथ देना वर्जित है, पाक में उबालने का नहीं।

वाग्भट[670] ने द्राक्षावलेह का वर्णन पाण्डुविकार की चिकित्सा के लिए स्वीकार किया है- मुनक्का, पिप्पली 1-1 प्रस्थ, चीनी आधा तोला, मुलेठी, सोंठ, वंशलोचन का चूर्ण 2-2 पल और सुपुष्ट आँवला के फलों का रस 1 द्रोण इन सभी को मिलाकर अवलेह की भाँति पकाना चाहिए। जब यह तैयार हो जाए तो उसे उतार लेना चाहिए। ठण्डा हो जाने पर इस अवलेह में 1 प्रस्थ शहद मिलाना चाहिए। रोगी द्वारा सामान्य मात्रा 1 कर्ष का सेवन करने से पाण्डुव्याधि का प्रशमन होता है। वस्तुतः अवलेह में अनेक औषधियाँ प्रयुक्त होती हैं। जिनकी मात्रा भी भिन्न-भिन्न है। परन्तु सभी को उष्ण जल के साथ लेनी चाहिए।

5.3.7 पाण्डुविकार में जल प्रयोग :- आयुर्वेदज्ञों ने इस व्याधि से पीड़ित मनुष्यों के लिए विशेष जल का प्रयोग किया है। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि रोगी को पीने के लिए या उसके भोजन के लिए शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू से सिद्ध किए हुए जल का सेवन करना चाहिए- **स्थिरादिभिः शृतं तोयं पानाहारे प्रशस्यते।**[671] शालिपर्णी आदि से जल सिद्ध करने के लिए षडङ्गपानीय जल के अनुसार जल सिद्ध करना चाहिए।

---

670 द्राक्षाप्रस्थं कणाप्रस्थं शर्करार्धतुलां तथा॥
द्विपलं मधुकं शुण्ठीं त्वक्क्षीरीं च विचूर्णितम्। धात्रीफलरसद्रोणे तत्क्षिप्त्वा लेहवत्पचेत्॥
शीतान्मधुप्रस्थयुताद् लिह्यात्पाणितलं ततः। हलीमकं पाण्डुरोगं कामलां च नियच्छति॥ *अ०हृ०, चि०* 29-31

671 *च०सं०, चि०* 16/114

जैसे 1 कर्ष औषधी द्रव्य को मोटा कूटकर 1 प्रस्थ जल में डालकर पकाएं और जब आधा जल बच जाए, तो उसे छानकर पीने आदि में प्रयुक्त करना चाहिए। सुश्रुत ने पाण्डुव्याधि में सिद्ध जल पीने या भोजन के रूप में स्वीकार नहीं किया है। परन्तु वाग्भट ने रोगी को सिद्ध जल पीने के लिए कहा है "**कनीयः पञ्चमूलाम्बु शस्यते पानभोजने। पाण्डूनां कामलार्तानां मृद्वीकामलकाद्रसः**"[672] अर्थात् पाण्डुव्याधि से ग्रस्त रोगी को पीने में तथा भोजन बनाने में लघुपञ्चमूल द्रव्यों का क्वाथरस एवं आँवला का स्वरस लाभदायक होता है। चरक व वाग्भट केवल रोगी के लिए औषधियुक्त जल का सेवन स्वीकार करते हैं।

5.3.8 पाण्डुविकार में विशिष्ट चिकित्सा :- आयुर्वेदीय साहित्य में इस विकार की वात आदि दोषों के बल के अनुसार विशेष चिकित्सा करने का विधान बताया है। *अष्टाङ्गहृदय* में पाण्डुव्याधि से पीड़ित रोगी की विशिष्ट चिकित्सा करते हुए कहा गया है कि "**स्नेहप्रायं पवनजे तिक्तशीतं तु पैत्तिके। श्लैष्मिके कटुरूक्षोष्णं विमिश्रं सान्निपातिके**"॥[673] अर्थात् वातज पाण्डुव्याधि में स्नेह प्रधान, पित्तज में तिक्तरस प्रधान तथा शीतवीर्य प्रधान एवं कफज पाण्डुरोग में कटुरस, रूक्षगुण तथा उष्णवीर्य प्रधान और सन्निपातज पाण्डुव्याधि में उक्त सभी गुण-धर्म वाले पदार्थों को मिलाकर चिकित्सा करनी चाहिए, क्योंकि इसमें सभी दोष सम्मिलित होते हैं। चरक[674] ने भी पाण्डुविकार की भी विशिष्ट चिकित्सा का वर्णन किया है, परन्तु सुश्रुत ने विशिष्ट चिकित्सा का कोई वर्णन नहीं किया।

5.4.1 कामलाविकार का उपचार :- बृहत्त्रयी में पाण्डुविकार की चिकित्सा के उपरान्त कामलाविकार का वर्णन किया गया है। इस व्याधि की चिकित्सा में रोगी को सर्वप्रथम स्नेहन कराना चाहिए। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि कामलाविकार से ग्रस्त रोगी को पञ्चगव्यघृत, महातिक्तघृत एवं कल्याणघृत का सेवन करना चाहिए-

---

672 *अ०हृ०, चि०* 16/32

673 *अ०हृ०, चि०* 16/34

674 वातिके स्नेहभूयिष्ठं, पैत्तिके तिक्तशीतलम्। श्लैष्मिके कटुतिक्तोष्णं विमिश्रं सान्निपातिके॥ *च०सं०, चि०* 16/116

"पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा। स्नेहार्थं घृतं दद्यात् कामलापाण्डुरोगिणे"॥[675]

परन्तु सुश्रुत ने कामलाविकार के उपचार में स्नेहन का वर्णन नहीं किया। वाग्भट[676] ने कहा है कि इस व्याधि में पित्त को शान्त करनी वाली चिकित्सा करनी चाहिए, जो पाण्डुव्याधि की चिकित्सा के विपरीत नहीं हो। अतः पाण्डुविकार की तरह इस व्याधि में सर्वप्रथम स्नेहन करना चाहिए।

5.4.2 कामलाविकार में घृत प्रयोग :- चरक ने इस रोग की चिकित्सा में घी सेवन करने का निर्देश किया है। पाँच पल दारुहल्दी को 12 सेर 64 तोला जल में क्वाथ करे और चतुर्थांश 3 सेर 16 तोला शेष बचाएं। इस विधिवत् बने क्वाथ में कालीयक काष्ठ का कल्क 2 कर्ष और भैंस का घी 1 प्रस्थ मिलाकर विधिवत् पाक करना चाहिए। इसका सेवन रोगी द्वारा करने पर कामलाव्याधि शान्त हो जाती है।[677] वाग्भट ने कामलाविकार की चिकित्सा करते हुए कहा है कि **"पथ्याशतरसे पथ्यावृन्तार्धशतकल्कितः। प्रस्थः सिद्धो घृताद्गुल्मकामलापाण्डुरोगनुत्"॥**[678] अर्थात् एक सौ हरड़ों का क्वाथ तथा पचास हरड़वृन्तों के कल्क के साथ 1 प्रस्थ घी का यथाविधि पाक करना चाहिए एवं तैयार हो जाने पर छानकर रख लेना चाहिए। रोगी द्वारा इसके सेवन करने पर शीघ्र कामलाविकार से शान्ति मिलती है। अतः रोगी द्वारा औषधियुक्त घी का सेवन करने से शीघ्र लाभ मिलता है।

5.4.3 कामलाविकार में चूर्ण प्रयोग :- आयुर्वेदज्ञों ने कामलाविकार की चिकित्सा करते हुए रोगी के लिए औषधियों से निर्मित चूर्ण का सेवन करने के लिए भी निर्देश दिए हैं। चरक ने कहा है कि सोंठ, मरिच, पीपर इनका चूर्ण और बिल्वपत्र का चूर्ण, एक साथ विदारीकन्द के स्वरस या क्वाथ या आँवले के स्वरस या क्वाथ के साथ रोगी को सेवन करने के लिए देना चाहिए।

---

675 *च०सं०, चि०* 16/ 43

676 कामलायां तु पित्तघ्नं पाण्डुरोगाविरोधि यत्। *अ०हृ०, चि०* 16/40

677 दार्व्याः पञ्चपलक्वाथे कल्के कालीयके परः। माहिषात् सर्पिषः प्रस्थः पूर्वः पूर्वे परे परः॥ *च०सं०, चि०* 16/54

678 *अ०हृ०,चि०* 16/40

या निशोथ का चूर्ण त्रिफला के स्वरस या क्वाथ के साथ सेवन करना चाहिए।[679] चरक ने अन्यत्रस्थान पर भी कहा है कि "**तुल्या अयोरजः पथ्याहरिद्राः क्षौद्रसर्पिषा। चूर्णिताः कामली लिह्याद् गुडक्षौद्रेण वाऽभयाः"**[680] अर्थात् बराबर मात्रा में लौहभस्म, हरीतकी चूर्ण और हल्दी का चूर्ण एक साथ मिलाकर रख लेना चाहिए और कामला रोगी द्वारा इसे घी एवं शहद में मिलाकर सेवन करना चाहिए। या केवल हरीतकी चूर्ण 3-4 ग्राम की मात्रा में गुड़ और शहद के साथ सुबह एवं शाम को सेवन करें, तो रोगी जल्द ही स्वस्थ हो सकता है। वाग्भट ने भी चरकोक्त चिकित्सा को स्वीकार किया है तथा उसने दन्ती का चूर्ण 2 पल लेकर शीतल जल के साथ रोगी को सेवन करने के लिए कहा है। या निशोथ के चूर्ण को शहद में मिलाकर त्रिफला के क्वाथ के साथ रोगी को पीने के लिए कहा है "**पिबेन्निकुम्भकल्कं वा द्विगुणं शीतवारिणा। कुम्भस्य चूर्णं सक्षौद्रं त्रैफलेन रसेन वा"**॥[681] सुश्रुत[682] ने कामलाव्याधि से पीड़ित मनुष्य के लिए त्रिवृत् चूर्ण में चीनी मिलाकर पीने के लिए कहा है, जो रोगी के लिए हितकर होता है। रोगी को इन्द्रायण और सोंठ कूटकर तथा उसमें गुड़ मिलाकर देने से इस विकार में शान्ति मिलती है। या कालेयक के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध घी, जिसमें हरिद्रा चूर्ण का प्रक्षेप डाला गया हो, उसे रोगी को पिलाने से कामलाव्याधि में शान्ति मिलती है। रोगी द्वारा औषधियों से युक्त चूर्ण जल या शहद के साथ लेना, इस व्याधि में हितकारक होता है।

---

679 *च०सं०, चि०* 16/59-60

680 *च०सं०, चि०* 16/98

681 *अ०हृ०, चि०* 16/ 42

682 सशर्करा कामलिनां त्रिभण्डी हिता गवाक्षी सगुडा च शुण्ठी।
कालेयके चापि घृतं विपक्वं हितं च तत्स्याद्रजनीविमिश्रम्॥ *सु०सं०, उ०* 44/30-31

5.4.4 कामलाविकार में स्वरस प्रयोग :- इस व्याधि में चिकित्सकों ने रोगी को विभिन्न औषधियों का रस सेवन करने के लिए कहा है। *अष्टाङ्गहृदय* में वर्णित है कि रोगी को त्रिफला का रस, दारुहल्दी का रस अथवा नीम की पत्तियों का रस प्रतिदिन प्रातःकाल शहद के साथ मिलाकर पिलाना चाहिए, इससे कामला विकार का प्रशमन शीघ्र हो जाता है "**त्रिफलाया गुडूच्या वा दार्व्या निम्बस्य वा रसम्। प्रातः प्रातर्मधुयुतं कामलार्ताय योजयेत्**"॥[683] चरक[684] ने इस व्याधि के होने पर स्वरस पिलाने के लिए कहा है। *सुश्रुतसंहिता* में कामलाव्याधि की चिकित्सा में स्वरस का प्रयोग रोगी के लिए उपलब्ध नहीं होता है। आचार्यों ने रोगी को शहद के साथ त्रिफलादि का स्वरस पीने के लिए कहा है। यह स्वरस सभी रोगियों के लिए हितकारक है।

5.4.5 कामलाविकार में अञ्जन प्रयोग :- इस व्याधि में अञ्जन का प्रयोग केवल *अष्टाङ्गहृदय* में प्राप्त होता है। वाग्भट ने कहा है कि रोगी द्वारा हल्दी, गेरू एवं आँवला से निर्मित अञ्जन लगाने से कामलाव्याधि का प्रशमन होता है- "**निशागैरिकधात्रीभिः कामलापहमञ्जनम्**"॥[685] इस विकार में अञ्जन का प्रयोग चरक एवं सुश्रुत ने नहीं किया है।

5.4.6 कामलाविकार में आहार :- आयुर्वेदीय संहिताओं में इस व्याधि की चिकित्सा करते समय रोगी के लिए जिस भोजन की व्यवस्था की हैं, उसमें मोर, तीतर और मुर्गे का मांस पकाकर देने का निर्देश है, जो बिना तैल एवं घी से निर्मित होना चाहिए तथा जिसमें अनार का रस और कालीमिर्च का चूर्ण डाला गया हो। रोगी को सूखी मूली एवं कुलथी के यूष के साथ भोजन का सेवन करना चाहिए और बिजौरा नीम्बू के रस में शहद, पीपर तथा मरिच का चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिए-

"बर्हितित्तिरिदक्षाणां रुक्षाम्लैः कटुकै रसैः।

---

683 *अ०हृ०, चि०* 16/43

684 *च०सं०, चि०* 16/63

685 *अ०हृ०, चि०* 16/44

शुष्कमूलककौलत्थैर्यूषैश्चान्नानि भोजयेत्। मातुलुङ्गरसं क्षौद्रपिप्पलीमरिचान्वितम्"॥[686]

सुश्रुतसंहिता में कामलाव्याधि की चिकित्सा करते समय पथ्य का वर्णन नहीं मिलता। वाग्भट इस व्याधि की चिकित्सा का वर्णन करते हुए पथ्य का वर्णन करते हैं उस रोगी को स्नेहरहित, कटु, खट्टे पदार्थों से युक्त मोर, तीतर, मुर्गे आदि प्राणियों के मांसरसों के साथ भोजन करना चाहिए अथवा सुखाकर रखी हुए मूली के यूष के साथ अथवा कुलथी की दाल के रस के साथ भोजन करना चाहिए। इसमें रोगी को अत्यन्त खट्टा, चरपरा, कटु, नमकीन तथा गर्मागर्म भोजन करना चाहिए, क्योंकि ये पदार्थ प्रशस्त हैं तथा बिजौरानींबू के रस में सोंठ, मिर्च, पीपल के चूर्ण को मिलाकर सेवन करना चाहिए।[687] ऐसा करने से पित्त पुनः अपने पित्ताशय में लौट आता है। उसके बाद उस रोगी का मल भी पित्त के रंग से रंग जाता है, वातदोष और उसके कारण होने वाले आटोप, विष्टम्भ आदि उपद्रव भी शान्त हो जाते हैं। आचार्यों ने पूर्वोक्त चिकित्सा की तरह इसमें भी आहार में मांस का सेवन करने के लिए कहा है। परन्तु कुछ पक्षियों का मांस सुलभता से प्राप्त नहीं होता, क्योंकि पक्षियों को मारना दण्डनीय अपराध है। अतः ऐसे पशुओं का मांस करें, जो सरलतया मिल सके।

5.4.7 कुम्भकामला विकार का उपचार :- आयुर्वेदज्ञों ने इस व्याधि को कामला का ही अवान्तर भेद स्वीकार किया है। इसकी चिकित्सा का वर्णन सभी संहिताओं में प्राप्त होता है। *सुश्रुतसंहिता* में कुम्भकामला विकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि कुम्भकामला से पीड़ित मनुष्य को स्वर्णमाक्षिक भस्म 150 मिलीग्राम की मात्रा में गाय के मूत्र मिलाने से अथवा शिलाजीत 400 मिलीग्राम की मात्रा में गोमूत्र के साथ पीने के लिए देना चाहिए, इसके सेवन से यह विकार शीघ्र ही शान्त हो जाता है "**धातुं नदीजं जतु शैलजं वा कुम्भाह्वये मूत्रयुतं पिबेद्वा**"।[688]

---

[686] *च०सं०, चि०* 16/128-129

[687] रसैस्तं रूक्षकट्वम्लैः शिखितित्तिरिदक्षजैः। शुष्कमूलकजैर्यूषैः कुलत्थोत्थैश्च भोजयेत्॥
भृशाम्लतीक्ष्णकटुकलवणोष्णं च शस्यते। सबीजपूरकरसं लिह्याद्घोषं तथाऽऽशयम्॥ *अ०ह्र०, चि०* 16/49-50

[688] *सु०सं०, उ०* 44/31

या लोहकिट्ट को गाय के मूत्र में एक मास तक रखने के बाद उसमें समान मात्रा में सेंधानमक मिलाकर, उसी मूत्र में पीसकर रोगी को सेवन के लिए देने से लाभ होता है। सुश्रुत ने अन्यत्रस्थान पर भी कुम्भकामलारोग की चिकित्सा करते हुए कहा है कि-

"दग्ध्वाऽक्षकाष्ठैर्मलमायसं वा गोमूत्रनिर्वापितमष्टवारान्।

विचूर्ण्य लीढं मधुनाऽचिरेण कुम्भाह्वयं पाण्डुगदं निहन्यात्"॥[689]

अर्थात् मण्डूर को बहेड़े की लकड़ियों में लाल करके गाय के मूत्र में आठ बार बुझाने के बाद पीस लेना चाहिए। रोगी द्वारा इसे 300 से 600 मिलीग्राम की मात्रा में शहद के साथ लेने से कुम्भकामला विकार का प्रशमन हो जाता है। *अष्टाङ्गहृदय*[690] में इस व्याधि के लिए शिलाजीत का सेवन गोमूत्र के साथ एक महीने तक रोगी को करने के लिए कहा गया है या उसे स्वर्णमाक्षिक भस्म या स्वर्णमण्डूर भस्म का सेवन करना चाहिए। जिससे इस व्याधि से रोगी को मुक्ति मिल जाती है। *चरकसंहिता* में कुम्भकामला की चिकित्सा कामला व्याधि के अन्तर्गत ही की गई है इसकी स्वतन्त्ररूप से उपचार प्राप्त नहीं होता क्योंकि यह कोष्ठाश्रित व्याधि है। अतः इस व्याधि में गोमूत्र का औषधियों के साथ करने से शान्ति मिलती है।

5.4.8 हलीमकविकार का उपचार :- जब पाण्डुव्याधि से ग्रस्त रोगी के शरीर का वर्ण हरित-श्याव तथा पीत वर्ण हो जाता है और मृदुज्वर के लक्षण दिखाई देते हैं तो उसे हलीमकव्याधि कहा जाता है। इस व्याधि की चिकित्सा चरक एवं वाग्भट ने की है। परन्तु सुश्रुत ने इस व्याधि का वर्णन नहीं किया। इस व्याधि की चिकित्सा में रोगी के लिए भैंस का घी एवं दूध का उपयोग आवश्यक होता है तथा विरेचन के लिए मधुररस प्रधान द्रव्य लाभप्रद होते हैं।

---

689 *सु०सं०, उ०* 44/32

690 गोमूत्रेण पिबेत्कुम्भकामलायां शिलाजतु। मासं माक्षिकधातुं वा किट्टं वाऽथ हिरण्यजम्॥ *अ०हृ०, चि०* 16/53

चरक[691] ने इस चिकित्सा का विवेचन करते हुए कहा है कि इस व्याधि में रोगी को भैंस के घी को चार गुना गुडूचीस्वरस तथा चार गुना भैंस के दूध के साथ विधिपूर्वक पकाकर पीने के लिए देना चाहिए। रोगी द्वारा घी का सेवन करने से शरीर का स्नेहन करना चाहिए, तदुपरान्त आँवले के स्वरस के साथ निशोथ का चूर्ण लेना चाहिए। रोगी का विरेचन होने के बाद वात एवं पित्तनाशक मधुररस प्रधान आहार ग्रहण करना चाहिए। उसे पूर्वोक्त द्राक्षावलेह का तथा मधुर द्रव्यों से सिद्ध घृतों का सेवन करना चाहिए। रोगी की जठराग्नि की वृद्धि के लिए मुनक्के से बनाए गए अरिष्ट योगों का प्रयोग करवाना चाहिए। रोगी के उपचार के लिए कासरोग में कथित चिकित्सा अभयावलेह का प्रयोग तथा पीपर, मुलहठी एवं बरियार के मूल के चूर्ण का दूध के साथ प्रयोग करते समय रोग के दोष तथा विकार एवं विकारी के बलाबल का विचार अवश्य करना चाहिए। *चरकसंहिता* में कामलाविकार का विवेचन करते हुए हलीमकविकार का उपचार इस प्रकार किया गया है-

"कासिकं चाभयालेहं पिप्पलीं मधुकं बलाम्। पयसा च प्रयुञ्जीत यथादोषं यथाबलम्"॥[692]

वाग्भट[693] ने हलीमकव्याधि से ग्रस्त मनुष्य के लिए चरकोक्त चिकित्सा का वर्णन किया है। अतः इस रोग में भैंस का दूध एवं मूत्र का प्रयोग हितकारक माना गया है जो औषधियों से युक्त होता है।

5.5.1 तृष्णाविकार का उपचार :- आयुर्वेद के सभी आचार्य तृष्णा की उत्पत्ति में पित्त एवं वातदोष को प्रधान दोष तथा दुष्य की दृष्टि से सौम्य धातु और उदकवह स्रोतस् आदि को स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार कटु, तीक्ष्ण, विदाही, भय, श्रम तथा वात-पित्त प्रकोपक जलवाही स्रोतसों को दुष्ट करके तृष्णाव्याधि की उत्पत्ति करते हैं।

---

691 *चसं०, चि०* 16/134-136

692 *चसं०, चि०* 16/137

693 *अहृ०, चि०* 16/53-57

उसी प्रकार अन्न, कफ और आम प्रथम जलवाही स्रोतसों को दुष्ट करते हैं, तदुपरान्त वातपित्त की दुष्टि कर तृष्णा को उत्पन्न करते हैं। अतः इस व्याधि में पित्त एवं वातदोष प्रधान है। सभी प्रकार के तृष्णाविकारों में वात तथा पित्तशामक उपचार करना चाहिए। रोगी को इस व्याधि में बाहर से तथा अन्दर से शीतल चिकित्सा देनी चाहिए। अतः इसमें ऐन्द्रजल या औषधियुक्त जल द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

5.5.2 तृष्णाविकार में वर्षाजल :- *चरकसंहिता* में तृष्णाव्याधि के उपचार में ऐन्द्रजल का प्रयोग करने के लिए कहा गया है कि "**अपां क्षयाद्धि तृष्णा संशोष्य नरं प्रणाशयेदाशु। तस्मादैन्द्रं तोयं समधु पिबेत् तद्गुणं वाऽन्यत्"॥**[694] अर्थात् मनुष्य के शरीर में तृष्णा के कारण जलीय धातुओं का क्षय हो जाने के कारण, उसका शोषण कर मार देती है। अतः तृष्णा को शान्त करने के लिए तथा जलांश की पूर्ति करने के लिए वर्षाजल को पीना चाहिए। परन्तु सुश्रुत ने इस व्याधि की चिकित्सा करते समय ऐन्द्रजल का वर्णन नहीं किया है, जबकि वाग्भट[695] ने चरक के समान तृष्णाविकार में ऐन्द्रजल को सर्वप्रथम स्वीकार किया है।

आधुनिक समय में प्यास को शान्त करने के लिए कोल्डड्रिक्स का सेवन करते हैं जो कुछ समय तक प्यास शान्त कर देती है, परन्तु उसके बाद ओर अधिक बढ़ा देती है तथा साथ ही अधिक कोल्डड्रिक्स का सेवन शरीर के लिए हानिकारक है। इसलिए पुरातन आचार्यों ने तृष्णा को शान्त करने के लिए ऐन्द्र जल का सेवन करने के लिए कहा है क्योंकि इसमें सम्पूर्ण जलीय तत्त्वों होते हैं जो साधारण जल में विद्यमान नहीं होते।

---

694 *च०सं०, चि०* 22/25

695 दिव्याम्भु शीतम्। *अ०हृ०, चि०* 6/61

5.5.3 तृष्णाविकार में सामान्य जल :- यदि इस व्याधि में उपचारक द्वारा वर्षाजल प्राप्त नहीं हो, तो उसके लिए औषधियों से युक्त ऐन्द्रजल जैसे जल का प्रयोग करना चाहिए। *चरकसंहिता* में वर्षा जल के साथ-साथ सामान्य जल का सेवन करने के लिए कहा गया है "**किञ्चित्तुवरानुरसं तनु लघु शीतलं सुगन्धि सुरसं च। अनभिष्यन्दि च यत्तत् क्षितिगतमप्यैन्द्रवज्ज्ञेयम्"**[696] अर्थात् जो जल कुछ कसैला, परन्तु उसका कसैलापन व्यक्त न हुआ हो, पतला हो, हल्का हो, ठण्डा हो, सुगन्धित हो, जो जीभ के अनुकूल हो और जो कफ को न बढ़ाएँ, ऐसे जल को वर्षाजल के सदृश समझना चाहिए। चाहे वह जल भूमि से ही क्यों न निकाला गया हो। इस जल में शर, इक्षु, दर्भ, काश एवं शालिमूल डालकर षडंग परिभाषा के अनुसार सिद्ध करके चीनी मिलाकर पीड़ित को पिलाना चाहिए। या धान के लावा को सत्तू में चीनी और शहद मिलाकर वर्षाजल से द्रवमन्थ बनाकर रोगी को सेवन के लिए देना चाहिए। इससे तृष्णाव्याधि का शीघ्र ही शमन हो जाता है। चरक ने तृष्णाविकार का वर्णन करते हुए कहा है कि-

"शृतशीतं ससितोपलमथवा शरपूर्वपञ्चमूलेन। लाजासक्तुसिताह्वामधुयुतमैन्द्रेण वा मन्थम्"॥[697]

सुश्रुत[698] ने इस विकार में औषधियुक्त जल का सेवन करने के लिए कहा है। रोगी द्वारा शुद्ध स्वर्ण और रजत की शलाकाओं या पत्रों को अग्नि में जला कर तथा उसे पानी में बुझाकर, उस जल को पीने से तृष्णा शान्त हो जाती है या अच्छे स्थान की शुद्ध मिट्टी के ढेले अथवा ईंट को गर्म करके जल में बुझाकर, उस जल को पिलाने से तृष्णा का शमन हो जाता है। या उसी पानी को ठण्डा करके एवं उसमें चीनी मिलाकर या शहद मिलाकर पीने से यह व्याधि शान्त होती है। वाग्भट[699] ने इस व्याधि की चिकित्सा में चरकोक्त मत को स्वीकार किया है।

---

696 *च०सं०, चि०* 22/26

697 *च०सं०, चि०* 22/27

698 सुवर्णरूप्यादिभिरग्नितप्तैर्लोष्टैः कृतं वा सिकतादिभिर्वा। जलं सुखोष्णं शमयेत्तु तृष्णां सशर्करं क्षौद्रयुतं हिमं वा॥ *सु०सं०, उ०* 48/19

699 *अ०हृ०, चि०* 6/61-62

दाह-मूर्च्छा आदि व्याधियों से ग्रस्त होने से पीड़ित एवं दीन रोगी प्यास से त्रस्त होकर जल पीना चाहता है और उसे उस अवस्था में जल नहीं पिलानी चाहिए। क्योंकि इन व्याधियों में जल पीने से, वह शीघ्र ही मृत्यु की गोद में जा सकता है या दीर्घकाल-स्थायी व्याधि से ग्रस्त हो जाता है। इसलिए ऐसे प्यासे रोगी को षडङ्गपरिभाषा के अनुसार बताए गए धान्याम्बु में शहद और चीनी मिलाकर पीना चाहिए अथवा रोगी को अन्य प्रकार का जल जो उसके अनुकूल हो पीना चाहिए। अतः यदि रोगी के लिए वर्षाजल नहीं मिले, तब उस अवस्था में औषधियुक्त सामान्य जल का सेवन करने के लिए देना चाहिए।

5.5.4 तृष्णाविकार में पेया एवं भोजन प्रयोग :- आयुर्वेदज्ञों ने इस व्याधि से पीड़ित व्यक्ति को कच्चे जौ आदि का पेया पीने के लिए भी कहा है। *चरकसंहिता*[700] में कहा गया है कि कच्चे जौ का मण्ड बनाकर, ठण्डे करके शहद और चीनी मिलाकर रोगी को पीने के लिए देना चाहिए या अगहनी चावल या कोदों के चावल से पेया बनाकर, ठण्डा कर शहद, चीनी डालकर सेवन के लिए देना चाहिए या शहद और चीनी मिलाकर गर्म करके एवं उसे ठण्डा कर दूध के साथ भोजन कराना चाहिए। या उसे मूँग, मसूर और चने की दाल के यूष को घी से छौंककर पीने या भोजन के साथ खाने के लिए देना चाहिए। *सुश्रुतसंहिता* में इस व्याधि के रोगी को पेया देने का वर्णन प्राप्त नहीं होता। वाग्भट[701] ने इस व्याधि में रोगी को कच्चे जौ आदि पेया का सेवन तथा जंगली पशु-पक्षी का मांस सेवन करने के लिए भी कहा गया है।

---

700 वाट्यं वाऽऽमयवानां शीतं मधुशर्करायुतं दद्यात्। पेयां वा शालीनां दद्याद्वा कोरदूषाणाम्॥
पयसा शृतेन भोजनमथवा मधुशर्करायुतं योज्यम्। *च०सं, चि०* 22/28 ;
मुद्गमसूरचणकजा रसास्तु भृष्टा घृते देयाः॥ *च०सं०,चि०* 22/31

701 *अ०हृ०, चि०* 6/63-64

चरकसंहिता में वर्णित है कि रोगी को कबूतर आदि पक्षी को भूनकर, उसे नमक एवं खटाई डाले बिना ही खाना चाहिए या उसे तृणपञ्चमूल, मुञ्जातक और चिरौंजी डालकर पकाए हुए जल में जंगली पशु-पक्षियों के मांसरस को ग्रहण करना चाहिए या इन्हीं तृणपञ्चमूल आदि से क्षीरपाकविधि से सिद्ध दूध में शहद और चीनी मिलाकर देनी चाहिए।[702] सुश्रुत ने रोगी को जंगली प्राणियों के मांस को ग्रहण करने का विधान नहीं बताया। परन्तु वाग्भट रोगी को स्पष्टरूप से जंगली प्राणियों के मांस का सेवन करने के लिए कहते हैं-

"रसैश्चानम्ललवणैर्जाङ्गलैर्घृतभर्जितैः। मुद्गादीनां तथा यूषैर्जीवनीयरसान्वितैः"॥[703]

अर्थात् पीड़ित मनुष्य जांगलदेश के प्राणियों के मांसरस का, जिसमें खटाई न डाली हो तथा हल्का नमक डालकर एवं घी द्वारा तलकर भोजन ग्रहण करना चाहिए। वाग्भट ने अन्यत्रस्थान पर इस व्याधि की चिकित्सा करते हुए कहते हैं कि अत्यधिक स्नेहयुक्त भोजन को खा लेने पर जो तृष्णा लगती है, उसमें बर्फ के समान ठण्डे गुड़ का घोल रोगी को पिलाना चाहिए- **"पिबेत्स्निग्धान्नतृषितो हिमस्पर्धि गुडोदकम्"॥[704]** अतः रोगी के लिए औषधियुक्त पेय एवं भोजन में मांसाहार देने का विधान है। परन्तु वर्तमान परिस्थिति में जंगली पशुओं को मारना दण्डनीय अपराध है। इसलिए वैद्य द्वारा मुर्गा, भेड़, बकरी आदि का मांस सेवन करने के लिए रोगी को कहना चाहिए, जो उसके दोषानुसार लाभप्रद हो।

5.5.5 तृष्णाविकार में घृताभ्यंग :- आयुर्वेदज्ञों द्वारा इस व्याधि के होने पर, उसके शरीर पर घी से मालिश करने के लिए भी कहा गया है। चरक द्वारा कथित है कि इस व्याधि के पीड़ित को शतधौत घी से शरीर की मालिश करके, उसे किसी सरोवर या नदी में स्नान करना चाहिए।

---

[702] *च०सं०, चि०* 22/29-30

[703] *अ०हृ०, चि०* 6/65

[704] *अ०हृ०, चि०* 6/80

उसके बाद शीतल किए हुए दूध का सेवन करना चाहिए- **"शतधौतघृतेनाक्तः पयः पिबेच्छीततोयमवगाह्य"**।[705] परन्तु सुश्रुत एवं वाग्भट ने तृष्णाव्याधि से ग्रस्त रोगी को घृताभ्यंग देने का वर्णन नहीं किया है।

5.5.6 तृष्णाविकार में नस्य प्रयोग :- आयुर्वेद में इस व्याधि के रोगी को स्त्री के दूध, ऊँटनी के दूध, गन्ने के रस एवं घी द्वारा नस्य देने का वर्णन प्राप्त होता है। *चरकसंहिता*[706] में वर्णित है कि मधुर, जीवनीय, शीतवीर्य एवं तिक्तरस वाले द्रव्यों से सिद्ध किए गए दूध से निकाले गए घी की रोगी को नस्य देनी चाहिए या स्त्री के दूध में चीनी मिलाकर नस्य देनी चाहिए या ऊँटनी के दूध में चीनी मिलाकर नस्य देनी चाहिए। इसी प्रकार गन्ने के रस का नस्य देने से तृष्णा का शमन होता है।

सुश्रुतसंहिता में रोगी को लिए नस्य कर्म स्वीकार नहीं किया है। परन्तु वाग्भट[707] ने शीतवीर्य द्रव्यों के योग से निर्मित दूध या घी या गन्ने के रस की नस्य रोगी को देने के लिए कहा है। लेकिन वाग्भट ने स्त्री के दूध से नस्य देना स्वीकार नहीं किया है "**नस्यं क्षीरघृतं शीतैरिक्षोस्तथा रसः"**॥ इस विकार में आचार्यों ने रोगी को गन्ने का रस, घी, दूध आदि का नस्य देने के लिए कहा है। सम्भवतः जब रोगी के शरीर में जल की कमी हो जाती है तब उसे यह कर्म करना चाहिए।

---

[705] *च०सं०, चि०* 22/31

[706] तज्जं वाघृतमिष्टं पानाभ्यङ्गेषु नस्यमपि च स्यात्। नारीपयः सशर्करमुष्ट्रया अपि नस्यमिक्षुरसः॥ *च०सं०, चि०* 22/33

[707] *अ०हृ०, चि०* 6/66

5.5.7 तृष्णाविकार में प्रलेप :- इस व्याधि में रोगी के शरीर पर लेप लगाने से भी शान्ति मिलती है। *चरकसंहिता*[708] में इस व्याधि का विवेचन करते हुए कहा गया है कि खट्टा अनार, कैथ का गूदा, लोध, विदारीकन्द और बिजौरानीम्बू का रस, इस सभी द्रव्यों को पीसकर रोगी के सिर पर लेप लगाना चाहिए जिससे मनुष्य को शान्ति मिलती है या नए आँवले को पीसकर, काञ्जी मिलाकर सिर पर लेप लगाने से तृष्णा व्याधि का शमन हो जाता है। रोगी के सिर पर सेवार, कीचड़ और कमल को काञ्जी से पीसकर लेप करना चाहिए या रोगी को घी मिलाकर सत्तू के घोल का सिर पर लेप करने से तृष्णा व्याधि में शान्ति मिलती है। सुश्रुत एवं वाग्भट ने तृष्णाविकार की चिकित्सा में प्रलेप को स्वीकार नहीं करते। सुश्रुत[709] ने कहा है कि मनुष्य को अधिक प्यास लगने पर और आमाशय अन्नादि से पूर्ण हो तो उसे पिप्पली का क्वाथ पिलाकर वमन करना चाहिए। रोगी को अनार आदि अम्ल पदार्थ खाने चाहिए, जिससे उसमें रुचिकर वस्तुओं के प्रति अभिलाषा उत्पन्न होती है। रोगी द्वारा भिन्न-भिन्न औषधियों का लेप सिर पर लगाने से ठण्डक मिलती है।

5.5.8 तृष्णाजन्य तालुशोष में उपचार :- यदि तृष्णा से पीड़ित रोगी बलयुक्त हो और उसके पैरों के तालु सूख रहा हो, तो उसे घी का सेवन करके मद्य पीनी चाहिए या किसी दुर्बल रोगी का तालु सूख रहा हो, तो उसे घी में भुने हुए गोदुग्ध को पीना चाहिए और घी आदि स्नेहों से युक्त मांसरसों का सेवन करना चाहिए। जो रोगी बहुत ही रूक्ष शरीर वाला हो अथवा दुर्बल हो, उसकी तृष्णा को दूध का सेवन शीघ्र ही शान्त कर देता है।

---

708 दाडिमदधित्थलोध्रैः सविदारीबीजपूरकैः शिरसः। लेपो गौरामलकैर्घृतारनालायुतैश्च हितः॥
शैवालपङ्काम्बुरुहैः साम्लैः सघृतैश्च सक्तुभिर्लेपः। *च०सं०, चि०* 22/36-37

709 तृष्णाभिवृद्धावुदरे च पूर्णे तं वामयेन्मागधिकोदकेन्। विलोभनं चात्र हितं स्याद्दाडिमाम्रातकमातुलुङ्गैः॥
सु०सं०, उ० 48/16

अथवा घी में भुने हुए बकरे का मांस जो मधुर, शीतल और रुचिकर हो, उसका सेवन तृष्णा को शान्त कर देता है।[710] अतः पीड़ित द्वारा दूध एवं घी से भुना हुआ मांस का सेवन हितकारक होता है।

5.5.9 पैत्तिक तृष्णाविकार का उपचार :- पैत्तिक तृष्णा में रोगी के लिए औषधियों से युक्त शहद आदि का सेवन हितकारक होता है। *चरकसंहिता*[711] में कहा गया है कि लाल अगहनी चावल, खजूर, फालसा, नीलकमल, मुनक्का और पके हुए मिट्टी के ढ़ेले को डालकर पकाए गए जल को ठण्डा करके तथा उसमें शहद मिलाकर रोगी द्वारा पीने से तृष्णा शान्त हो जाती है या लाल अगहनी का चावल 1 प्रस्थ लेकर कूटना चाहिए और उसे 8 गुणा पानी में भिगाना चाहिए। प्रातःकाल कच्चे मिट्टी के ढ़ेले को आग में तपा-तपा कर उस जल में बुझाना चाहिए। कुछ देर उस जल को छोड़ देना चाहिए और पानी स्थिर होने पर ऊपर से निथार/छान लेना चाहिए, उस जल में शहद मिलाकर मिट्टी के बर्तन में पिलाने के लिए देना चाहिए या छोटे-छोटे कंकड़ और गुरुच डालकर पकाए गए जल का सेवन रोगी को करना चाहिए या क्षीरी वृक्ष, मधुर और शीतवीर्य औषधियों से बनाए गए शीतकषाय में मिट्टी के ढ़ेले को आग में गर्म कर बुझाकर शहद और चीनी मिलाकर पीने से पैत्तिक तृष्णाव्याधि का प्रशमन हो जाता है।

चरकसंहिता में अन्यत्रस्थान पर वर्णित है कि- **पैत्ते द्राक्षाचन्दनखर्जूरोशीरमधुयुतं तोयम्**[712] अर्थात् इस व्याधि में रोगी को मुनक्का, चन्दन, खजूर और खश डालकर पकाए हुए जल को ठण्डा करके शहद मिलाकर पिलाना चाहिए। सुश्रुत ने पैत्तिक तृष्णा की चिकित्सा में उत्पलसारिवादिगण एवं काकोल्यादिगण से युक्त शहद में चीनी मिलाकर रोगी को पीनी के लिए देने के लिए कहा है-

---

[710] *च०सं०, चि०* 22/54-55

[711] *च०सं०, चि०* 22/42-46

[712] *च०सं०, चि०* 22/41

"पित्तघ्नवर्गैस्तु कृतः कषायः सशर्करः क्षौद्रयुतः सुशीतः।

पीतस्तृषां पित्तकृतां निहन्ति क्षीरं शृतं वाऽप्यथ जीवनीयैः"॥[713]

अर्थात् पित्त को नष्ट करने वाले उत्पलसारिवादि तथा काकोल्यादि गणों के कषाय में चीनी एवं मधु मिलाकर ठण्डा कर पिलाने से या जीवनीय एवं काकोल्यादि गण के द्रव्यों से दुग्ध शीतल कर पिलाने से पैत्तिक तृष्णा शान्त हो जाती हैं। वाग्भट[714] ने पैत्तिक तृष्णाव्याधि के उपचार में गूलर के फलरस में मिश्री आदि के सेवन से शमन होता है, इस प्रकार कहा है। रोगी द्वारा पके हुए गूलरों में मिश्री मिलाकर अथवा गूलरों के क्वाथरस को ठण्डा करके अथवा सूखे गूलर के फलों का हिम बनाकर या सारिवादि गण को भिगाकर, उसका पानी पीना चाहिए। इसी प्रकार के अन्य शीतवीर्य द्रव्यों द्वारा बनाए गए, शीतकषायों में मिश्री तथा शहद मिलाकर पीने के लिए रोगी को देना चाहिए या मधुर रस वाले मुलेठी आदि द्रव्यों के अथवा बिजौरा नीम्बू, मुनक्का, बरगद की जटा, बेत के कोमल पत्तों तथा कुश-काश के मूलों को तथा मुलेठी को जल में पकाकर, इनका क्वाथ शीतल होने पर पीने के लिए देना चाहिए। सुश्रुत[715] ने गूलर के पके रस या सारिवादि गण आदि से सभी प्रकार की तृष्णाव्याधि का प्रशमन बताया है। अतः औषधियुक्त जल एवं शहद मिलाकर जल पीने से इस व्याधि में राहत मिलती है।

---

713 *सु०सं, उ०* 48/22

714 पित्तजायां सितायुक्तः पक्वोदुम्बरजो रसः। तत्क्वाथो वा हिमस्ततद्वत्सारिवादिगणाम्बु वा॥
तद्विधैश्च गणैः शीतकषायान् ससितामधून्। मधुरैरौषधैस्तद्वत् क्षीरिवृक्षैश्च कल्पितान्॥
बीजपूरकमृद्वीकावटवेतसपल्लवान्। मूलानि कुशकाशानां यष्ट्याह्वं च जले शृतम्॥ *अ०हृ०, उ०* 6/69-71

715 पर्यागतोदुम्बरजो रसस्तु सशर्करस्तत्क्वथितोदकं वा। वर्गस्य सिद्धस्य च सारिवादेः पातव्यमम्भः शिशिरं तृषार्तैः॥
सु०सं०, उ० 48/22

5.5.10 वात-पित्तज तृष्णाविकार मे उपचार :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में वात-पित्त तृष्णा के लिए दूध एवं घी का प्रयोग करने के लिए कहा है। चरक ने कहा है कि इस व्याधि में जीवनीयगण की औषधियों से क्षीरपाक विधि से सिद्ध दूध तथा क्वाथ एवं कल्क डालकर पकाए गए घी का सेवन करना चाहिए-**"स्याज्जीवनीयसिद्धं क्षीरघृतं वातपित्तजे तर्षे"।**[716] *सुश्रुतसंहिता* में वातपित्त तृष्णाविकार की चिकित्सा का वर्णन नहीं किया गया। *अष्टाङ्गहृदय*[717] में इस व्याधि में रोगी को शीतमन्थ देने के लिए कहा गया है- उपवास करने से या अन्नकाल के बीत जाने के कारण उत्पन्न तृष्णाव्याधि में काल, प्रकृति तथा सात्म्य-असात्म्य का विचार करके रोगी को ठण्ड़ा मण्ड तथा सत्तुओं का घोल पीने के लिए देना चाहिए। इस प्रकार वातपित्तज तृष्णा व्याधि में सिद्ध दूध तथा घी का सेवन लाभप्रद होता है।

5.5.11 तृष्णा की भयानकता :- जिस व्यक्ति को पहले ज्वरविकार आदि रोग हुए हों और वह रोगी दुर्बल हो गया हो, उसे यदि प्यास लगने पर समय पर जल नहीं मिला या तो वह व्यक्ति मर जाता है अथवा वह किसी दीर्घव्याधि से ग्रस्त हो सकता है। इसलिए उस रोगी की प्यास को अनुकूल अन्न-पान तथा औषधियों के प्रयोग से सर्वप्रथम शान्त करने का प्रयास करना चाहिए। प्यास के शान्त हो जाने पर अन्य विकार भी शान्त हो जाते हैं।

5.6.1 ग्रहणीविकार का उपचार :- आयुर्वेदीय साहित्य में ग्रहणी पित्तधरा नामक छठी कला है जो पक्वाशय और आमाशय के बीच में विद्यमान होती है। तात्पर्य यह है कि आमाशय से निकले हुए अपक्व आहार को ग्रहणी ग्रहण करती है, अतएव इसे ग्रहणी कहते हैं। यही कारण है कि ग्रहणी आश्रित व्याधि को भी ग्रहणी विकार कहते हैं। इस ग्रहणी में पित्त तथा क्लोम रस आकर मिलते हैं, ये अग्निगुण प्रधान होते हैं, अतः इस स्थान को 'अग्न्यधिष्ठान' अर्थात् अग्निस्थान भी कहा जाता है। यह व्याधि वात, पित्त एवं कफ त्रिविध दोषों के कारण होती है।

---

[716] *च०सं०, चि०* 22/41

[717] अन्नात्ययान्मण्डमुष्णं हिमं मन्थं च कालवित्। *अ०हृ०, चि०* 6/76

आयुर्वेदीय निदान-चिकित्सा के सिद्धान्त के अन्तर्गत आचार्यों ने अन्य व्याधियों की तरह ग्रहणी में भी सर्वप्रथम संशोधन एवं संशमन का विधान बताया है अर्थात् उपचार करते समय पहले संशोधन एवं संशमन द्वारा दोषों को शान्त करना चाहिए, तदुपरान्त एक एवं अन्य यौगिक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

5.6.2 ग्रहणीविकार में वमन :- आयुर्वेदज्ञों ने ग्रहणीव्याधि में सर्वप्रथम वमन कराने का विधान बताया है। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि इस व्याधि के रोगी को जब विष्टम्भ, मूँह से लार आए, उदरशूल, जलन, अरुचि और भारीपन हो, तब उसे अर्धपक्व अन्न से कुपित वातादि दोषजन्य आम लक्षणों से युक्त ग्रहणीव्याधि जानकर, सुखोष्ण जल पिलाकर वमन करवाना चाहिए या मदनफल के क्वाथ में पीपर और सरसों का चूर्ण मिलाकर पीड़ित को सेवन के लिए देना चाहिए।[718] सुश्रुत[719] ने इस व्याधि में सर्वप्रथम इसी प्रकार के क्रियाक्रम का अवलम्बन करने के लिए कहा है। वाग्भट[720] ने इस व्याधि का उपचार अजीर्णवत् करने का निर्देश दिया है और ग्रहणी में स्थित आमदोष का परिपाक अतिसार में कही गई विधि के अनुसार करना चाहिए। वस्तुतः वातदोष के बढ़ने से जब ग्रहणी रोग में वृद्धि होती है, तब रोगी को वमन कराना चाहिए।

5.6.3 ग्रहणीविकार में विरेचन :- जब आमदोष अनुत्क्लिष्ट अर्थात् बाहर न निकल रहा हो या पक्वाशय में स्थित हो, तब अग्निदीपन द्रव्यों से युक्त विरेचन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। *चरकसंहिता* में ग्रहणीव्याधि की चिकित्सा करते हुए कहा गया है कि "**लीनं पक्वाशयस्थं वाऽप्यामं स्रावयं सदीपनैः"**॥[721]

---

[718] ग्रहणीमाश्रितं दोषं विदग्धाहारमूर्च्छितम्। सविष्टम्भप्रसेकार्तिविदाहारुचिगौरवैः॥
आमालिङ्गान्वितं दृष्ट्वा सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत्। फलानां वा कषायेण पिप्पलीसर्षपैस्तथा॥ *च०सं०, चि०* 15/73-74

[719] क्रिमिगुल्मोदरार्शोघ्नीः क्रियाश्चात्रावचारयेत्। *सु०सं०, उ०* 40/179

[720] ग्रहणीमाश्रितं दोषमजीर्णवदुपाचरेत्। *अ०हृ०, चि०* 10/1

[721] *च०सं०, चि०* 15/75

सुश्रुत ने आमदोष से पीड़ित के लिए विरेचन कराना स्वीकार नहीं किया है। वाग्भट[722] ने ग्रहणीव्याधि का उपचार करते हुए कहा है कि इस रोग में यदि आमदोष हो। तब अतीस एवं सोंठ के चूर्ण से मिश्रित पेया को कुछ खट्टी करके पीने के लिए देना चाहिए और अतिसारव्याधि में निर्दिष्ट जल, मठा एवं सुरा आदि जो रोगी के लिए अनुकूल हो, उसे पीने के लिए देना चाहिए। अतः इस विकार में औषधियुक्त द्रव्य देने पर विरेचन कर्म होता है। जिससे बढ़े हुए दोष मलद्वार से बाहर निकल जाते हैं।

5.6.4 ग्रहणीविकार में लंघन :- इस व्याधि में जब अपक्व अन्नरस समस्त शरीर में व्याप्त हो जाए, तो रोगी को लंघन कराना चाहिए और पाचन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। चरकसंहिता में कहा गया है कि "**शरीरानुगते सामे रसे लङ्घनपाचनम्**"।[723] *सुश्रुतसंहिता* में सम्पूर्ण शरीर में फैले अन्नरस के लिए लंघन कराने का विधान नहीं बताया गया है। लेकिन वाग्भट[724] ने रोगी को लंघन की अपेक्षा लघु आहार देने के लिए कहा है। ग्रहणी रोगी को भूख लगने पर पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चीता की जड़ एवं सोंठ के चूर्ण तथा नमकमिश्रित यवागू आदि सुपच आहार का सेवन करना चाहिए। सम्भवतः लघु आहार दुर्बल रोगी के लिए कहा गया है। भोजन करने के बाद अग्निवर्धक योगों का प्रयोग करना चाहिए। चरक ने वमनादि के शोधन के बाद पञ्चमूल एवं दीपन-पाचन औषधियों का सेवन रोगियों को करने के लिए कहा है।

5.6.5 पैत्तिक ग्रहणीविकार का उपचार :- वातज ग्रहणी के पश्चात् पैत्तिक ग्रहणी की चिकित्सा उपस्थित करते हुए चरक ने कहा है कि पित्तज ग्रहणी में यदि पित्त अपने स्वस्थान पित्तधरा कला या ग्रहणी में स्थित जठराग्नि को मन्द कर दिया हो, तो उसे वमन अथवा विरेचन द्वारा बाहर निकालना चाहिए।

---

722 दद्यात्सातिविषां पेयामामे साम्लां सनागराम्। पानेऽतीसारविहितं वारि तक्रं सुरादि च॥ *अ०हृ०, चि०* 10/3

723 *च०सं०, चि०* 15/74

724 अन्नकाले यवाग्वादि पञ्चकोलादिभिर्युतम्। वितरेत्पटुलघ्वन्नं पुनर्योगांश्च दीपनान्॥ *अ०हृ०, चि०* 10/2 ;
च०सं०, चि० 15/76

"स्वस्थानगतमुत्क्लिष्टमग्निनिर्वापकं भिषक्। पित्तं ज्ञात्वा विरेकेण निर्हरेद्वमनेन वा"॥[725]

चरकसंहिता में वर्णित है कि इस व्याधि में पीड़ित को औषधियुक्त आहार ग्रहण करना चाहिए। रोगी को जलन न पैदा करने वाले, लघुगुणयुक्त आहार में तिक्तरस वाले द्रव्यों को मिलाकर भोजन के रूप में देना चाहिए। उसे जंगली पशु-पक्षियों के मांसरसों, मूँग आदि के यूषों और खडयूषों में अनार का रस मिलाकर, खट्टा करके, दीपन एवं ग्राही औषधियों तथा घी के साथ भोजन कराकर जठराग्नि को दीप्त कराना चाहिए। इसी प्रकार तिक्त घी-महातिक्त घी या अन्य तिक्त द्रव्य-साधित घृतों के सेवन से तथा अग्निवर्धक चूर्णों का सेवन करना चाहिए।[726] सुश्रुत ने भी कहा है कि रोगी में जिस दोष की अधिकता हो, उसी के अनुसार शात्रोक्त पित्तदोष में विरेचन शोधन करने के उपरान्त पञ्चकोलादि दीपनीय द्रव्यों से भली प्रकार संस्कृत पेया, विलेपी, यूष देना चहिए- **यथादोषोच्छ्रयं तस्य विशुद्धस्य यथाक्रमम्। पेयादिं वितरेत् सम्यग्दीपनीयोपसम्भृतम्॥**[727]

अष्टाङ्गहृदय[728] में इस व्याधि के होने पर वमन या विरेचन करने के लिए कहा गया है। जब पित्त द्रवरूप होकर अपनी पाचक शक्ति को नष्ट कर रहा हो, तब उस अग्नि को बुझाने वाले द्रवपित्त को वमन अथवा विरेचन विधियों से निकालना चाहिए। तदुपरान्त उसे तिक्तरस युक्त, जल्दी पचने वाले, मल को बांधने वाले, अग्नि को दीप्त करने वाले, जो विदाहकारक न हों, ऐसे भक्ष्य-भोज्य-पेय पदार्थों से, चूर्णों एवं स्नेहन द्रव्यों से अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए। कडवे, अजीर्णकारक, विदाहकारक, खट्टे तथा क्षारीय पदार्थों द्वारा बढ़ा हुआ पित्तद्रव पाचकाग्नि को उस प्रकार बुझा देता है।

---

[725] *च०सं०, चि०* 15/122

[726] अविदाहिभिरन्नैश्च लघुभिस्तिक्तसंयुतैः। जाङ्गलानां रसैर्यूषैर्मुद्गादीनां खडैरपि॥
दाडिमाम्लैः ससर्पिष्कैर्दीपनग्राहिसंयुतैः। तस्याग्निं दीपयेच्चूर्णैः सर्पिर्भिश्चापि तिक्तकैः॥ *च०सं०, चि०* 15/123-124

[727] *सु०सं०, चि०* 40/177

[728] अग्नेर्निर्वापकं पित्तं रेकेण वमनेन वा।
हृत्वा तिक्तलघुग्राहिदीपनैरविदाहिभिः। अन्नैः सन्धुक्षयेदग्निं चूर्णैः स्नेहैश्च तिक्तकैः॥ *अ०हृ०, चि०* 10/32-33

जिस प्रकार अग्नितत्त्व युक्त खौलता हुआ पानी भी आग को बुझा देता है। अतः पैत्तिक ग्रहणी में वमन या विरेचन दोनों लाभप्रद हैं, परन्तु दोनों कर्म करने से पहले रोगी के बलाबल का ज्ञान होना चाहिए।

5.6.6 पैत्तिक ग्रहणीविकार में चन्दनाद्य घृत :- आयुर्वेदज्ञों ने रोगी को चन्दनाद्य औषधी से निर्मित घी का सेवन करने के लिए कहा है। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि लालचन्दन, पद्मकाठ, खश, पाठा, मूर्वा, केवटीमोथा, मीठा वच, अनन्तमूल, अपराजिता, छितवन की छाल, अरूस, परवर की पत्ती, गूलर की छाल, पीपर की छाल, बड़ की बरोह, पकड़ी की छाल, आमड़ा की छाल, कुटकी, नागरमोथा और नीम की छाल इन सभी द्रव्यों को 2-2 पल लेकर 1 द्रोण जल में क्वाथ करना चाहिए तथा जल चतुर्थांश शेष रहने पर क्वाथ को छान लेना चाहिए। उस क्वाथ में चिरायता, इन्द्रजौ, क्षीरकाकोली, पीपर और कमलपत्र, इनका 1-1 कर्ष कल्क करके डालना चाहिए तथा 1 प्रस्थ गोघृत डालकर विधिवत् पकाना चाहिए एवं उसके तैयार होने पर छानकर रख लेना चाहिए। उस औषधियुक्त घृत का सेवन रोगी को करना चाहिए एवं उसे कुष्ठव्याधि में कथित तिक्तघृतों का सेवन करना चाहिए।[729] वाग्भट[730] ने पैत्तिक ग्रहणीव्याधि में चन्दनाद्य घृत का सेवन पीड़ित के लिए कहा है। इस प्रकार औषधियों से युक्त घी का सेवन पीड़ित के लिए हितकारक सिद्ध होता है।

5.6.7 पैत्तिक ग्रहणीविकार में चूर्ण :- आयुर्वेदीय साहित्य में इस व्याधि में वमन-विरेचन के बाद नागराद्य चूर्ण, भूनिम्बाद्य चूर्ण, वचादि चूर्ण, किरातादि चूर्ण एवं पटोलादि चूर्ण का प्रयोग करने से शमन हो जाता है।

---

[729] *च०सं०, चि०* 15/125-128

[730] *अ०हृ०, चि०* 10/41-45

चरक[731] ने पैत्तिक ग्रहणीव्याधि में पीड़ित को नागराद्य चूर्ण का प्रयोग करने के लिए कहा है- सोंठ, अतीस, धावा का फूल, रसौंत, कोरया की छाल, इन्द्रजौ, बेलगिरी, पाठा एवं कुटकी इन सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण बनाकर रख लेनी चाहिए। इस चूर्ण को उचित मात्रा में शहद के साथ सेवन करना चाहिए और अनुपान में चावल का धोवन पिलाना चाहिए। यदि रोगी के मल में रक्त आता है तब भी इस चूर्ण का सेवन करना चाहिए। वाग्भट ने इस व्याधि में चरकोक्त नागराद्य चूर्ण को स्वीकार किया है।

चरक[732] एवं वाग्भट[733] ने पैत्तिक ग्रहणीव्याधि में चिरायतादि चूर्ण का वर्णन करते हुए कहा है कि चिरायता, कुटकी, नागरमोथा, सोंठ, मरिच और इन्द्रजौ इन द्रव्यों को समान मात्रा में लेना चाहिए, चीते की जड़ के दो भाग और कुटज की छाल के 16 भाग लेकर सबका कपड़छन चूर्ण बना लेना चाहिए। इस चूर्ण को मात्रानुसार गुड़ के शर्बत के साथ रोगी को पीना चाहिए। यह ग्रहणीदोष चिरायता चूर्ण के सेवन से शम हो जाता है। चरक[734] ने अन्यत्रस्थान पर वचादि चूर्ण का सेवन पैत्तिक ग्रहणी के लिए किया है। मीठा बच, अतीस, पाठा, छितवन, रसौंत, सोनापाठा, सुगन्धवाला, सोनापाठा बड़ा (कट्वंग) की छाल, कुटज की छाल, यवासा, दारुहरिद्रा, पित्तपापड़ा, जवायन, मीठा सहजन, परवर के पत्ते, पीली सरसों, जूही की पत्ती, चमेली की पत्ती, जामुन की गुठली, आम की गुठली, बेलगिरी, नीम की पत्ती और नीम के फल इनको समान मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण बना लेना चाहिए। इसका गुड़ के शर्बत के साथ सेवन रोगी को करना चाहिए। इसी प्रकार चरक ने किरातादि चूर्ण का सेवन रोगी द्वारा करना चाहिए।

---

731 नागरातिविषे मुस्तं धातकीं च रसाञ्जनम्। वत्सकत्वक्फलं बिल्वं पाठां कटुकरोहिणीम्॥
पिबेत्समांशं तच्चूर्णं सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना। पैत्तिके ग्रहणीदोषे रक्तं यच्चोपवेश्यते॥ *च०सं०, चि०* 15/129-130
; *अ०हृ०, चि०* 10/39-40

732 *च०सं०, चि०* 15/132-133

733 भूनिम्बकटुकामुस्ताव्यूषणेन्द्रयवान् समान्॥
द्वौ चित्रकाद्वत्सकत्वग्भागान् षोडश चूर्णयेत्। गुडशीताम्बुना पीतं ग्रहणीदोषगुल्मनुत्॥ *अ०हृ०, चि०* 10/37-38

734 *च०सं०, चि०* 15/134-136

सुश्रुत एवं वाग्भट ने पैत्तिक ग्रहणीव्याधि में वचादि चूर्ण एवं किरातादि चूर्ण का वर्णन नहीं किया है। वाग्भट ने इस व्याधि के शमन के लिए पटोलादि चूर्ण का प्रयोग किया गया है। *अष्टाङ्गहृदय*[735] में वर्णित है कि परवल के पत्ते, नीम के पत्ते, त्रायमाणा, कुटकी, चिरायता, पित्तपापड़ा, कुटज की छाल, इन्द्रजौ, मरोड़फली, मीठे सहजन के बीज, बालवच, दारुहल्दी की छाल, पद्मकाष्ठ, खश, अजवायन, नागरमोथा, चन्दन, सौराष्ट्र की मिट्टी, अतीस, व्योष, इलायची, तेजपत्ता एवं देवदारु इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर चूर्ण करके कपड़े से छान लेना चाहिए। रोगी द्वारा इस चूर्ण का सेवन शहद के साथ करना चाहिए, तदुपरान्त अनुपान के रूप में मद्य या जल पीना चाहिए। सम्भवतः जिन रोगियों को वमन या विरेचन नहीं कराया जा सकता, उनके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की चूर्णों का प्रयोग करने के लिए कहा है।

5.7.1 भस्मकविकार का उपचार :- जब मनुष्य के शरीर में कफ की कमी होती है और वायु के साथ पित्त कुपित होता है, तो वह पित्त अपनी ऊष्मा से अग्नि के समीप स्थित होकर जठराग्नि को बल प्रदान करता है। इस प्रकार बल प्राप्त कर वह अग्नि वायु के साथ रूक्ष शरीर में अन्न के गुणों को दबाकर, अपनी तीक्ष्णता से खाए हुए अन्न को बारम्बार शीघ्र पचा देती है। अग्नि पहले किए हुए भोजन को पचाकर रक्त आदि धातुओं को भी पचाने लगती है। फिर धातुओं का पाक होने से शरीर दुर्बल हो जाता है, अनेक प्रकार के विकार शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं और उसकी मृत्यु के मुख में चले जाने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। भोजन कर लेने पर कुछ समय के लिए शान्ति मिलती है और जब भोजन पच जाता है। तब रोगी ग्लानि और व्यग्रता का अनुभव करता है। जठराग्नि की अतिवृद्धि होने से प्यास की अधिकता, श्वासवृद्धि, दाह और मूर्च्छा आदि विकार उत्पन्न होते हैं। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि जिस प्रकार दहकती अग्नि को पानी द्वारा तुरन्त शान्त कर दिया जाता है, उसी प्रकार अत्यग्नि के रोगी को गुरु, स्निग्ध, मधुर और पिच्छिल द्रव्यों का आहार देकर उसकी अग्नि को शान्त करना चाहिए-

---

[735] *अ०हृ०, चि०* 10/34-36

"तमत्यग्निं गुरुस्निग्धशीतैर्मधुरविज्जलैः। अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं दीप्तग्निमिवाम्बुभिः"॥[736]

वाग्भट[737] ने चरकोक्त वर्णन को स्वीकार किया है। रोगी भले ही अजीर्णविकार से युक्त हो, उस अवस्था में भी उसे आहार का सेवन करते रहना चाहिए, जिससे वह बढ़ी हुई अग्नि आहार रूपी ईंधन को न पाकर कहीं रोगीं की मृत्यु न कर दे। जठराग्नि का ईंधन अन्न होता है, अन्यथा वह शरीरस्थ धातुओं को जलाकर रोगी की मृत्यु हो सकती है।[738] इस प्रकार अवस्था में रोगी को अन्न देना आवश्यक है।

5.7.2 भस्मकविकार में आहार :- *चरकसंहिता* में प्रतिपादित है कि रोगी को खीर, तिल, चावल और उड़द की दाल की बनी खिचड़ी, घी-तैल से मिले चावल के आटे के बने पदार्थ, गुड़ डालकर पकाए गए पकवान तथा जल में रहने वाले प्राणियों एवं आनुप पशु-पक्षियों का मांस घी में भूनकर सेवन के लिए देना चाहिए। रोगी को स्थिर जल में रहने वाली मछलियों को खिलाना चाहिए।[739] इसी में अन्यत्रस्थान पर भस्मकव्याधि में आहार का वर्णन किया गया है जो भी आहार द्रव्य रस में मधुर, मेद को बढ़ाने वाला, कफवर्धक और गुरुपाकी होता है, वह इस व्याधि में हितकारक होता है। भोजन के बाद दिन में सोना भी अत्यग्नि विकार में हितकर होता है, क्योंकि भोजन करने के बाद दिन में सोने से कफ की वृद्धि होती है और वह बढ़ा हुआ कफ अग्नि को मन्द बनाता है। इस व्याधि से ग्रस्त जो मनुष्य बिना भूख लगे ही मेदस्वी या मेदजनक अन्न का आहार करता है, वह भस्मक से होने वाले संकट या मृत्यु से ग्रस्त नहीं होता और उसका शरीर पुष्ट रहता है।

---

736 *च०सं०, चि०* 15/221

737 *अ०हृ०, चि०* 10/83

738 मुहुर्मुहुरजीर्णेऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत्। निरिन्धनोऽन्तरं लब्ध्वा यथैनं न विपादयेत्॥ *अ०हृ०, चि०* 10/84
च०सं०, चि० 15/222

739 पायसं कृशरां स्निग्धं पैष्टिकं गुडवैकृतम्।
अद्यात् तथौदकानूपपिशितानि भृतानि च। मत्स्यान् विशेषतः श्लक्ष्णात् स्थिरतोयचरांस्तथा॥ *च०सं०, चि०* 15/223-224
अ०हृ०, चि० 10/85-86

"प्रसमीक्ष्य भिषक् प्राज्ञस्तस्मै दद्याद्विधानवित्। यत्किञ्चिन्मधुरं मेद्यं श्लेष्मलं गुरुभोजनम्॥

सर्वं तदत्यग्निहितं भुक्त्वा प्रस्वपनं दिवा। मेद्यान्यन्नानि योऽत्यग्नावप्रतान्तः समश्नुते"॥[740]

अतः इस व्याधि में कफ को बढ़ाने वाले आहार का सेवन रोगी के लिए लाभप्रद है तथा दोपहर में भोजनोपरान्त एक से दो घण्टे तक सोना भी लाभदायक होता है।

5.7.3 भस्मकविकार में भेड़ के मांस का सेवन :- भस्मकविकार का उपचार करते हुए रोगी को अत्यन्त पुष्ट भेड़ के मांस को भूनकर खाने के लिए देना चाहिए, इससे रोगी को शीघ्र ही शान्ति मिलती है। या रोगी द्वारा भूख लगने पर शहद की मोम मिली यवागू का पान करना चाहिए या केवल घी का सेवन करना चाहिए। *चरकसंहिता* में आहार का विवेचन करते हुए कहा गया है कि-

"आविकं च भृतं मांसमद्यादत्यग्निनाशनम्। यवागूं समधूच्छिष्टां घृतं वा क्षुधितः पिबेत्"॥[741]

परन्तु वाग्भट ने इस व्याधि में उपरोक्त मोम मिली यवागू के सेवन को स्वीकार नहीं किया, अपितु उन्होंने रोगी को प्यास लगने पर मोम मिले हुए गर्म दूध का सेवन या दूध में घी डालकर सेवन करने का निर्देश दिया है- "**पयः सहमधूच्छिष्टं घृतं वा तृषितः पिबेत्"॥**[742] अतः इस विकार में भेड़ का मांस, घी, मोमयुक्त गर्म दूध आदि का सेवन रोगी के लिए हितकारक होता है।

---

[740] *च०सं०, चि०* 15/232-233

[741] *च०सं०, चि०* 15/225

[742] *अ०हृ०, चि०* 10/87

5.7.4 भस्मकविकार में गोधूम पान :- आयुर्वेदज्ञों ने इस व्याधि से पीड़ित को गेहूँ के आटे को घी में भूनकर, उसमें चीनी एवं पानी डालकर तथा मोटा पेय जैसा बनाकर सेवन के लिए देने के लिए कहा है।[743] या रोगी को दोषयुक्त रक्त को सिरावेध निकालने के बाद जीवनीय औषधियों से क्षीरपाक विधि से पकाए गए दूध में चीनी एवं घी मिलाकर सेवन करना चाहिए।

5.7.5 भस्मकविकार में स्नेह प्रयोग :- *अष्टांगहृदय* में इस विकार का विवेचन करते हुए कहा गया है कि रोगी के लिए आनूप देश के पशु-पक्षियों के मांसरस से तैल के अतिरिक्त घृत, वसा एवं मज्जा तीन स्नेहों को पकाकर सेवन करने के लिए देना चाहिए। या गेहूँ के आटे को भूनकर, दूध में डालकर गाढ़ी लपसी बनाकर उसमें घी, वसा और मज्जा मिलाकर रोगी को खाना चाहिए।[744] अतः पीड़ित के लिए स्नेहयुक्त भोजन भी लाभप्रद होता है।

5.7.6 भस्मकविकार में स्त्री दुग्ध एवं गुलर प्रयोग :- आयुर्वेदज्ञों ने भस्मकव्याधि में स्त्री दूध में गूलर की छाल को पीसकर रोगी द्वारा सेवन करने का निर्देश दिया है। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि रोगी को गूलर की छाल को पीसकर स्त्री के दूध में मिलाकर पीना चाहिए या गूलर की छाल का कल्क और स्त्री का दूध डालकर चावल और दूध से बनाई गई खीर खाने के लिए देनी चाहिए। यह रोगी की बढ़ी हुए अग्नि को शम करने के लिए हितकारक है-

"नारीस्तन्येन संयुक्तां पिबेदौदुम्बरीं त्वचम्। ताभ्यां वा पायसं सिद्धमद्यादत्यग्निशान्तये"॥[745]

---

[743] गोधूमचूर्णं पयसा ससर्पिष्कं पिबेन्नरः। *च०सं०, चि०* 15/228, गोधूमचूर्णमन्थं वा व्यधयित्वा सिरां पिबेत्। *च०सं०, चि०* 15/224 ; गोधूमचूर्णं पयसा बहुसर्पिःपरिप्लुतम्॥ *अ०हृ०, चि०* 10/88

[744] आनूपरससिद्धान्वा त्रीन् स्नेहांस्तैलवर्जितान्। पयसा समितां चापि घनां त्रिस्नेहसंयुतम्॥ *च०सं०, चि०* 15/229 ; आनूपरसयुक्तान् वा स्नेहांस्तैलविवर्जितान्। *अ०हृ०, चि०* 10/88

[745] *च०सं०, चि०* 15/230

सुश्रुत एवं वाग्भट ने स्त्रीदूध एवं गूलर से निर्मित दूध का विधान रोगी के लिए नहीं बताया है। इस प्रकार कफदोष के बढ़ जाने पर एवं पित्त और वायु का वैषम्य दूर कर देने पर जठराग्नि सम हो जाती है। वह समाग्नि समधातु पुरुष द्वारा खाए गए अन्न का पाचन उस व्यक्ति की शरीरपुष्टि, आयु तथा बल को बढ़ाने के लिए करती है।

5.8.1 शोथविकार का उपचार :- आयुर्वेदीय साहित्य में शोथ के लिए शोफ, श्वयथु एवं शोथ शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये तीनों शब्द पर्यायवाचक हैं। सर्वप्रथम यह त्रिदोषज विकार है। यदि शोथविकार के उपचार की चर्चा करें, तो रोगी के शारीरिक बल एवं उसके रोग के बल को, रोग के उत्पादक दोष एक या अनेक हैं, साम हैं या निराम आदि कारणों को ज्ञात करना चाहिए। व्याधि के क्रियाकाल को जानने वाला चिकित्सक, व्याधि के जिन कारणों से रोग हुआ हो, व्याधि से सम्बद्ध वात आदि दोष और व्याधि उत्पन्न होने की ऋतु के विपरीत क्रम से साध्य शोथ का उपचार करना चाहिए।

5.8.2 शोथविकार का सामान्य उपचार :- *चरकसंहिता* में विवेचित है कि जब मनुष्य में आमदोष के कारण शोथविकार की उत्पत्ति हुई हो, तब लंघन कराकर और पाचनकारक औषधियों के प्रयोग द्वारा उपचार करना चाहिए अर्थात् आमदोष के कारण होने वाली इस व्याधि में सर्वप्रथम उपवास कराकर रोगी को औषधियों का सेवन करना चाहिए। जब रोगी में दोष उग्ररूप से बढ़े हुए हों, तब वमन-विरेचन आदि के प्रयोग द्वारा संशोधन करके उपचार आरम्भ करना चाहिए। जब रोगी के सिरोभाग में शोथ होता है, तब उसे नस्य के प्रयोग से शिरोविरेचन कराना चाहिए। शरीर के अधोभाग में यदि शोथ हो, तब रोगी को विरेचन द्वारा संशोधन करना चाहिए तथा ऊपरी भाग में शोथ होने पर वमन के प्रयोग से संशोधन करना चाहिए।[746]

---

[746] अथामजं लङ्घनपाचनक्रमैर्विशोधनैरुल्बणदोषमादितः। शिरोगतं शीर्षविरेचनैरधो विरेचनैरूर्ध्वहरैस्तथोर्ध्वजम्॥
च०सं०, चि० 12/17

मनुष्य जब स्निग्ध पदार्थों का अधिक सेवन करता है, तब उससे होने वाले शोथविकार में रूक्षताकारक प्रयोगों से उपचार करना चाहिए। इसी प्रकार जब रूक्ष पदार्थों के अधिक सेवन करने से शोथव्याधि की उत्पत्ति होती है, तब स्निग्ध पदार्थों के सेवन तथा स्निग्धताकारक प्रयोगों से उपचार करना चाहिए। *चरकसंहिता* में शोथविकार की चिकित्सा करते हुए कहा गया है कि "**उपाचरेत् स्नेहभवं विरूक्षणैः प्रकल्पयेत् स्नेहविधिं च रूक्षजे**"।[747] *चरकसंहिता* में अन्यत्रस्थान पर भी विवेचित है कि जब शोथविकार पित्त एवं वातदोष से पैदा हुआ हो, तब रोगी द्वारा तिक्त पदार्थों से सिद्ध किए हुए घी का सेवन करना चाहिए तथा रोगी को मूर्च्छा, बेचैनी, जलन तथा प्यास की अधिकता हो। तब तिक्त पदार्थों से क्षीरपाक विधि से पकाया हुआ दूध पिलाना चाहिए और रोगी का विशोधन कराना आवश्यक प्रतीत होता हो, तब दूध को गोमूत्र के साथ देना चाहिए।[748]

सुश्रुतसंहिता में इस विकार की सामान्य चिकित्सा करते हुए तिल्वक आदि चार घृतों, औषधियुक्त मधु का सेवन, गोमूत्र आदि का सेवन करने के लिए कहा है- उदरविकार के उपचार में वर्णित हरीतकीचूर्णयुक्त घी, महावृक्षयुक्त घी, चव्यचित्रकादि युक्त घी, तिल्वकादि युक्त घृतों में से किसी एक घी का प्रयोग करने से शोथविकार का प्रशमन हो जाता है या रोगी को वमन-विरेचन कराना चाहिए। या रोगी को प्रमेहपीडका उपचार में वर्णित नवायस योग को प्रतिदिन मधु के साथ सेवन के लिए देना चाहिए। या उसे वायविंडग, अतीस, कूटज के फल, देवदारु, सोंठ और मरिच के चूर्ण को गर्म जल के साथ देना चाहिए या सोंठ, मरिच, पीपल, क्षार और लौहभस्म को त्रिफला क्वाथ के साथ देना चाहिए। रोगी को गोमूत्र तथा समभाग में दूध पिलाना चाहिए या हरीतकी चूर्ण को समान मात्रा में गुड़ मिलाकर सेवन करना चाहिए। इसी प्रकार देवदारु चूर्ण और शुण्ठी को या गुग्गुलु को गोमूत्र या पुनर्नवा कषाय के अनुपान से युक्त रोगी को लेना चाहिए।

---

[747] *च०सं०, चि०* 12/18

[748] घृतं तु पित्तानिलजे सतिक्तम्॥ पयश्च मूर्च्छाऽरतिदाहतर्षिते विशोधनीये तु समूत्रमिष्यते। *च०सं०, चि०* 12/19

गुड़ और अदरक या शुण्ठी को बराबर मात्रा में रक्तपुनर्नवा कषाय के अनुपान से युक्त सेवन के लिए देना चाहिए। या पुनर्नवा कल्क और शुण्ठी चूर्ण को दूध के अनुपान से प्रतिदिन एक महीने तक रोगी को सेवन करना चाहिए। अथवा सोंठ, मरिच, पीपल, लाल पुनर्नवा के क्वाथ से सिद्ध घी के साथ मुद्गोलुम्ब खाने को देना चाहिए या पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, मयूर और पुनर्नवा से सिद्ध दूध का सेवन रोगी को करना चाहिए। या उसे लौकी तथा बहेड़े के फल के कल्क को चावल के जल का सेवन कराना चाहिए। इसी प्रकार यवक्षार, पीपल, मरिच, शुण्ठी इन सभी द्रव्यों से सिद्ध, लवण रहित और अल्प स्नेहयुक्त मूँग के यूष को या जौ अथवा गेहूँ के भोज्य पदार्थों को खाने के लिए देना चाहिए। या रोगी को परिषेक के लिए कुटज, आक, करञ्ज, नीम और पुनर्नवा के क्वाथ का प्रयोग करना चाहिए। रोगी के प्रदेह के लिए सरसों, सोंचर और सेंधानमक तथा काकजंघा का प्रयोग करना चाहिए। रोगी के शरीर में दोषानुसार तीव्र वमन, विरेचन, आस्थापन का निरन्तर प्रयोग करना चाहिए। उपचारक द्वारा स्नेहन, स्वेदन एवं उपनाहन का भी बारम्बार प्रयोग करना चाहिए। यदि शोथ उपद्रव रहित हो, तो सिराव्यध द्वारा रक्तविस्रावण भी बारम्बार करना चाहिए।[749]

वाग्भट[750] ने सभी प्रकार के शोथविकार में लंघन करने का निर्देश दिया है। सम्पूर्ण अंगों में फैलने वाले शोथ में तथा वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाले शोथों में आमदोष का सम्बन्ध हो, तो रोगी को उपवास सर्वप्रथम कराना चाहिए। तदुपरान्त उसे हल्का भोजन कराकर सोंठ, अतीस, देवदारु, वायविंडग, इन्द्रजौ, कालीमरिच अथवा हरड़, सोंठ, देवदारु और पुनर्नवा के चूर्ण का सेवन रोगी को गुननुने पानी से करना चाहिए। या उसे नवायस योग का सेवन रोगी को करना चाहिए।

---

[749] *सु०सं०, चि०* 23/11

[750] सर्वत्र सर्वाङ्गसरे दोषजे श्वयाथौ पुरा। सामे विशोषितो भुक्त्वा लघु कोष्णाम्भसा पिबेत्॥
नागरातिविषादारुविडङ्गेन्द्रयवोषणम्। अथवा विजयाशुण्ठीदेवदारुपुनर्नवम्॥
नवायसं वा दोषघ्यः शुद्धयै मूत्रहरीतकीः। वराक्वाथेन कटुकाकुम्भायस्त्र्यूषणानि वा॥
अथवा गुग्गुलु तद्वज्जतु वा शैलसम्भवम्। *अ०हृ०, चि०* 17/1-4

यदि रोगी के शरीर में मलदोष का संग्रह हो गया हो, तो उसकी शुद्धि करने के लिए हरड़ का सेवन गोमूत्र के अनुपान के साथ करना चाहिए अथवा कुटकी, निशोथ, लोहभस्म, सोंठ, मरिच तथा पीपल के चूर्ण का या गुग्गुलु का या शिलाजीत का उचित मात्रा में त्रिफला क्वाथ के साथ रोगी को सेवन करने के लिए देना चाहिए। अतः इस व्याधि में पीड़ित को सर्वप्रथम उपवास कराकर, तदुपरान्त वमन या विरेचन के लिए औषधियों का सेवन कराना चाहिए। परन्तु आचार्यों ने यह नहीं कहा है कि उपवास करने के कितने दिनों के बाद वमन या विरेचन रोगी करवाना है।

5.8.3 वातपित्तज शोथ का उपचार :- आयुर्वेदज्ञों ने वातपित्तज शोथविकार में औषधियुक्त दूध का सेवन करने का विधान बताया है। चरक[751] ने कहा है कि दन्त, निशोथ, सोंठ, मरिच, पीपर और चित्रक का चूर्ण प्रत्येक आधा-आधा पल, 2 प्रस्थ दूध में डालकर पका लेना चाहिए। जब दूध आधा शेष बच जाए, तब उसे छान कर 4-5 बार रोगी को पिलाना चाहिए। या उसे सोंठ और देवदारु के क्वाथ से सिद्ध किया हुआ दूध पिलाना चाहिए या काली निशोथ, एरण्ड की जड़ और मरिच के चूर्ण से क्षीरपाक विधि से सिद्ध किया हुआ दूध सेवन के लिए देना चाहिए या दालचीनी, देवदारु, गदहपुर्ना और सोंठ से पकाया हुआ दूध रोगी को पिलाए या गुरुच, सोंठ एवं दन्तीमूल के कल्क से क्षीरपाक विधि से पकाया हुआ दूध रोगी को सेवन करना चाहिए। चरक ने इस विकार से ग्रस्त व्यक्ति को गाय, भैंस या ऊँटनी के दूध का सेवन करने का निर्देश दिया है-

"सप्ताहमौष्ट्रं त्वथवाऽपि मासं पयः पिबेद् भोजनवारिवर्जी।

गव्यं समूत्रं महिषीपयो वा क्षीराशनो मूत्रमथो गवां वा"॥[752]

---

751 दन्तीत्रिवृत्व्यूषणचित्रकैर्वा पयः शृतं दोषहरं पिबेन्नरः। द्विप्रस्थमात्रं तु पलार्धिकैस्तैरर्धावशिष्टं पवने सपित्ते॥
सशुण्ठिपीतद्रुरसं प्रयोज्यं श्यामोरुबूकोषणसाधितं वा। त्वग्दारुवर्षाभुमहौषधैर्वा गुडूचिकानागरदन्तिभिर्वा॥
च०सं०,चि० 12/24-25

752 *च०सं०,चि०* 12/26

अर्थात् रोगी अन्न और जल पीना छोड़कर एक सप्ताह तक या एक महीने तक केवल ऊँटनी के दूध का सेवन करें। या वह गाय के दूध में गोमूत्र डालकर पिए या भैंस के दूध में गोमूत्र डालकर पिए। या केवल दूध का ही आहार के रूप में प्रयोग करता हुआ औषध के रूप में गोमूत्र का सेवन करता रहे। इस विकार से ग्रस्त व्यक्ति की प्रकृति एवं बल आदि को ध्यान में रखते हुए, उसे मात्र दूध का सेवन भी कराया जा सकता है तथा धीरे-धीरे दूध की मात्रा बढ़ानी चाहिए एवं जब उसे प्यास लगे, उस अवस्था में भी दूध का सेवन कराना चाहिए। *सुश्रुतसंहिता* में उपरोक्त उपचार शोथविकार की चिकित्सा में प्राप्त नहीं होता। परन्तु वाग्भट[753] ने इस विकार में पुरीष में गाँठें पड़ने पर औषधियुक्त दूध का सेवन करने के लिए कहा है- रोगी को जब इस व्याधि में पुरीष में गाँठें पड़ने लगे तब सोंठ, मरिच, पीपल, निशोथ, दन्ती की जड़ और चित्रकमूल इन सभी के कल्क से दूध पकाना चाहिए तथा मात्र दूध शेष रहने पर छान लेना चाहिए। इसे रोगी को सेवन के लिए देना चाहिए। या उसे गाय का अथवा भैंस के मूत्र दूध के समान भाग में मिलाकर पिलाना चाहिए तथा उसे अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिए अथवा दूध का ही भोजन करना चाहिए या 7 दिन से एक महीने तक ऊँटनी का दूध पीना चाहिए। चरक केवल दूध में गाय के मूत्र को मिलाने का विधान बताते है परन्तु वाग्भट ने भैंस के मूत्र को भी दूध में मिलाकर रोगी को देने के लिए कहा है। अतः इस प्रकार चरक व वाग्भट औषधियुक्त दूध का सेवन रोगी को करने के लिए कहते हैं।

5.8.4 पैत्तिक शोथविकार में तैल और प्रदेह :- इस विकार में रोगी को औषधियों के साथ-साथ बाह्य उपचार भी किया जाता है जिससे पीड़ित शीघ्र स्वस्थ हो सके। *चरकसंहिता* में पैत्तिक शोथव्याधि से ग्रस्त व्यक्ति की चिकित्सा परिलक्षित करते हुए कहा है कि-

---

753 निरामो बद्धशमलः पिबेच्छ्वयथुपीड़ितः। त्रिकटुत्रिवृतादन्तीचित्रकैः साधितं पयः॥
मूत्रं गोर्वा महिष्या वा सक्षीरं क्षीरभोजनः। सप्ताहं मासमथवा स्यादुष्ट्रक्षीरवर्तनः॥ *अ०हृ०, चि०* 17/9-10

"सवेतसाः क्षीरवतां द्रुमाणां त्वचः समञ्जिलष्ठलतामृणालाः।

सचन्दनाः पद्मकवालकौ च पैत्ते प्रदेहस्तु सतैलपाकः"॥[754]

अर्थात् वेंत, वट, पीपल आदि दूधवाले वृक्ष की छाल, मजीठ, कमलनाल, सफेद चन्दन, पद्मकाष्ठ और सुगन्धबाला इन सभी द्रव्यों के क्वाथ और कल्क से विधिवत् तैल पकाना चाहिए। इस तैल की रोगी द्वारा मालिश करनी चाहिए तथा इन्हीं द्रव्यों को बारीक पीसकर शोथ वाले स्थान पर लेप लगाना चाहिए। इस प्रकार रोगी द्वारा शोथवाले स्थान की मालिश करके, तदुपरान्त स्नान कर लेना चाहिए। पूर्वोक्त तैल की शरीर पर मालिश करके सूर्य की किरणों से गर्म किए गए सफेदचन्दन, खश और पद्मकाष्ठ के कल्क को घोलकर उससे रोगी द्वारा स्नान करना लाभदायक होता है। इसी तरह दूधवाले वृक्षों के क्वाथ से स्नान करना हितकर होता है और पानी एवं दूध को एक साथ मिलाकर, उसके साथ स्नान करना भी लाभदायक होता है। स्नान के पश्चात् सम्पूर्ण शरीर में सफेदचन्दन का लेप लगाना चाहिए।[755] वाग्भट[756] ने भी इस व्याधि के होने पर बाह्य उपचार में लेप लगाने का निर्देश दिया है। रोगी के शरीर के किसी अंग विशेष के शोथ को एकांग शोथ कहते हैं वह किसी भी अंग में हो सकता है।

उसमें लालपुनर्नवा, कनेर के पत्ते, ढाक के फूल, इन्द्रायण की जड़, हरड़, बहेड़ा, आँवला, पठानीलोध, नलिका, देवदारु वृक्ष का सारभाग, हींस की जड़, कड़वी तोरई, अतीस, तालपर्णी, अरणी की छाल, बड़ी मकोय, शाल की आल, गन्धनाकुली, अडूसा के पत्ते, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, माषपर्णी, ऋद्धि, वृद्धि और हस्तिकर्ण के पत्ते इन सभी औषधियों को एक साथ पीसकर गुनगुना लेप शरीर पर लगाना चाहिए। यह लेप शोथविकार को शान्त करता है।

---

754 *च०सं०, चि०* 12/68

755 आक्तस्य तेनाम्बु रविप्रतप्तं सचन्दनं साभयपद्मकं च। स्नाने हितं क्षीरवतां कषायः क्षीरोदकं चन्दनलेपनं च॥ *च०सं०, चि०* 12/69

756 *अ०हृ०, चि०* 17/25-27

सुश्रुतसंहिता में पैत्तिक शोथविकार में बाह्य उपचार का वर्णन प्राप्त नहीं होता। परन्तु वाग्भट[757] ने दूध से स्नान करने का विधान तो नहीं बताया। लेकिन औषधियुक्त स्नान का विधान बताया है। इस व्याधि की चिकित्सा का वर्णन करते हुए कहा है कि छरीला, कूठ, थुनेर, रेणुका, अगरु, पद्मकाष्ठ, गन्धाविरोजा, नाखूना, असवर्ग, देवदारु, फूलप्रियंगु, जटामांसी, पीपल, नेपाली धनियाँ, सुगन्धितृण, नेत्रबाला, दालचीनी, बड़ी इलायची, तेजपत्ता, नागकेसर, तालीसपत्र, नागरमोथा और गन्धपलाशी। इन सभी द्रव्यों के योग से पकाए गए तेल का प्रयोग अभ्यंग, लेप तथा इन्हीं द्रव्यों द्वारा पकाए गए जल का स्नान के लिए प्रयोग करना चाहिए। *अष्टाङ्गहृदय* में अन्यत्रस्थान पर कहा गया है रोगी को नीम की छाल, पुनर्नवा, करंज तथा आक के पत्तों के क्वथित जल से स्नान करना चाहिए। अतः इस विकार में औषधियुक्त तैल की मालिश, औषधयुक्त द्रव्यों का लेप, दूधयुक्त जल में स्नान आदि रोगी के लिए हितकारक होते हैं।

5.8.5 शोथविकार में पथ्यापथ्य :- इस व्याधि में रोगी के लिए कुछ औषधियों से निर्मित आहार का सेवन एवं कुछ आहार वर्जित है तथा आयुर्वेदज्ञों ने साथ ही रोगी को मांस का सेवन करने का विधान भी बताया है। *चरकसंहिता*[758] में इस व्याधि का उपचार करते हुए कहा गया है कि पीपर का कल्क डालकर पकाया गया कुलथी का यूष या सोंठ, मरिच, पीपर और जवाखार डालकर सिद्ध किया हुआ मूँग का यूष या विष्किर पक्षी और जंगली पशु-पक्षियों का मांसरस अथवा कछुआ, गोहटी, मोर एवं शाही का मांसरस इस व्याधि से ग्रस्त व्यक्ति के लिए लाभप्रद होता है। यदि रोगी मांस का सेवन नहीं कर सकता है, उसके लिए हुरहुर की पत्ती का शाक, परवल, मकोय, मूली, बेंत की फुनगी और नीम के कोमल पत्तों का शाक लाभदायक होता है।

---

[757] *अ०हृ०, चि०* 17/22-24

[758] कुलत्थयूषश्च सपिप्पलीको मौद्गश्च सव्यूषणयावशूकः। रसस्तथा विष्किरजाङ्गलानां सकूर्मगोधाशिखिल्लकानाम्॥
सुवर्चला गृञ्जनकं पटोलं सवायसीमूलकवेत्रनिम्बम्। शाकार्थिनां शाकमिति प्रशस्तं भोज्ये पुराणश्च यवः सशालिः॥
च०सं०, चि० 12/62-63

यदि रोगी भोजनरूप में एक वर्ष से पुराना जौ या अगहनी का चावल सेवन करता है, वह बहुत हितकारक भोज्य है। यह शोथव्याधि में उत्तम पथ्य होता है।

चरक ने इस व्याधि में रोगी को पथ्य का सेवन करने के साथ ही अपथ्य का विधान बताया है। इस विकार से ग्रस्त व्यक्ति को ग्रामीण, जलीय या आनूप प्रदेश के पशु-पक्षियों का मांस, निर्बल पशुओं का मांस, सूखा शाक, नया अन्न, गुड़ के बनाए गए पदार्थ, चावल के आटे से बने पदार्थ, दही, तिल के बने पदार्थ का सेवन नहीं करना चाहिए। उसे चिकने पदार्थ, मदिरा, खट्टे पदार्थ, अंकुरित भुने हुए जौ सूखा मांस, पथ्य-अपथ्य पदार्थों को एक साथ मिलाकर खाना, गुरु पदार्थ, असात्म्य पदार्थ, जलन उत्पन्न करने वाले पदार्थ तथा दिन में सोना और स्त्री प्रसंग करना छोड़ देना चाहिए।

"ग्राम्याब्जानूपं पिशितमबलं शुष्कशाकं नवान्नं गौडं पिष्टान्नं तिलकृतं विज्जलं मद्यमम्लम्।

धाना बल्लूरं समशनमथो गुर्वसात्म्यं विदाहि स्वप्नं चारात्रौ श्वयथुगदवान् वर्जयेन्मैथुनं च"॥[759]

सुश्रुत ने इस व्याधि के उपचार करते हुए पथ्य का वर्णन किया गया है लेकिन वर्जित आहार-विहार का वर्णन अवश्य किया है। *सुश्रुतसंहिता* में वर्णित है कि "**शोफिनः सर्व एव परिहरेयुः अम्ललवणदधिगुडवसापयस्तैलघृतपिष्टमयगुरूणि**"[760] अर्थात् शोथव्याधि से पीड़ित सभी रोगियों को खट्टे पदार्थ, लवण, दही, गुड़, वसा, दूध, तैल, घी और आटे के बने भारी पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए। सुश्रुत ने अन्यत्रस्थान पर भी शोथविकार से ग्रस्त पीड़ित के लिए आहार-विहार बताए हैं यथा पीठी के बने अन्न पदार्थ, मिट्टी, दिन में सोना, जंगली प्राणियों के अतिरिक्त अन्य प्राणियों का मांस, स्त्री सेवन एवं भारी पदार्थ का त्याग करने से शोथविकार का प्रशमन होता है।

---

[759] *च०सं०, चि०* 12/20

[760] *सु०सं०, चि०* 23/9

वाग्भट[761] ने त्याज्य आहार का वर्णन तो नहीं किया है परन्तु पथ्य आहार-विहार का वर्णन चरकोक्त ही स्वीकार किया है। अतः रोगी को पथ्याहार का सेवन एवं अपथ्याहार-विहार का त्याग करना चाहिए।

5.9.1 **मूर्च्छाविकार का उपचार** :- *चरकसंहिता* में इस विकार का विवेचन सूत्रस्थान में किया गया है। इस व्याधि का निदान एवं उपचार एक स्थान पर किया है। *सुश्रुतसंहिता* में इस व्याधि का उपचार उत्तरतन्त्र में किया है एवं *अष्टांगहृदय* में मदात्ययादि अध्याय में विवेचन किया गया है। आयुर्वेदज्ञों ने सर्वप्रथम इस व्याधि को बढ़ाने वाले हेतुओं का परिवर्जन करने के लिए कहा है।

5.9.2 **मूर्च्छाविकार का सामान्य उपचार** :- यह व्याधि वस्तुतः पित्तदोष के प्रकुपित होने से होती है। अतः इस व्याधि में पित्तदोष को शान्त करने वाली चिकित्सा करनी चाहिए। *अष्टांगहृदय*[762] में विवेचित है कि- **मदेषु वातपितघ्नं प्रायो मूर्च्छासु चेष्यते। सर्वत्रापि विशेषेण पित्तमेवोपलक्षयेत्**॥ अर्थात् मद एवं मूर्च्छा व्याधि में वातपित्तशामक उपचार करना चाहिए। विशेषतया सभी प्रकार की मूर्च्छा व्याधियों में पित्तशामक उपचार पर ही ध्यान देना चाहिए। चरक इस व्याधि में पञ्चकर्म करने के लिए कहते हैं क्योंकि पञ्चकर्मों से त्रिविध दोषों का निसरण आसानी से हो जाता है। *चरकसंहिता*[763] में मूर्च्छाविकार का विवेचन करते हुए कहा गया है कि इस व्याधि से पीड़ित मनुष्यों को सर्वप्रथम स्नेहन तथा स्वेदन कराना चाहिए, तत्पश्चात् दोषानुसार व बलानुसार पञ्चकर्मों को कराना चाहिए। सुश्रुत ने कहा है कि यदि रोगी को मूर्च्छा बार- बार आती हो, उस अवस्था में तीक्ष्ण शिरोविरेचन तथा वमन कराना चाहिए।

---

[761] *अ०हृ०, चि०* 17/17-19

[762] *अ०हृ०, चि०* 7/100

[763] *च०सं०, सू०* 24/54

5.9.3 मूर्च्छाविकार में पेय एवं घृत सेवन :- इस व्याधि में वैद्यों ने होश में आने के बाद स्वरस देने के लिए कहा है तथा औषधियुक्त घी का सेवन करने के लिए कहा है। प्रायः घी के सेवन से बढ़े हुए पित्त का शमन हो जाता है। *सुश्रुतसंहिता*[764] में कहा गया है कि रोगी को शर्करा, चिरौंजी और गन्ने के रस से युक्त व मुनक्का, महुवा से स्वरस से युक्त द्रव देने चाहिए। रोगी को औषधियों से सिद्ध घी का सेवन रोगी को कराना चाहिए। चरक ने स्वरस का सेवन नहीं बताया है, रोगी को औषधिसिद्ध घी का सेवन करने के लिए कहा है एवं वाग्भट ने औषधिसिद्ध घी का प्रयोग मधु एवं मिश्री मिलाकर करने के लिए कहा है। चरक एवं वाग्भट[765] दोनों इस व्याधि में रोगी को शिलाजीत का सेवन करने के लिए कहते है।

5.9.4 मूर्च्छाविकार में औषधोपचार :- इस व्याधि में रोगी को औषधियों का दूध का सेवन करने के लिए कहा है। चरकसंहिता[766] में वर्णित है कि रोगी को दूध का प्रयोग, दूध के साथ पिप्पली चूर्ण का प्रयोग, दूध के साथ चित्रक चूर्ण का प्रयोग उत्तम होता है। सुश्रुत[767] ने रोगी को मधुरादि द्रव्य से सिद्ध दूध तथा औषधियों को शीतल जल में सेवन करने देने के लिए कहा है- इस व्याधि में नागकेसर, मरिच, खश और बेर की गिरी सभी पदार्थों को समान मात्रा में शीतल जल से पीना चाहिए। या बिस, कमलनाल के कल्क को शीतल जल से पीना चाहिए और पिप्पली चूर्ण, शर्करा तथा हरीतकी चूर्ण को 1 ग्राम मधु में मिलाकर पीना चाहिए। वाग्भट ने इस व्याधि का विवेचन करते हुए रोगी को स्त्रीदूध का सेवन करने के लिए कहा है यदि रोगी मूर्च्छित पड़ा हो, उस समय उसके मुख तथा नासिका के छिद्रों को कुछ समय के लिए बन्द कर दें, इससे वह तुरन्त होश में आ जाएगा।

---

764 *सु०सं०, उ०* 46/15

765 शिलाजतुप्रयोगो वा, *च०सं०, सू०* 24/56 ; शिलाह्वं वा, *अ०हृ०, चि०* 7/104

766 प्रयोगः पयसोऽपि वा। पिप्पलीनां प्रयोगो वा पयसा चित्रकस्य वा। *च०सं०, सू०* 24/57

767 भुजङ्गपुष्पं मरिचान्युशीरं कोलस्य मध्यं च पिबेत् समानि। शीतेन तोयेन बिसं मृणालं क्षौद्रेण सितया च पथ्याम्॥ *सु०सं०, उ०* 46/17

रोगी द्वारा होश में आने पर उसे बर्तन में निकाला हुआ स्त्री का दूध पिलाएं और उसी दूध की नस्य भी दें।[768] रोगी के शरीर पर शीतल चन्दन, कमल आदि से बनाए गए लेप लगाने चाहिए, उसे ठण्डे पंखे की हवा, ठण्डे पेय देने चाहिए। उसे अनाररस के साथ जंगली पशुओं का मांसरस, जौ, शालिचावल एवं मटर आहार रूप में देने चाहिए। जिससे रोगी के बढ़े हुए दोष शनैः शनैः शान्त हो जाते हैं।

5.10.1 उदरविकार का उपचार :- आचार्यों ने उदरव्याधि में सर्वप्रथम योजनापूर्वक निदान परिवर्जन करने के लिए कहा है। सभी उदरविकार त्रिदोष की विकृति से उत्पन्न होते है अतः सभी विकारों में त्रिदोष को शान्त करने वाले उपचार करने चाहिए। उदर में प्रकुपित दोषों से आक्रान्त हो जाने पर अग्नि मन्द हो जाती है। अतः अग्नि को उद्दीप्त करने वाला और शीघ्र पच जाने वाला हल्का भोजन रोगी को देना चाहिए। *चरकसंहिता* में उदरविकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "**सर्वमेवोदरं प्रायो दोषसङ्घातजं मतम्। तस्मात् त्रिदोषशमनीं क्रियां सर्वत्र कारयेत्"॥**[769]

5.10.2 उदरविकार में दुग्धपान :- आयुर्वेदीय संहिताओं में इस व्याधि से ग्रस्त मनुष्य को सर्वप्रथम दूध का सेवन करने के लिए कहा गया है। चरक ने इस विकार का उपचार करते हुए कहा है कि ''**शोफानाहार्तितृण्मूर्च्छापीडिते कारभं पयः"**[770] अर्थात् जो उदरव्याधि से ग्रस्त रोगी शोथ, आनाह, पीड़ा, तृष्णा और मूर्च्छा से पीड़ित हो, उसे ऊँटनी का दूध ग्रहण करना चाहिए। जिन रोगियों का वमन-विरेचनादि के द्वारा संशोधन कर दिया गया हो और जिनका शरीर दुर्बल हो, उन्हें गाय, भैंस या बकरी का दूध पीना चाहिए।

---

[768] प्रसक्तवेगेषु हितं मुखनासावरोधनम् ॥ पिबेद्वा मानुषीक्षीरं तेन दद्याच्च नावनम्। *अ०हृ०, चि०* 7/104-105

[769] *च०सं०, चि०* 13/95

[770] *च०सं, चि०* 13/107

सुश्रुत[771] ने इस विकार में रोगी को गाय, भैंस एवं ऊँटनी के दूध का सेवन करने के लिए कहा है। *सुश्रुतसंहिता* में वर्णित है एरण्ड तैल को गोमूत्र या दूध के साथ प्रतिदिन एक या दो महीने तक रोगी द्वारा ग्रहण करना चाहिए। इस दौरान रोगी द्वारा जल का सेवन नहीं करना चाहिए या रोगी द्वारा बिना कुछ खाए भैंस के मूत्र को दूध के साथ सात दिन तक पीना चाहिए अथवा ऊँटनी के दूध को पन्द्रह दिनों तक ग्रहण करना चाहिए। अन्न एवं जल का परित्याग कर देना चाहिए।

अष्टाङ्गहृदय[772] में इस व्याधि में दूध की प्रशंसा करते हुए कहा गया है "**पूर्ववच्च पिबेद्दुग्धं क्षामः शुद्धोऽन्तराऽन्तरा कारभ गव्यमाजं वा"** अर्थात् पहले की तरह संशोधन कराने के बाद शुद्ध कोष्ठ वाले तथा दुर्बल रोगी को पीने के लिए जांगल देश के प्राणियों का मांसरस के मध्य में ऊँटनी, गाय या बकरी का दूध देना चाहिए। अतः सर्वप्रथम इस व्याधि में गाय, भैंस, बकरी या ऊँटनी के दूध का सेवन करना चाहिए। वस्तुतः देशकालानुसार जिस पशु का दूध सुलभ हो, वह पीने के लिए देना चाहिए।

5.10.3 उदरविकार में घृतपान :- आयुर्वेदज्ञों ने इस व्याधि में रोगी को घृत का सेवन करने के लिए भी कहा है, जिसका सेवन करने के उपरान्त रोगी का वमन-विरेचन कराया जा सकता है। आयुर्वेदीय उपचारक घृत के सेवन करने से पहले रोगी के बलाबल को ध्यान रखने का विचार अवश्य करने के लिए कहते हैं। *चरकसंहिता*[773] में कहा गया है कि 1 प्रस्थ घी को 4 प्रस्थ जल में, 2 प्रस्थ गोमूत्र, चित्रकमूल तथा यवक्षार का कल्क 1-1 पल डालकर पकाना चाहिए और तैयार होने पर सुरक्षित छानकर रख लेना चाहिए।

---

771 एरण्डतैलमहरहर्मासं द्वौ वा केवलं मूत्रयुक्तं क्षीरयुक्तं वा सेवेतोदकवर्जी, माहिषं वा मूत्रं क्षीरेण निराहारः सप्तरात्रम्, उष्ट्रीक्षीराहारो वाऽन्नवारिवर्जी। *सु०सं०, चि०* 14/10

772 *अ०हृ०, चि०* 15/131

773 चतुर्गुणे जले मूत्रे द्विगुणे चित्रकात् पले। कल्के सिद्धं घृतप्रस्थं सक्षारं जठरी पिबेत्॥
यवकोलकुलत्थानां पञ्चमूलरसेन च। सुरासौवीरकाभ्यां च सिद्धं वाऽपि पिबेद् घृतम्॥ *च०सं०, चि०* 13/116-117

उदरव्याधि से ग्रस्त मनुष्य को इस घी की 5-10 ग्राम मात्रा का सेवन प्रतिदिन करना चाहिए। या उसे 1प्रस्थ घी में जौ, खट्टी बेर और कुलथी का 1-1 पल कल्क, बृहत्पञ्चमूल का क्वाथ 2 प्रस्थ, सुरा 1 प्रस्थ तथा काँजी 1 प्रस्थ डालकर विधिवत् घी को पकाना चाहिए। इस घी को रोगी द्वारा सेवन करना चाहिए।

सुश्रुत ने उदरव्याधि में चरकोक्त घी को स्वीकार नहीं किया है। वाग्भट ने औषधियुक्त घी का सेवन रोगी को करने के लिए कहा है। *अष्टाङ्गहृदय* में वर्णित है कि गाय का दूध 1 द्रोण तथा आधा प्रस्थ सेहुण्ड का दूध इन्हें एक साथ पकाकर, उनकी दही जमा लेनी चाहिए। उसे मथकर घी प्राप्त करके, उसी घी में चतुर्थांश निशोथ का कल्क मिलाकर घृतपाक करना चाहिए। या रोगी को 1 प्रस्थ गाय के घी को 8 गुणा गाय के दूध में मिलाकर उसमें एक पल सेहुण्ड का दूध तथा 6 पल निशोथ का कल्क मिलाकर यथाविधि घृतपाक करना चाहिए तथा उदरव्याधि से पीड़ित मनुष्य को सेवन के लिए देना चाहिए।[774] इसलिए रोगी के लिए बलाबल देखकर औषधियुक्त घी के सेवन से विरेचन कराना चाहिए।

5.10.4 पैत्तिक उदरविकार का उपचार :- पैत्तिक उदरविकार के रोगी को आयुर्वेदीय साहित्य में विरेचन कराने का विधान बताया गया है चाहे रोगी दुर्बल हो उसका भी विरेचन करने के लिए कहा है। *चरकसंहिता*[775] में उदरविकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यदि इस व्याधि से ग्रस्त रोगी बलवान् हो तो उसे सर्वप्रथम विरेचन ही कराना चाहिए। यदि रोगी बलहीन हो, तब भी पहले उसे अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। तदुपरान्त दूध से युक्त बस्ति देकर उस पीड़ित का संशोधन करना चाहिए।

---

774 क्षीरद्रोणं सुधाक्षीरप्रस्थार्धसहितं दधि।
जातं मथित्वा तत्सर्पिस्त्रिवृत्सिद्धं च तद्गुणम्। तथा सिद्धं घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पिबेत्॥
स्नुक्क्षीरपलकल्केन त्रिवृताषट्पलेन च। *अ०हृ०, चि०* 15/32-34

775 पित्तोदरे तु बलिनं पूर्वमेव विरेचयेत्। दुर्बलं त्वनुवास्यादौ शोधयेत् क्षीरवस्तिना॥
सञ्जातबलकायाग्निं पुनः स्निग्धं विरेचयेत्। पयसा सत्रिवृत्कल्केनोरुबूकशृतेन वा॥
सातलात्रायमाणाभ्यां शृतेनारग्वधेन वा। *च०सं०, चि०* 13/68-70

जब पैत्तिक उदर के रोगी का शोधन हो गया हो, उसके बाद उसे समुचित पथ्य आहार का ग्रहण कराकर एवं बलयुक्त तथा अग्नि दीप्त बनाकर, तब उस रोगी का स्नेहन करके पुनः विरेचन कराना चाहिए। पीड़ित को विरेचन के लिए सफेद निशोथ के कल्क से सिद्ध किए हुए दूध का सेवन या एरण्ड तैल डालकर पकाए हुए दूध को ग्रहण करवाना चाहिए या सेहुँड़ और त्रायमाणा के कल्क से सिद्ध दूध पीने के लिए देना चाहिए या अमलतास के कल्क से सिद्ध दूध पिलाकर विरेचन करवाना चाहिए।

सुश्रुत[776] ने इस व्याधि में सर्वप्रथम रोगी को औषधियों से युक्त घी से विरेचन कराने का निर्देश दिया है। इससे पीड़ित को काकोल्यादि मधुर गण की औषधियों से सिद्ध घी से स्निग्ध करके, उसे श्यामा, हरड़, बहेड़ा, आँवला, निशोथ से सिद्ध घी से विरेचन कराना चाहिए। तदुपरान्त शर्करा, शहद और घी से युक्त न्यग्रोधादि गण की औषधियों के कषाय से आस्थापन एवं अनुवासन बस्तियाँ देनी चाहिए। रोगी के पेट को खीर से सेंकना चाहिए तथा उसको विदारिगन्धादि द्रव्यों से सिद्ध दूध को ग्रहण कराना चाहिए।

वाग्भट[777] ने कहा है कि रोगी में दोषों का अधिक संचय हो जाने के कारण तथा स्रोतों के मार्गों के अवरुद्ध हो जाने के कारण उदरव्याधि की उत्पत्ति होती है अतः सर्वप्रथम रोगी का प्रतिदिन विरेचन करना चाहिए। इन्होंने चरकोक्त विरेचन को ही स्वीकार किया है, लेकिन गाय के दूध के साथ-साथ विरेचनार्थ भैंस एवं ऊँटनी का दूध का सेवन करने के उपरान्त विरेचन कराने का निर्देश दिया है। जैसा कि पटोलमूलादिचूर्ण में कहा गया है। दुर्बल रोगियों को विरेचन कराने के लिए हरीतकी घृत एवं स्नुहीक्षीर घृत स्नेहों का सेवन करवाना चाहिए।

---

776 पित्तोदरिणं तु मधुरगणविपक्वेन सर्पिषा स्नेहयित्वा, श्यामात्रिफलात्रिवृद्धिपक्वेनानुलोम्य, शर्करामधुघृतप्रगाढ़ेन न्यग्रोधादिकषायायेणास्थापयेदनुवासयेच्च, पायसेनोपनाहयेदुदरं, भोजयेच्चैनं विदारिगन्धादिसिद्धेन पयसा॥
सु०सं०, चि० 14/6

777 *अ०हृ०, चि०* 15/1-3
अ०हृ०, चि० 15/59-65

चरकसंहिता[778] में वर्णित है कि यदि पित्तज उदरव्याधि में कफदोष का अनुबन्ध हो, तब गोमूत्र से युक्त दूध का सेवन करना चाहिए और वातदोष का अनुबन्ध हो तो तिक्तघृत मिला हुआ दूध पिलाकर विरेचन कराना चाहिए। इस प्रकार संशोधन के बाद पेया आदि क्रम से पथ्य देकर पुनः शरीर में बल लाने के लिए दूध ग्रहण करना चाहिए और रोगी में बल आ जाने पर पुनः बस्ति कर्म और विरेचन का प्रयोग करना चाहिए। अतः क्रमानुसार पुनः-पुनः दूध का सेवन एवं फिर विरेचन का प्रयोग कराते हुए पैत्तिक उदरव्याधि का उपचार सफलता के साथ करना चाहिए। वाग्भट[779] ने स्वीकार किया है कि रोगी को घृतों का सेवन कराने के बाद पेया, मांसरस या मिश्रीयुक्त दूध पिलाना चाहिए। उसे हरीतकी एवं स्नुहीक्षीर घृत में से किसी एक का सेवन तीन दिन तक करना चाहिए। तदुपरान्त जब रोगी का उदर खाली हो जाए, तब उसे पेया आदि खिलाकर फिर से बारम्बार विरेचनकारक घृतों का सेवन कराते रहना चाहिए। अतः पीड़ित मनुष्य को बारम्बार विरेचन कराने का विधान बताया है, साथ ही बलवर्धक भोजन देने का विधान भी है।

5.10.5 पैत्तिक उदरविकार में तक्रपान :- आयुर्वेदज्ञों ने इस व्याधि में रोगी को तक्र पीने के लिए भी कहा है। रोगी को ऐसा तक्र देना चाहिए, जो बहुत गाढ़ा न हो तथा उसका स्वाद मधुर हो और जिसमें से मक्खन निकाल लिया गया हो। *चरकसंहिता* में इस विकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "**शर्करामधुकोपेतं स्वादु पित्तोदरी पिबेत्**"[780] अर्थात् चीनी एवं मुलहठी का चूर्ण मिलाकर मीठा किया हुआ तक्र रोगी को सेवन करना चाहिए। सुश्रुत ने किसी भी प्रकार की उदरव्याधि से पीड़ित व्यक्ति के लिए मट्ठा पीने का वर्णन नहीं किया। वाग्भट[781] ने इस व्याधि में रोगी को मट्ठा पीने के लिए कहा है।

---

778 *च०सं, चि०* 13/70-71

779 *अ०हृ०, चि०* 15/34, 36

780 *च०सं०, चि०* 13/103

781 पित्ते सोषणशर्करम्। *अ०हृ०, चि०* 15/127

पित्तज उदरव्याधि में काली मिर्च का चूर्ण तथा चीनी मिलाकर मट्ठा रोगी को पीना चाहिए। शरीर में भारीपन, अरोचक, आनाह, मन्दाग्नि, वातरोग तथा कफव्याधि से पीड़ित मनुष्यों के लिए तक्र का सेवन अमृत के समान लाभप्रद होता है। अतः इस विकार में रोगी द्वारा मट्ठा पीना हितकारक होता है।

5.10.6 उदरविकार में पथ्याहार :- इस विकार से ग्रस्त व्यक्ति के लिए आयुर्वेद में शाकाहार एवं मांसाहार दोनों प्रकार का आहार ग्रहण करने का विधान मिलता है। *चरकसंहिता*[782] में रोगी के लिए आहार का वर्णन इस प्रकार किया है सभी उदरविकार से ग्रस्त पीड़ितों की अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए सुपाच्य आहार ग्रहण करना चाहिए। पीड़ित मनुष्य को लाल अगहनी का चावल, जौ, मूँग, जंगली पशु-पक्षियों का मांस, दूध, गोमूत्र, आसव, अरिष्ट, मधु, सीधु और सुरा का सेवन करना चाहिए। उसे लघु पञ्चमूल के क्वाथ में पकाए गए तथा अल्पमात्रा में नीम्बू या अनारदाना डालकर खट्टा किए गए, घी एवं कालीमिर्च का चूर्ण, मूँग के यूष या मांसरस के साथ यवागू का आहार देना चाहिए। सुश्रुत भी इस व्याधि के लिए शाकाहार एवं मांसाहार दोनों आहारों को ग्रहण करने के लिए कहते हैं-

"शालिषष्टिकयवगोधूमनीवारान् नित्यमश्नीयात्"॥[783]

---

[782] तस्माद्भोज्यानि भोज्यानि दीपनानि लघूनि च। रक्तशालीन् यवान्मुद्गाञ्जाङ्गलांश्च मृगद्विजान्॥
पयोमूत्रासवारिष्टान्मधुसीधुं तथा सुराम्। यवागूमोदनं वाऽपि यूषैरद्याद् रसैरपि॥
मन्दाम्लस्नेहकटुभिः पञ्चमूलोपसाधितैः। *च०सं०, चि०* 13/97-99

[783] *सु०सं०, चि०* 14/4

अर्थात् रोगी को शालि चावल, साठी के चावल, जौ, गेहूँ और नीवार को भोजन के रूप में ग्रहण करना चाहिए। सुश्रुत[784] ने अन्यत्रस्थान पर कहा है कि सभी प्रकार के उदरविकारियों के आस्थापन, विरेचन, पान तथा आहारविधि क्रियाओं में उबला हुआ दूध तथा जंगली प्राणियों के मांसरस का सेवन करना चाहिए। वाग्भट[785] ने इस विकार से पीड़ित व्यक्ति के लिए चरकोक्त आहार को स्वीकार किया है, उसके अतिरिक्त इन्होंने गन्ने के रस का सेवन करने के लिए भी कहा है। आयुर्वेदज्ञों ने इस विकार का उपचार करते हुए पथ्य आहार के साथ-साथ अपथ्य आहार-विहार का विस्तृतरूप से विवेचन किया है।

चरकसंहिता[786] में वर्णित है कि रोगी को जल-जन्तुओं तथा आनूप देश के जीवों का मांस, पत्ती वाले शाक, चावल के आटे से बने पदार्थ एवं तिलों का सेवन नहीं करना चाहिए। उसके लिए व्यायाम, अधिक पैदल चलना, दिन में सोना वर्जित है। वह गर्म पदार्थ, लवणयुक्त पदार्थ, खट्टे पदार्थ, विदाही पदार्थ, भारी पदार्थ या इन गुणों से युक्त अन्नों का त्याग कर देना चाहिए तथा पीड़ित द्वारा अधिक जल पीना भी छोड़ देना चाहिए। सुश्रुत ने इस विकार में उपरोक्त अपथ्य को स्वीकार किया है **"उदरी तु गुर्वभिष्यन्दिरूक्षविदाहिस्निग्धपिशितपरिषेकावगाहान् परिहरेत्"**[787] अर्थात् रोगी को गुरु, अभिष्यन्दी, रूक्ष, विदाही, स्निग्ध, मेदयुक्त मांस पदार्थों का भोजन तथा स्नान और नदी में तैरना आदि का परित्याग करना चाहिए।

---

[784] आस्थापने चैव विरेचने च पाने तथाऽऽहारविधिक्रियासु। सर्वोदरिभ्यः कुशलैः प्रयोज्यं क्षीरं शृतं जाङ्गलो रसो वा॥ *सु०सं०, चि०* 14/19

[785] *अ०हृ०, चि०* 15/121-124

[786] *च०सं०, चि०* 13/99-101

[787] *सु०सं०, चि०* 14/4

वाग्भट[788] ने इस व्याधि से पीड़ित व्यक्ति के लिए चरकोक्त वर्जित आहार-विहार को स्वीकार किया है तथा इसके अतिरिक्त इन्होंने गुड़-तैल में पकाए गए पूरी एवं मालपुए को भी उदरव्याधि से ग्रस्त रोगी के लिए अहितकर बताया है। इन्होंने इस व्याधि में रोगी को दूध का सेवन बहुत लाभप्रद स्वीकार किया है-

"प्रयोगाणां च सर्वेषामनु क्षीरं प्रयोजयेत्। स्थैर्यकृत्सर्वधातूनां बल्यं दोषानुबन्धहृत्"॥[789]

अर्थात् इस व्याधि में सभी औषधयोगों के साथ अनुपान के रूप में दूध का भी प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि दूध रस-रक्त आदि सभी धातुओं को स्थिरता प्रदान करता है, शरीर के बल में वृद्धि करता है और वातादि दोषों के सम्बन्ध को नष्ट करता है। अतः इस व्याधि में पथ्याहार-विहार का सेवन लाभप्रद होता है तथा जिस आहार-विहार से हानि होती है। वह आहार त्याग देना चाहिए। जो रोगी मांस का सेवन करता है, उसको मांसयुक्त भोजन देना चाहिए।

---

[788] अत्यर्थोष्णाम्ललवणं रूक्षं ग्राहि हिमं गुरु। गुडं तैलकृतं शाकं वारि पानावगाहयोः॥
आयासाध्वदिवास्वप्रयानानि च परित्यजेत्। *अ०हृ०, चि०* 15/125

[789] *अ०हृ०, चि०* 15/131

उपसंहार

आयुर्वेद साहित्य का इतिहास बहुत प्राचीन है। इसे आयुर्वेदज्ञ *अथर्ववेद* का उपवेद स्वीकार करते हैं। वेदों की तरह आयुर्वेद के उपदेष्टा ब्रह्मा को माना जाता है। तदनन्तर दो अश्विनी कुमार, इन्द्रादि देवताओं के क्रमानुसार मानवीय परम्परा का आरम्भ होता है। आयुर्वेदीय संहिताओं में दो मानवीय परम्परा समुपलब्ध होती है एक आत्रेय पुनर्वसु परम्परा एवं द्वितीय धन्वन्तरि परम्परा तथा भास्कर परम्परा, जो कि पुराणों में उपलब्ध होती है। इस प्रकार परम्पराओं द्वारा आयुर्वेद साहित्य का विकास हुआ। महर्षियों ने आयुर्वेद को आठ भागों में विभाजित करके सरल बनाया, जिस पर आचार्यों ने अलग-अलग तन्त्रों की रचना की। परन्तु काल के कराल में ये तन्त्र विलुप्त होने लगे। अतः आचार्यों ने इस विलुप्त होती ज्ञान-परम्परा को संहिताओं में निबद्ध किया, जिसमें सभी आठ अंगों का समावेश किया। तत् पश्चात् इन संहिताओं के दुरुह विषयों को सरलतया समझाने के लिए डल्हण, चक्रदत्त, जेज्जट आदि विद्वानों ने अनेक टीकाओं की रचना की। वृद्ध वाग्भट ने इन संहिताओं के आयुर्वेद परक विषयों को ग्रहण किया एवं दार्शनिक विषयों को त्याग करके *अष्टाङ्गसंग्रह* की रचना की, इस ग्रन्थ पर द्वितीय वाग्भट ने *अष्टाङ्गहृदय* ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में कुछ दुरुह विषय थे, जिन्हें विद्वानों ने अपनी टीकाओं के माध्यम से सरल बनाया। अतः आयुर्वेदशास्त्र में *चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता* एवं *अष्टाङ्गहृदय* ग्रन्थों को बृहत्त्रयी एवं *भावप्रकाश, माधवनिदान* एवं *शाङ्गर्धरसंहिता* ग्रन्थों को लघुत्रयी कहा जाता है।

आयुर्वेदीय ग्रन्थों[790] में शरीर का आधार दोष, धातु एवं मलों को स्वीकार किया गया है। शरीर के आधारस्तम्भों में दोष का उद्भव पञ्चमहाभूतों के द्वारा होता है।

[790] दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्। सु०सं०, सू० 15/3 ; दोषधातुमला मूलं सदा देहस्य। अ०हृ०, सू० 11/1

वातदोष की उत्पत्ति आकाश एवं वायु महाभूत से, पित्तदोष की उत्पत्ति अग्नि एवं जल महाभूत से तथा कफ दोष की उत्पत्ति जल एवं पृथ्वी महाभूत से हुई है। अतः प्रत्येक दोष में दो-दो महाभूतों का समावेश हुआ है।

जब दोष साम्यावस्था में रहते हैं तब शरीर में शक्ति, ओज एवं पाचनकार्य सम्यक् रूप से होता रहता है। लेकिन जब दोष विकृत हो जाते हैं तब शरीर में अनेक विकारों की उत्पत्ति हो जाती है। इन विकारों के उद्भव की छः अवस्थाएँ होती हैं जिन्हें क्रियाकाल कहते हैं। इन छह अवस्थाओं में विकार का संचय, प्रकोप एवं शमन होता है। शरीर में विकार की उत्पत्ति का प्रमुख कारण अनियमित आहार-विहार का सेवन, ऋतु अनुसार जीवन यापन न करना एवं प्राकृतिक दुर्घटनाएँ हैं। त्रिविध दोषों के विकृत होने पर भिन्न-भिन्न विकारों की उत्पत्ति होती है। आयुर्वेदज्ञों ने वातदोष के वैकृत होने पर अस्सी विकार, पित्तदोष के विकृत होने पर चालीस विकार एवं कफ दोष के विकृत होने पर बताए विकारों का उद्भव होता है। जब शरीर में आहार का सम्यक् पाचन होता है तब शरीर पूर्णरूप से स्वस्थ रहता है। उसके सम्यक् पाचन से ही सप्त धातुओं का पोषण हो जाता है। जब सम्यक् पाचन नहीं हो पाता, तब धातुओं में भी विकार आ जाता है। शरीर की शक्ति क्षीण एवं ओज धीरे-धीरे कम हो जाता है। अतः सप्तधातु के सम्यक् रूप से कार्य करने से मनुष्य सभी कार्य स्वस्थ मन से करता है। तत् पश्चात् मल भी अपने कार्य पूर्णरूप से करते हैं, जिनसे शरीर से अपशिष्ट तत्त्व मलों के माध्यम से बाहर निकलते रहते हैं। जब इनमें विकार आ जाता है तब ये मलों को अवरुद्ध कर देते हैं और शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियों की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिए मलों का भी सम्यक् रूप से रहना आवश्यक है।

पित्तदोष की उत्पत्ति अग्नि एवं जलतत्त्व के संयोजन से हुई है। इसमें अग्नि प्रमुख तत्त्व है। यह पित्त शरीर में हृदय से लेकर नाभि के मध्य में विद्यमान होता है। जब शरीर में पित्तदोष[791] आहार-विहार या ऋत्वानुसार विकृत होता है तब सम्पूर्ण शरीर में सन्ताप, नेत्रों में जलन, त्वग्दाह, मुह में दुर्गन्ध, गले का पकना, मुखविपाक, शरीर पर लाल चकत्ते बनना आदि अनेक विकार शरीर में दिखाई देते हैं, जो अनेक व्याधियों में स्पष्टतया देखे जा सकते हैं।

शरीर में किसी व्याधि के उत्पन्न होने से पहले, उसके अनेक लक्षण शरीर में दिखाई देते हैं, जिन्हें आयुर्वेद ग्रन्थों में पञ्चनिदान के माध्यम से बताया गया है। जोकि निदान, पूर्वरूप, रूप, सम्प्राप्ति एवं उपशय-अनुपशय हैं। इनके माध्यम से शरीर में होने वाले विकारों को स्पष्टतया समझा जा सकता है। इसी प्रकार से आयुर्वेदीय साहित्य में ज्वरविकार का सर्वप्रथम विवेचन किया गया है। इसे सभी व्याधियों का राजा स्वीकार किया गया है। *सुश्रुतसंहिता* में प्रतिपादित है-

जन्मादौ निधने चैव प्रायो विशति देहिनम्।

अतः सर्वविकाराणामयं राजा प्रकीर्तितः॥[792]

अर्थात् यह विकार जन्म एवं मृत्यु के समय शरीर में विद्यमान होता है। अतः इसकी स्थिति सर्वदा बताई गई है। इस विकार की उत्पत्ति के विषय में आयुर्वेदीय ग्रन्थों[793] में एक कथा प्राप्त होती है, जिसमें यह वर्णन मिलता है कि भगवान् शंकर ने एक हजार वर्ष तक 'अक्रोध' व्रत किया था। उसी दौरान राक्षसों द्वारा ऋषियों को तंग करना, दक्ष द्वारा किए गए यज्ञ में शंकर का भाग एवं आहुतियाँ न देना, जिसके कारण क्रोधाग्नि की उत्पत्ति शंकर द्वारा की गई एवं क्रोधाग्नि द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि के प्राणियों को जलाना।

---

[791] *सु०सं०, सू०* 6/11

[792] सु०सं०, उ० 39/10

[793] *च०सं०, चि०* 3/15-25 ; *अ०हृ०,नि०* 2/1

उससे पीड़ित होकर ऋषियों द्वारा शंकर की आराधना करना, तत् पश्चात् शंकर ने क्रोधाग्नि को अपथ्य सेवन करने वाले मनुष्यों में प्रविष्ट होने के लिए कहा। अतः क्रोध से ज्वर की उत्पत्ति का अभिप्राय यह है कि शरीर में तैजस् भाव की वृद्धि के कारण ज्वरविकार की उत्पत्ति होती है। चरक ने कहा है कि **"क्रोधात् पित्तम्"**[794] अर्थात् क्रोध से पित्त की वृद्धि होती है। इस प्रकार आयुर्वेदज्ञों ने क्रोध के बढ़ने से ज्वरव्याधि का उद्भव बताया है। आचार्यों ने इस व्याधि के निज-आगन्तुक, धात्वाश्रय एवं विषम ज्वरव्याधि के भेद स्वीकार किए हैं। इस व्याधि के निज भेद में त्रिविध दोषानुसार सात भेद स्वीकृत हैं। उसके बाद ज्वरव्याधि के निदान आदि पञ्चनिदान द्वारा उत्पत्ति कारण बताए हैं। इस क्रम में पित्तदोष के निदान का विवरण किया गया है।

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में रक्तविकार के सन्दर्भ में कहा गया है कि जब शरीर के किसी मार्ग द्वारा 'दुष्ट पित्त' दूषित रक्त के साथ बाहर निकले, उसे रक्तपित्त कहते हैं। चरकसंहिता में वर्णित है कि-

संयोगाद् दूषात्ततु सामान्याद् गन्धवर्णयोः।

रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः॥[795]

इसके कारणों का वर्णन करते हुए, उसके पूर्वरुप, रूप, उपद्रव एवं सम्प्राप्ति द्वारा व्यक्त किया गया है। यह व्याधि अधो एवं ऊर्ध्व मार्ग से बाहर निकलती है। जब यह शरीर में दोनों मार्गों से निकलना प्रारम्भ कर देती है, तब यह असाध्य हो जाती है। तदुपरान्त पाण्डु एवं कामला व्याधि का साथ-साथ विवेचन परिलक्षित है। इसके कारणों में पित्तवर्धक आहार-विहार एवं मिट्टी भक्षण बताया है, यह विकार शरीर में पंचनिदानों द्वारा व्यक्त होता है। कामला व्याधि के कुम्भकामला एवं हलीमक भेदों सहित प्रतिपादित है। इसी प्रकार पैत्तिक दोष के आहार-विहार के सेवन से तृष्णा व्याधि की उत्पत्ति होती है। *सुश्रुतसंहिता* में प्रतिपादित है कि-

---

794 *च०सं, चि०* 3/115

795 *च०सं०, चि०* 4/9

सततं यः पिबेद्वारि न तृप्तिमधिगच्छति।

पुनः काङ्क्षति तोयं च तं तृष्णार्दितमादिशेत्॥[796]

अर्थात् जब मनुष्य लगातार जल पीने के बाद भी तृप्त नहीं होता और जिसे पुनः जल पीने की इच्छा होती है उसे तृष्णाविकार से ग्रस्त मानना चाहिए। इस व्याधि के कारणों का विवेचन पंचनिदानों द्वारा प्रतिपादित होता है। इस व्याधि के भेदों में पैत्तिक तृष्णा का विवेचन किया है। तदुपरान्त ग्रहणी व्याधि का वर्णन किया गया है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इसका वर्णन ग्रहणीविकार एवं अतिसारव्याधि के अन्तर्गत मिलता है। आमाशय एवं पक्वाशय के मध्य में स्थित पित्तधरा कला को ग्रहणी कहते हैं। सुश्रुत ने कहा है "**षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता। पक्वाशयमध्यस्था ग्रहणी सा परिकीर्तिता**"।[797] जब ग्रहणी में विकृति होती है तब आहार का सम्यक् रूप से पाचन नहीं हो पाता, वह अपक्व आहार को स्वतः बाहर निकाल देती है। शरीर में ग्रहणी व्याधि के कारण कुछ समय तक अव्यक्त अवस्था में होते हैं व कुछ समय पश्चात् ये व्यक्त हो जाते है। इस व्याधि में भस्मकविकार का भी किया गया है। इसे आचार्यों ने 'अत्यग्नि' कहा है। जब कफदोष क्षीण हो जाता है, तब वायु के साथ पित्तदोष की वृद्धि होकर जठराग्नि में वृद्धि हो जाती है। इसमें मनुष्य द्वारा खाए हुए अन्न का शीघ्र पाचन हो जाता है तथा धातुओं का भी धीरे-धीरे क्षय प्रारम्भ हो जाता है। इस विकार के कारणों का वर्णन करते हुए, सम्प्राप्ति एवं लक्षणों का विवेचन किया गया है।

तत् पश्चात् शोथविकार का विश्लेषण किया गया है। आचार्यों ने शोथविकार के लिए शोथ, शोफ एवं श्वयथु शब्द का प्रयोग किया है। यह विकार त्वचा, मांस, स्नायु, अस्थि, सन्धि, कोष्ठ एवं मर्म अवयवों के दूषण से उत्पन्न होता है।

---

796 *सु०सं०, उ०* 48/3

797 *सु०सं०*, उ० 40/168

इस विकार को निदानों का वर्णन करते हुए, पूर्वरूप, लक्षण, भेद एवं सम्प्राप्ति द्वारा अभिव्यक्त होता है। वस्तुतः यह विकार अनेक व्याधियों का लक्षण भी है, परन्तु विशिष्ट कारणों द्वारा इसकी उत्पत्ति होती है।

इसके बाद मूर्च्छाव्याधि का वर्णन किया गया है। यह अनेक व्याधियों का भी लक्षण है। परन्तु विशिष्ट कारणों द्वारा इसकी उत्पत्ति होती है। इसके हेतुओं का विवेचन करते हुए, पूर्वरूप, लक्षण, भेद एवं सम्प्राप्ति द्वारा व्यक्त होता है और अन्तिम में उदरविकार का निदानात्मक विवेचन किया गया है। उदरव्याधि का प्रमुख कारण जठराग्नि का मन्द पड़ जाना है। उदरविकार के कारणों का विवेचन करते हुए, इसके पूर्वरूप, लक्षण, भेद एवं सम्प्राप्ति द्वारा व्यक्त किया गया है। इसके भेदों में पैत्तिक उदरविकार के निदान एवं लक्षणों का विवेचन किया गया है।

अग्रिम अध्याय में पित्तजविकार का उपचारात्मक पर्यालोचन किया गया है। सभी विकारों में निदानात्मक आहार-विहारों का परिवर्जन होता है। इसमें सर्वप्रथम ज्वरविकार का उपचारात्मक विवेचन किया गया है। आयुर्वेदज्ञ ज्वरविकार से पीड़ित व्यक्ति के लिए सर्वप्रथम उपवास करने का आदेश देते हैं।[798] परन्तु उस व्यक्ति को उपवास रखने के लिए नहीं कहना चाहिए, जो शारीरिक रूप से दुर्बल हो। इस विकार के उपचार में वमन, विरेचन प्रयोग, यवागू प्रयोग, कषाय प्रयोग, घी एवं दूध का प्रयोग, त्याज्य आहार-विहार, अभ्यंग एवं रक्तावसेक का प्रयोग किया गया है। अतः उपरोक्त प्रयोगों द्वारा ज्वरविकार शान्त हो जाता है एवं रोगी पूर्णरूप से स्वस्थ हो जाता है।

रक्तपित्तविकार की चिकित्सा करते हुए भी सबसे पहले लंघन करने का विधान ग्रन्थों में मिलता है। तत् पश्चात् तर्पण, यवागू, वमन-विरेचन, दुग्ध एवं घृत का सेवन पीड़ित को देने के लिए कहा है। जब रक्तपित्त नाक से निकल रहा हो, उस स्थिति में गन्ने का रस, दूध आदि औषधि डालने के लिए भी कहा है।

---

[798] ज्वरे लंघनमेवादावौ उपदिष्टमृते ज्वरात्। *च०सं०, चि०* 3/139

यदि रक्तपित्त दोनों मार्गों से एवं रोएँ से बाहर निकल रहा हो, उस स्थिति में औषधि देने का कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि उस अवस्था में रोग असाध्य हो जाता है। इसलिए प्रारम्भिक अवस्था में ही लक्षणों को पहचान कर वैद्य को उपचार आरम्भ कर देना चाहिए।

पाण्डुविकार में सर्वप्रथम रोगी को स्नेहन देने के लिए कहा गया है। सुश्रुतसंहिता में इस विकार का उपचार करते हुए कहा गया है कि **साध्यं तु पाण्ड्वामयिनं समीक्ष्य स्निग्धं घृतेनोर्ध्वमधश्च शुद्धम्।**[799] तदुपरान्त रोगी को वमन-विरेचन कराना चाहिए। उसके बाद पीड़ित को गोमूत्र का सेवन करने के लिए देना चाहिए। गोमूत्र का सेवन औषधियों के साथ पीना चाहिए। इस विकार में पीड़ित के शरीर पर औषधियों से निर्मित लेप लगाना चाहिए तथा उसे जल भी बारम्बार पिलाना चाहिए। आचार्यों ने कामला व्याधि में रोगी को घृत का सेवन करने के लिए कहा है। तत् पश्चात् औषधियुक्त चूर्ण का सेवन, स्वरस प्रयोग, अञ्जन प्रयोग एवं पथ्य आहार-विहार करने के लिए कहा है। इसी प्रकार कुम्भकामला एवं हलीमक का उपचार करना चाहिए। अतः उपरोक्त प्रयोगों द्वारा व्याधि का उपचार सम्भव है।

तृष्णाविकार में सर्वप्रथम वर्षा के जल का सेवन करने के लिए कहा गया है। यदि ऋतु अनुसार वर्षाजल न मिले, तब औषधियुक्त जल का सेवन रोगी को करना चाहिए। उसे तृष्णा को शान्त करने वाले पेय एवं भोजन का सेवन करने के लिए देना चाहिए तथा उसके शरीर पर घी का लेप लगाना चाहिए। इस व्याधि में रोगी के शरीर पर चन्दन आदि औषधियुक्त लगाने से भी शान्ति मिलती है, क्योंकि चन्दन का प्राकृत स्वरूप ठण्डक देना है। इसलिए इस व्याधि में ये औषधियाँ बहुत लाभप्रद होती है। इसी प्रकार पैत्तिक तृष्णा, द्वन्द्व तृष्णा एवं संसर्ग तृष्णा का उपचार किया जाता है।

---

[799] *सु०सं०, उ०* 44/14

ग्रहणी विकार की चिकित्सा करते समय सर्वप्रथम बढ़े हुए दोष को शान्त करने के लिए वमन-विरेचन करना चाहिए। रोगी के बल को देखकर, उसे उपवास करवाना चाहिए एवं जो शारीरिक रूप से दुर्बल हो, उसे लघु आहार देना चाहिए। उसके लिए लघु आहार ही उपवास है। पैत्तिक ग्रहणी में चन्दनाद्य युक्त घी एवं चूर्ण का सेवन पीड़ित को करना चाहिए।

जब रोगी भस्मकव्याधि से पीड़ित हो, तब उसे सर्वप्रथम गुरु आहार देना चाहिए। उसे भेड़ के मांस का सेवन करने के लिए देना चाहिए। उसे गोधूम का पान करना चाहिए एवं घी आदि स्नेहों का सेवन करने से इस व्याधि में शान्ति मिलती है। रोगी द्वारा स्त्री के दूध एवं गूलर का सेवन करना चाहिए। लेकिन कुछ आचार्य बकरी एवं ऊँटनी के दूध का प्रयोग करने के लिए कहते हैं। इस प्रकार वैद्य द्वारा बताए गई औषधियों के सेवन से व्याधि का शमन हो जाता है।

शोथविकार का उपचार करते हुए सर्वप्रथम सामान्य उपचार करना चाहिए, तदुपरान्त दोषानुसार रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए। पैत्तिक शोथ व्याधि में रोगी के शरीर पर औषधियुक्त तैल का प्रलेप लगाना चाहिए या औषधियुक्त लेप लगाना चाहिए। उसे पथ्य आहार-विहार का सेवन एवं अपथ्य आहार-विहार का त्याग करना चाहिए। उदरविकार में रोगी को सर्वप्रथम गाय, बकरी या ऊँटनी के दूध का सेवन करना चाहिए। उसके बाद रोगी को घी का सेवन करना चाहिए। तत् पश्चात् उसे वमन या विरेचन कराना चाहिए। जब तक दोष साम्य न हो तब तक बारम्बार घी का सेवन एवं तदुपरान्त विरेचन कराना चाहिए। जिस रोगी को वमन, विरेचन नहीं कराया जा सकता, उसे निरूहण बस्ति देनी चाहिए। पैत्तिक उदरव्याधि[800] से पीड़ित मनुष्य को शर्करायुक्त तक्र का सेवन करना चाहिए, इसके सेवन करने से पीड़ित को बहुत लाभ होता है। उसे पथ्य आहार-विहार का सेवन करना चाहिए। इस प्रकार वैद्य द्वारा किया गया उपचार शीघ्र ही विकार का शमन कर देता है एवं रोगी पूर्णतः स्वस्थ हो जाता है।

---

[800] शर्करामधुकोपेतं स्वादु पित्तोदरी पिबेत्। *च०सं०, चि०* 13/103

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में आयुर्वेद साहित्य का प्रकाश समस्त जगत् में परिलक्षित होता है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों का मौलिक अनुसंधान मानव जीवन को सरल व सहज प्रेरणा प्रदान करता है। यह प्रेरणा मनुष्य को निरोगी बनाकर शतायु जीवन आहार स्वरूप भेंट करती है। मानव जीवन में पदे-२ आयुर्वेद साहित्य ज्ञान-परम्परा का प्रकाशन सहज रूप परिलक्षित होता है।

आयुर्वेद में शरीर को निरोगी रखने के लिए दैनिक दिनचर्या एवं भोजन व्यवस्था का समयानुसार व्याख्यायित किया गया है। इसमें ऋतु के अनुसार आहार ग्रहण करने, विहार करने का विधान है। मानव के शरीर में मुख्यरूप से वात-पित्त-कफ त्रिविध प्रकार के दोष होते हैं। इन त्रिविधदोषों से विकृत विकारों का उपचार प्राचीन आयुर्वेदिक ऋषि परम्परा द्वारा सहज एवं सहज तथा स्पष्टरूप में किया गया है। इनके सन्दर्भ में प्रत्येक मानव को ज्ञान होना अत्यावश्यक है। इस लक्ष्य को केन्द्र में रखकर प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में '**आयुर्वेदसम्मत पित्तविकार का पर्यालोचनात्मक अध्ययन**' शीर्षक को चयनित करके विश्लेषणात्मक, व्याख्यात्मक, विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक का प्रयोग करते हुए शोधप्रबन्ध को प्रबन्धित किया है।

वर्तमान सन्दर्भ यह शोधप्रबन्ध आयुर्वेद प्रेमियों, शोधच्छात्रों एवं पाठको को आयुर्वेदसम्मत पित्तविकार का मौलिक चिन्तन प्रदान करते हुए प्ररेणा प्रदान में सहायक सिद्ध होगा। अतः निष्कर्ष रूप में आयुर्वेद का लक्ष्य स्वयं सिद्ध होता है कि-

प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।

स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना एवं व्याधि से ग्रस्त मनुष्य की व्याधि का शमन करना ही आयुर्वेद का प्रयोजन है।

आयुर्वेदिक पारिभाषिक शब्दावली

अजीर्ण- भोजन का सम्यक् रूप से न पचना। (च०सू० 5/39)

अनुपान- अन्नादनुपश्चात् पीयत इत्यनुपानम् अर्थात् भोजन के पश्चात् पीया जाने वाला द्रव, जो मुख्य औषधि की क्रिया को बढ़ाने के लिए दिया जाता है। (च०सू० 46/419)

अरुचि- अरुचिरत्र सत्यभिलाषे अभ्यवहारासामर्थ्यमिति भेदःअर्थात् भूख होने पर भी भोजन करने की इच्छा न होना। (म०को०-मा०नि० 2/13)

अवलेह- क्वाथादीनां पुनः पाकाद् घनत्वं सा रसक्रिया। सोऽवलेहश्च लेहः स्यात्तन्मात्रा स्यात्पलोन्मिता अर्थात् क्वाथ आदि को पुनः पका कर उसको घन बनाकर जो कल्पना बनती है, वह रसक्रिया है, यही अवलेह होता है, इसकी मात्रा 'पल' है। (शा०सं०म०ख० 8/1)

अवपीडक- अवपीडको बहुमात्रः प्रयोगः, मात्राधिकत्वेन हि भेषजं दोषान् पीडयनीति कृत्वा अर्थात् अधिक मात्रा में औषधि का प्रयोग, बहुमात्रा में प्रयुक्त स्नेह औषध दोषों को पीड़ित करके दूर करती है। (चक्र०-च०सू० 7/7)

उदर्द- उदर्दो वरटीष्टाकारः शोथः अर्थात् बर्रे के दंश के आकार का शोथ उदर्द कहलाता है। (चक्र०-च०सू० 4/8)

कल्क- द्रव्यमार्द्रं शिलापिष्टं शुष्कं वा सजलं भवेत्। प्रक्षेपावापकल्कास्ते तन्मानं कर्षसंमितम् अर्थात् शुष्क द्रव्य में जल मिलाकर उसको किसी शिला के ऊपर पीसकर निर्मित करना कल्क कहलाती है। (शा०सं०म० 5/1)

क्वाथ- पानीयं षोडशगुणं क्षुण्णं द्रव्यपले क्षिपेत्। मृत्पात्रे क्वाथयेद ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम्। तज्जलं पाययेद् धीमान्कोष्णं साधितं श्रृतः क्वाथ कषायश्च निर्यूहः स निगद्यते। अर्थात् एक पल द्रव्य में 16 गुणा पानी डालकर मंदाग्नि में पाक करें, आठवां भाग शेष रहने पर इसे उतार लें, तदुपरान्त इसे छानकर कुछ कोष्ण क्वाथ का सेवन करना चाहिए। इस परिपक्व जल का नाम श्रृत, क्वाथ, कषाय, निर्यूह है। (शा०सं०म० 2/12)

क्लेद- क्लिद् आर्द्रतायां शरीरस्थ द्रव, द्रव्यविशेषः, क्लेदः शैथिल्यमापादयति अर्थात् गीलापन, आर्द्रता। (वाच०-च०सू० 26/43-3, च०शा० 6/15)

कुक्षि- कुक्षीगते इति कुक्ष्येकदेशगतगर्भाशय गते अर्थात् गर्भाशय, उदर के निम्न भाग को कुक्षि कहते हैं। (चक्र०- च०शा० 4/5)

तर्पण- तर्पयतीतितर्पणम् अर्थात् जो शरीर को तृप्त (प्रसन्न) करता है वह तर्पण करता है। (चक्र०-च०सू० 7/21)

पचन- पचनमाहारादिपाकः अर्थात् जठराग्नि संयोग से आहार का पाचन। (ड०-सु०सू०41/4-3)

पक्ति- जठराग्नि, पाचन। (च०चि० 3/130)

प्रशम- प्रकर्षेणशमनम् अर्थात् सतत शान्ति। (च०सू० 17/114)

प्राणाभिसर- प्राणान् गच्छतो व्यावर्तयतीति प्राणाभिसरः अर्थात् जो उपचारक जाते हुए प्राणों को वापस ले आता है, उसे प्राणाभिसर कहते हैं। (चक्र०-च०सू० 9/18)

भक्ष्य- फलमांसवसाशाकपलक्षौद्रसंस्कृताः अर्थात् भोजन योग्य। (च०सू० 27/268)

यवागू- साधयेद् द्रवमिति यथा नातिसान्द्रा भवतीत्यर्थः। एषा यवागूः अर्थात् एक प्रकार का द्रव पदार्थ से निर्मित चावल युक्त भोज्य पदार्थ, जो अधिक गाढ़ा न हो। (ड-सु०उ० 40/92)

यूष- कल्कद्रव्यपलं शुण्ठी पिप्पली चार्धकार्षिकी, वारिप्रस्थेन विपचेत् स द्रवो यूष उच्यते अर्थात् एक पल कल्क द्रव्य, अर्ध कर्ष शुण्ठी, पिप्पली एवं एक प्रस्थ जल में बनाया गया द्रव, यूष कहलाता है। (शा०सं०म० 2/154)

लंघन- यत् किंचित् लाघवकरं देहे तत् लङ्घनं स्मृतम् अर्थात् जो शरीर में लघुता उत्पन्न करता है, उस उपक्रम को लङ्घन कहते हैं। (च०सू० 22/9)

लेह्य- कण्डूविद्रधि पालिशोष परिपोटोत्पातले ह्यार्बुदाः अर्थात् कर्णपाली रोग, परिलेही, कफ, रक्त के प्रकोप से कर्णपाली के मांस से चाटना और पाली का नष्ट हो जाना है। (र०र०स० 4/1)

वमन- यदूर्ध्व भागेन मुखेन दोषहरणं करोति अर्थात् चिकित्सा का वह प्रकार, जिसमें मुख से दोषों का हरण किया जाता है। (च०क० 1/4)

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

प्राथमिक स्त्रोत :-

अथर्ववेदसंहिता विधान, केशव देव शास्त्री एवं अजय कुमार मुद्गल, लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, 1988.

अष्टांगसंग्रहः, अत्रिदेव गुप्त (व्या.), कृष्ण अकादमी,वाराणसी, वि.सं. 2050.

अष्टांगसंग्रहम् (विद्योतनी टीका), अत्रिदेव गुप्त (व्या.), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, वि. सं. : 2048.

अष्टाङ्गहृदयम्, हरिशास्त्रिणा भिषगाचार्यः, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, वि.सं. 2039.

अष्टाङ्गहृदयम् (निर्मला हिन्दी व्याख्यासहित), ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2015.

अष्टांगहृदयसंहिता (शशिलेखा व्याख्या), इन्दु (व्या.), कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2007.

अष्टांगहृदयम् (सर्वांगसुन्दराख्यया व्याख्यया, आयुर्वेदरसायनाह्वया टीकया च), भिषगाचार्येण, हरिशास्त्रिणा, निर्णयसागराख्यमुद्रणयन्त्रालये मुद्रापयित्वा, शक. 1860.

ऋग्वेद, कम्बोज, जियालाल, विद्यानिधि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004.

ऋग्वेदभाष्य, सिद्धालंकार, हरिशरण, भगवती प्रकाशन, दिल्ली, 1997.

काश्यपसंहिता (विद्योतनी हिन्दी टीका सहित), सत्यपाल भिषगाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस (उत्तर प्रदेश), 1953.

चरकसंहिता (आयुर्वेददीपिका), काशीनाथ शास्त्री (हि.व्या.), सं. गंगासहायपाण्डेय, चौखम्बा संस्थान संस्थान, वाराणसी (उत्तर प्रदेश), वि.सं. : 2027.

चरकसंहिता (आयुर्वेददीपिका टीकाख्या), सेनगुप्तेन, नरेन्द्रनाथ एवं बलाइचन्द्र सेनगुप्त, कलिकातानगर्य्यां, कलुटोलभ्यन्तरीणसप्ततिसंख्यकभवनस्थधन्वन्तरि, इलेक्ट्रिक-मेशिनयन्त्रे श्रीरंगलालमित्रेण मुद्रिता, शक. 1850.

चक्रदत्तः, चक्रपाणि, गंगाविष्णु कृष्णदास, मालिक 'लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर' स्टीम-प्रेस, कल्याण बम्बई, सं. 1998.

चरकसंहिता (दो भाग), शुक्ल, विद्याधर *एवं* रविदत्त त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2015.

भावप्रकाशः (विद्योतनी टीका सहित), ब्रह्मशंकरमिश्र शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी, वि.सं. 2073.

भैषज्यरत्नावली (विद्योतिनी टीका), गोविन्द दास, अम्बिकादत्तशास्त्री (व्या.), चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1997.

माधवनिदानम्, सुदर्शन शास्त्री (व्या.), चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि.सं : 2041.

माधवनिदानम्, अनन्तराम शर्मा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, 2007.

माधवनिदानम् (रोगविनिश्चयापरनामकम्), सुषमा कुलश्रेष्ठ (व्या.), ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2004.

माधवनिदानम् (मधुकोश विजय रक्षित (व्या.) एवं श्रीकान्तदत्त), नरेन्द्रनाथ शास्त्री (व्या.), मोतीलाल बनारसीदास, 1971.

सुश्रुतसंहिता, अत्रिदेव (अनु.), मोतीलाल बनारसी दास, 1975.

सुश्रुतसंहिता (सुश्रुतविमर्शनी हिन्दीव्याख्या) (तीन भाग), अनन्तराम शर्मा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2017.

सुश्रुतसंहिता शारीर स्थान आयुर्वेदरहस्य दीपिकाख्या, गोविन्द घाणोकर (व्या.), मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1975.

सुश्रुतसंहिता (निबन्धसंग्रहटीका), त्रिकुम, आचार्य जादव, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1915.

शाङ्गर्धरसंहिता (दीपिका तथा गूढार्थदीपिका टीका सम्मिलित), परशुराम शास्त्री विद्यासागर (सं.), चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वि.सं. : 2042.

शाङ्गर्धरसंहिता, त्रिपाठी, ब्रह्मानन्द (व्या.), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2015.

रसेन्द्रसारसंग्रहः (सत्यार्थप्रकाशिका टीका सहित), सत्यार्थ प्रकाश (व्या.), कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1992.

रसरत्नसमुञ्चयः, अम्बिकादत्त शास्त्री (व्या.), चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1961.

द्वितीयक स्त्रोत (क) :-

आयुर्वेद मुक्तावली, अरावली प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, प्रा०लि० ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली, 2015

उपाध्याय, गोविन्द प्रसाद, *रोग-रोगी परीक्षा पद्धति*, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2008.

कस्तुरे, हरिदास श्रीधरे, *आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान*, श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड, नैनी, इलाहाबाद, 2014.

गौड, शिवकुमार, *अभिनवशरीर क्रिया विज्ञान*, नाथ पुस्तक भण्डार, रोहतक।

गौड, बनवारी लाल, *आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान*, आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान, जयपुर, 1985.

गौड, शिवकुमार, *स्वस्थवृत्तम्*, नाथ पुस्तक भण्डार, रोहतक।

भारद्वाज, शीतांशु, *रोग और उपचार*, पराग प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007.

जैन, पूर्णचन्द एवं प्रमोद मालवीय, *आयुर्वेदीय क्रियाशरीर*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2016.

मिश्र, सुरेश नाथ, *आयुर्वेद की पेटेन्ट औषधियाँ*, कृष्ण दास अकादमी, वाराणसी, 1999.

मिश्र, तारा शंकर (व्या.), *स्वास्थ्यवृत्तसमुच्चय*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 1985.

सिंह, रामहर्ष, *आयुर्वेदीयनिदान चिकित्सा के सिद्धान्त*, चौखम्बा अमरभारती, वाराणसी, 1983.

देव, अत्रि, *चरकसंहिता का अनुशीलन*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी,1955.

सिंह, रामहर्ष, *कायचिकित्सा*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2009.

सिंह, रामहर्ष, *स्वस्थवृत्त विज्ञान*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2015.

सिंह, रामहर्ष, योग एवं यौगिक चिकित्सा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2014.

शर्मा, प्रियव्रत, *आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास*, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2003.

शर्मा, अजयकुमार, *कायचिकित्सा* (1-4), चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 2011.

शाह, नगीनदास छगनलाल, *भारत-भैषज्य-रत्नाकरः* (१-४ भाग), *आयुर्वैदिक फार्मेसी*, ऊंझा, 1934.

राय, हेमन्त कुमार, *आयुर्वेद परिचय*, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2004.

वैद्य, सी०वी०, *वैदिक वांगमय का इतिहास*, परिमल पब्लिकेशन्स, शक्ति नगर, नई दिल्ली, 2004.

द्वितीयक स्त्रोत (ख) :-

मत्स्यपुराण, गीता प्रेस गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, 2008.

महाभारत, शास्त्री, रामनारायण दत्त, गीता प्रेस गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, 1980.

मनुस्मृति, कुमार, सुरेन्द्र, साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 2000.

हरिवंशपुराण, गीता प्रेस गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, 2006

ब्रह्मवैवर्तपुराण, गीता प्रेस गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, 2012

वेदान्तसार, सदानन्द योगी, पं० रामस्वरूप, श्रीवेंकटेश्वर मुद्रणालये मुद्रयित्वा, सं. 1957.

शब्दकोश एवं विश्वकोश :-

आयुर्वेदीय महाकोशः, जोशी, वेणीमाधवशास्त्री एवं नारायण हरि जोशी, लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1968.

आयुर्वेदीय-कोष, वैद्य, बाबू रामजीत सिंह एवं बाबू दलजीत सिंह वैद्य, हरिहर प्रेस, इटावा, उत्तरप्रदेश, 1934.

आयुर्वेद परिभाषा कोश, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली, 2016.

अग्रेंजी-हिन्दी कोश, बुल्के, कामिल, एस. चन्द एण्ड कम्पनी, रामनगर, दिल्ली, 2004.

अमरकोशः, सिंह, अमर, *निर्णयसागर* प्रेस, बम्बई, 1961.

मेदिनीकोशः, मेदिनिकरनिर्मितः, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, बनारस, 1940.

संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे, वामन शिवराम, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2002.

शब्दकल्पद्रुम (पाँच भाग), बाच्छादुरेण, राजा राधाकान्तदेव, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2004.

पुस्तकालय :-

भारतरत्न डॉ० भीमराव अम्बेडकर पुस्तकालय, जनेवि०, नई दिल्ली।

केन्द्रीय पुस्तकालय, संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान, जनेवि०, नई दिल्ली।

केन्द्रीय पुस्तकालय, राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

सयाजी राव गायकवाड़ पुस्तकालय, बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय, बनारस, उत्तर प्रदेश।

केन्द्रीय पुस्तकालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, बनारस, उत्तर प्रदेश।

जवाहरलाल नेहरू पुस्तकालय, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र, हरियाणा।

महा महोपाध्याय पद्मश्री डॉ० मंडन मिश्र पुस्तकालय, श्री लालबहादुर शास्त्री

राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

विवेकानन्द पुस्तकालय, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा।

ए०सी०जोशी पुस्तकालय, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़।